प्राग्वचन

किसी बृहद्देश में नियम होता है कि वहाँ की मध्यदेशीय भापा सार्वदेशिक भापा के रूप में व्यवहृत होती है। मध्यदेश वस्तुत हृदय होता है। उससे सबका व्यवहार अनिवार्य होता है। यही कारण है कि भारतवर्प में, चाहे भापा के विकास का जो सोपान रहा हो, मध्यदेशीया भापा सार्वजनीन व्यवहार के लिए काम में लाई जाती रही। सार्वजनीन व्यवहार का रूप साहित्य या काव्य में उसके प्रयोग से स्पष्ट होता है। 'वार्ता' या सलाप में तो एक प्रदेश का जन दूसरे प्रदेश के जन से कुछ अपनी बोली भी कह लेता है, पर साहित्य या काव्य का प्रयोजन बोली से नही, भापा से सिद्ध होता है। सस्कृत के सोपान पर मध्य की भापा तो भापा ही कहलाती रही, पर वैयाकरणो ने उसके उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम की भापा को विभापा नाम देकर उसके प्रयोग-वैभिन्न्य का उल्लेख किया। प्राकृत सोपान पर मध्य की शौरसेनी का काव्य के लिए सरलीकृत रूप महाराष्ट्री के नाम से अभिहित हुआ। इसका नाम ही उसके विशाल राष्ट्र म प्रयोग की साखी भर रहा है। महाराष्ट्र की भापा का केंद्रीय आधार शौरसेनी का था। उच्चारण-सौकर्य उसमें अधिक लाया गया। यह स्मरण रखने की बात है कि सार्वजनीन प्रयोग या विनियोग से भापा सरलीकृत होती ही है। अपभ्रश के सोपान पर भापाओ की विविधता अनेक रूपो में प्रस्फुटित हुई, पर सर्वग्राह्य नागर अपभ्रश मध्यदेशीय था। सस्कृत के सोपान पर मध्य से ही भापा के अन्य स्वरूपो या विभापाओ का निर्धारण होता था, उत्तर दक्षिण, पूर्व-पश्चिम मध्य के ही सबध से माने गए थे। किन्तु प्राकृत सोपान पर भूभाग के नाम की स्पृहा बलवती हो गई, पर सख्याधिक्य नही हुआ। अपभ्रश के सोपान पर सख्या २७ तक पहुँच गई। देश्य-सोपान पर यह सख्या बहुत हो गई, पर सार्वदेशिक रूप के लिए मध्यदेशी भापा ही ली गई। शौरसेनी देश्य या नागर देश्य या ब्रजभापा के सर्वत्र फैल जाने का कारण ऐतिहासिक है। खडीबोली का उद्भव भी नागर अपभ्रश स ही हुआ है। वह 'नागरी' भापा है और नागरी लिपि में लिखी जाती है। खडीबोली का ब्रजभापा से नैकट्य है। उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति ब्रजी से मेल खाती है। यदि ऐसा न होता, तो ब्रजभापा के रहते खडीबोली का ग्रहण पहले गद्य में फिर पद्य में सरलता स न होता। अवधी का ग्रहण वैसा व्यापक नही हुआ। इसका कारण मागधी की ओर उसका अधिक झुकाव जान पडता है। हिन्दी होने के लिए शौरसेनी की ओर अधिक झुकाव अनिवार्य है।

नागर और नागरी शब्दों का संबंध गुजराती नागरों से जोड़ा जाता रहा है। यह सर्वमान्य भले ही न हो, पर संबंध जोड़ने में कुछ आधारभूमि तो होती ही है। गुर्जर अपभ्रंश भी शौरसेनी से ही विकसित हुआ है। देश्य सोपान पर विभेद हो जाने से कभी जो कोई रचना एक भाषा की और वही कभी दूसरी भाषा की भी मानी जाती है उसका हेतु यही है। मूल एक होने से एक ही रचना पर दो भाषा वाले अपना-अपना दावा पेश किया करते हैं। मैथिलकोकिल विद्यापति की रचना को बंगाली भाइयों ने अपना घोषित किया और राजस्थानी कोकिला मीराबाई के गीतों का गुजराती के अंतर्गत करने वाले भाई भी हैं। गुजराती और राजस्थानी का मूल उभयनिष्ठ है। पर हिन्दी वाले भी विद्यापति को अपना कवि स्वीकारते हैं और मीरा को भी अपना कहते हैं। कौन-सा ऐसा तत्व है जो इन दोनों को हिन्दी का कवि कहने वालों के मानस में है?—वह है शौरसेनी तत्व, अथवा देश्य सोपान पर आकर कहें तो व्रजी-तत्व। जहाँ व्रजी-तत्व कुछ भी होगा, उसकी रचना भी होगी उसे हिन्दीवाले हिन्दी में रखेंगे। जहाँ यह न होगी उसे न लेंगे। अन्य मैथिली कवि हिन्दी में नहीं लिये गए, क्यों? उनमें व्रजी की रचना नहीं है। मैथिलीवाले या बँगलावाले व्रजी की रचना करते हैं, पर व्रजी में पृथक् से रचना करने की व्यापक प्रवृत्ति से संपृक्त नहीं हुए। इसका कारण यही है कि उनकी भाषा का उत्स मागधी है, शौरसेनी नहीं। जिनकी भाषा का उत्स शौरसेनी है, वे व्रजी में रचना पृथक् से करते हैं, प्रभूत परिमाण में करते हैं। राजस्थानी और गुजराती कवियों की व्रजी रचना में निमित्त यही प्रतीत होता है। श्री दयाराम ने गुजराती में सौ रचनाएँ कीं, तो व्रजी में लगभग उसकी आधी रचनाएँ कीं।

यह विचार भाषा की दृष्टि से किया गया। अब साहित्य की दृष्टि से देखें। भारत की साहित्य-भारती एक ही है। केवल अरबी-फारसी विदेशी भाषाओं की प्रकृति और प्रवृत्ति का अनुगमन करने के कारण उर्दू इस एकता में नहीं मिली। भाषा-संघटन की दृष्टि से उर्दू हिन्दी की प्रणाली ही कही जा सकती है, पर विदेशी भाषाओं की मुखापेक्षिता से उसे साहित्यगत प्रवृत्ति के लिए भी उन्हीं की किंकरी होना पड़ा। भारत के संविधान में राष्ट्र की भाषाओं की सूची में उसका ग्रहण भारतीयता के नाते नहीं है, भारत की धर्मनिरपेक्षता, भाषानिरपेक्षता के नाते है। एकता में अनेकता के ग्रहण के नाते है। अन्यथा साहित्य के नाते भारती की प्रवृत्ति अखंड है। भाषा-विज्ञान कहता है कि द्राविड़ भाषाएँ अनार्य भाषाएँ हैं, पर उनकी साहित्यिक प्रवृत्ति आर्यप्रवृत्ति या भारतीय प्रवृत्ति है। साहित्य की दृष्टि से कोई भेद कहीं नहीं। गुजराती और व्रजी की

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इसी से एक हैं। पर अतीत काल में ब्रजी में साहित्य-विषयक दृष्टि से कुछ वैशिष्ट्य भी है। हिन्दी के मध्यकाल में रीतिकाल की जैसी प्रवृत्तियाँ हैं और जिस परिमाण में हैं, वैसी और उस परिमाण में प्रवृत्तियाँ किसी भारतीय भाषा में नही दिखाई देती। हिन्दी साहित्य की मध्यकालीन भक्ति-विषयक प्रवृत्तियाँ और आधुनिक युगीन नवीन प्रवृत्तियाँ प्राय सर्वत्र हैं, पर रीतिकालीन वैसी प्रवृत्तियाँ नही है। क्यो ?

यह तो सभी जानते हैं कि प्राचीनकाल में अमरभारती (सस्कृत) ही भारत-भारती थी। साहित्यिक प्रवृत्तियो का नियमन एवम् अपेक्षित की पूर्ति उसी को करनी पडती थी। साहित्य के लक्षणग्रथ उसी को देने पडते थे। प्राकृत के साहित्यारूढ या काव्यारूढ हो जाने पर भी प्राकृत में लक्षणग्रथ लिखने की प्रवृत्ति क्यो नही हुई ? इसी से कि प्राकृतवाले सस्कृत में ही उसे पढ लेते थे। अपभ्रश के साहित्यारूढ होने पर जैन कवि स्वयभू ने एक ग्रथ अवश्य लिखा, क्योंकि जैन सस्कृत से दूर पड रहे थे। अन्यो की प्रयोजनसिद्धि सस्कृत के आकर-ग्रथो से ही होती थी, पर देश्य भाषा के सोपान पर सस्कृत दूर पड गई। इसी से देश्य भाषा में लक्षण-ग्रथा के लिखने की तीव्रतम अपेक्षा थी। इस तीव्रतम अपेक्षा को समझने के लिए वर्तमान हिंदी-साहित्य तक एकबारगी आ जाने की आवश्यकता है। वर्तमान युग में हिंदी में एक-से-एक बढकर मनीषी हुए हैं और हैं, पर जब तक सस्कृत के साहित्य विषयक आकर-ग्रथो का हिंदी उल्था नहीं किया गया तब तक आचार्यों की परपरा में आसन जमानेवालो का पता नही था, पर ज्यो ही इनका उल्था हो गया, प्रत्येक अचल में आचार्यों की बाढ आ गई। पर यदि अनुवाद में किसी साहित्यिक विवाद के विषय में विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन नही है तो ये आचार्यमन्य भी धोखा खा जाते है। पठन-पाठन, समीक्षा-शोध के इस समृद्ध और सवृद्ध युग में भी हिंदीवाला सस्कृत-साहित्य का चितन-मनन मूल में क्यो नही करता या कर पाता ? केवटके उत्तर है कि सस्कृत का प्रवाह से दूर पड जाना ही निमित्त है। उधर सस्कृतवाले जो मूल में ही आलोडन-मनन करने में समर्थ हैं, सस्कृत का मैदान छोडकर डिंडिमघोष करते या करवाने हिंदी में आ रहे हैं। केवल सस्कृत से उनका भी काम नहीं चल रहा है। सस्कृत का प्रयोग और विनियोग सस्कृत के लिए सप्रति उतना वाछित नही है जितना हिंदी के लिए। अस्तु।

जो कार्य कभी सस्कृत करती थी, अमरभारती होकर भी जो भारत-भारती थी, वही कार्य मध्यकाल में हिंदी को करना था। भारतीय चितन प्रवाह को प्रवहमान रखने के लिए ब्रजी में लक्षणग्रथा के प्रस्तुत करने की अनिवार्यता थी।

यह भले ही कह लिया जाए कि रीतिकाल के लक्षणग्रथकार आचार्य नही थे, वे काव्यकवि थे। पर यह कहे बिना नही रहा जाता कि सप्रति हिंदी में जितने लक्षणग्रथ लिखे गए हैं या साहित्य के विभिन्न मतो पर जो विवेचना प्रस्तुत की गई है, उससे भी कोई आचार्यपद का अधिकारी उस प्रकार नही है जिस प्रकार आचार्यपाद अभिनवगुप्त, कुतक, मम्मट, पडितराज आदि थे। रीतिकाल के रचयिता जिस दृष्टि से काव्यकवि कहे जाते हैं उस दृष्टि से इन्हें टीका-टिप्पणीकार ही कह सकते हैं, आधुनिक शब्दो मे कोरे समीक्षक। किसी के सबध में मनमाना कुछ कह देने के लिए कोई भी स्वतत्र है, पर विचारपूर्वक प्रवृत्त होने से किसी के सबध में कुत्सा या अतिप्रशस्ति सहज ही नही की जा सकती। लक्षणग्रथकारो का प्रयोजन विशुद्ध काव्य का निर्माण नही था। वे साहित्यसरणि के बोध के लिए अपने ग्रथ निश्चय ही लिख रहे थे। यही उनका उद्देश्य था। उनका काव्य या लक्ष्य (उदाहरण) उत्तम इसलिए हो गया कि पूर्ववर्ती ग्रथों के अनुशीलन से उनका मनमुकुर विशद या स्वच्छ हो गया था। उन्होने उदाहरण अपने ही क्यो दिए, इसका भी कारण स्पष्ट है। लक्ष्यग्रथ अधिक उनसे पूर्व हिंदी में थे नहीं। साहित्यिक प्रयोजन से वे भक्तिकाव्य की ओर देखते थे तो उनकी मन कामना पूर्ण नही होती थी। उदाहरण लक्षणानुयायी मिल नही पाते थे। आदि-आदि।

दूसरी प्रवृत्ति रीतिकाल में थी लक्षणानुयायी लक्ष्यो का निर्माण करना। इसके आदर्श कवि थे बिहारी। इन्होंने भी उसी प्रयोजन की सिद्धि दूसरे प्रकार से की। हिंदी में लक्षणग्रथकारो को उदाहरण नही मिलते थे। बिहारी ने उदाहरण के रूप में सतसैया ही प्रस्तुत कर दी। पर उनके उदाहरण परवर्ती आचार्यों में से उन्ही ने कुछ लिए जो छोटे छदो में उदाहरण देना पसद करते थे। उधर नाद-सौंदर्य पर मुग्ध रीतिकाल कवित्त-सवैयो को अधिक पसद करता था। यदि बिहारी की भाँति केवल उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कवि कवित्त-सवैयो का अवलबन करते, तो निश्चय ही लक्ष्यग्रथो से उदाहरण चुनने की प्रवृत्ति विशेष जगती। पर जो कवि कवित्त-सवैये लिखने में प्रवृत्त हुए उन्होने स्वच्छदतावादी वृत्ति अपनाई, रीति से मुक्त हो गए वे। अन्यथा हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य दूसरों से उदाहरण लेकर वास्तविक आचार्यकर्म में प्रवृत्ति होने से एकदम विमुख न होते। बिहारी या अन्य सतसैयाकारो ने उदाहरण प्रस्तुत करते समय ऐसी रचना नहीं की जिसे चित्रकाव्य कहते हैं, पर दयाराम ने अपनी सतसतई में चित्रकाव्य की भी रचना की है। चित्रकाव्य के उदाहरण जहाँ सस्कृत में भी दिए गए हैं वहाँ लक्षण-निर्माता को ही स्वत प्रयास करना पडा है या फिर

उदाहरण दिए ही नही गए हैं। पर दयाराम ने इस अभाव की भी पूर्ति करने का प्रयास किया है। उनके चित्रकाव्य को दृष्टिपथ में रखकर कोई समीचक यही सोचेगा कि ये पांडित्य-प्रदर्शन के लिए ऐसा कर रहे हैं।

सतसई की परपरा मूलत धार्मिक मानी जाए या साहित्यिक इस विवाद में पडने की आवश्यकता नही। हिन्दी में रहीम और तुलसी के नाम पर सतसई की चर्चा है अवश्य, पर रहीम सतसई मिलती नही और तुलसी सतसई जो सामने आई है वह परवर्ती रचना है। उसमें चमत्कार की जैसी प्रवृत्ति है वह रीतिकालीन प्रभाव है। बिहारी सतसई के अनतर ही उसका निर्माण माना जा सकता है। इस प्रकार बिहारी की सतसैया हिन्दी मे साहित्यिक और उसमें भी शृगारी सतसइयो का आदर्श है। उनकी सतसैया मे शृगार, नीति और भक्ति तीनो की उक्तियाँ हैं। चाहे अनुगमन ज्यो का त्यो न हो, फिर भी इस त्रिवेणी का हेतु और आदर्श भर्तृहरि के तीनो शतक ही प्रतीत होते हैं। उनके तीनो शतक शृगार, नीति और वैराग्य के हैं। भक्ति और वैराग्य की एकवाक्यता है। भर्तृहरि की रचना में तीनो समतुल्य है, परिमाण की दृष्टि से। हिन्दी में सतसैयाँ अधिकतर शृगारप्रधान हैं। उनमे भक्ति और नीति की उक्तियाँ बहुत थोडी रहती हैं। बिहारी की भक्ति की उक्तियाँ दूसरे प्रकार की है और दयाराम की दूसरे प्रकार की। यो तो बिहारी भी निंबार्क सम्प्रदाय मे दीक्षित थे, पर उनकी रचना मे उक्तिवैचित्र्य की ओर झुकाव अधिक है।

वर्तनी के विषय मे इतना ही कहा जा सकता है कि व्रज से दूर रहनेवाले की रचना में मातृभाषा के उच्चारण का पुट रहता था, तदनुरूप उच्चारण की प्रवृत्ति है, जो सहज होती है। जैसे 'वृन्दावन' का उच्चारण व्रजी म 'त्रि दावन' होता है और गुजराती में 'व्रन्दावन'। व्रजी की इस प्रवृत्ति का परिणाम यह है कि जहाँ 'ऋ' स्वर मूलत नही है वहाँ भी उसका उच्चारण और लेखन होता है। 'व्रजनदन' का उच्चारण वहाँ 'व्रिजनदन' हो गया और 'वृजनंदन' लिखा जाने लगा। यही स्थिति अन्य स्वरो के उच्चारण में भी है। व्रजी में 'ओ' का उच्चारण 'औ' और 'ओ' के मध्य होता है। इसी से कोई 'ओ' से काम लेते है तो कोई 'औ' से। गुजराती में 'ओ' उच्चारण ही है और विशेपता यह है कि अनुनासिकता भी रहती है। इसलिए वहाँ 'बसौ' के लिए 'वसों' लिखा मिलेगा। इससे भ्रम होने की सभावना है—'वसूँ' के अर्थ की ओर ध्यान जाता है। वस्तुत 'चित्त का चोर' या 'चित्त को चोर' के बदले वहाँ 'चित्त कों चोर' लिखा या बोला जाता रहा, इसलिए 'को' में द्वितीया या चतुर्थी की विभक्ति का भ्रम होने लगता है। यही स्थिति 'ऐ' या 'अै' की है। 'छैल' वहाँ 'छॅल',

'हृदे' 'हृदें' या 'हृदें' होगा।

प्रश्न उठता है कि किसी गुजराती कवि की इस रूप में लिखित रचना ज्यों की त्यों प्रकाशित कर दी जाए या उसका समुचित संशोधन भी हो। इस विषय पर विस्तृत विचार जब तक न हो जाय तब तक यथावत् प्रकाशित करना ही श्रेयोमार्ग है, पर प्राचीन हस्तलेखों का संपादन करते समय उनको पढ़ने का पूरा अभ्यास भी अपेक्षित होता है। कुछ संयुक्त वर्ण ऐसे विलक्षण या विरूप लिखे होते हैं कि उन्हें वर्तमान वर्णविन्यास में परिणत करना तभी संभव है जब उस लिपिप्रणाली का परिपूर्ण बोध हो। 'पच' या 'पच्छ' या 'पछ्छ' उच्चारण दो प्रकार से लिखा मिलता है—पछ या पत्स। यहाँ 'पछ' में 'प' पर उदात्त है; 'पछ्', उसे लिखना चाहिए पछ्छ या पच्छ। यही स्थिति 'वत्स' की भी है। महाप्राण वर्ण द्वित्व करके ही लिखा या बोला जाता था। संस्कृत के उच्चारण-नियम से दो महाप्राण एक साथ हो तो पहला अल्पप्राण हो जाता है। 'पछ्छ' का संस्कृत उच्चारण 'पच्छ' होगा। इसी प्रकार की अनेक बातें हैं।

दयाराम गुजराती के व्युत्पन्न परंपरानुयायी प्रातिभ कवि हैं। उन्होंने ब्रजी में पर्याप्त और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की हैं, पर दुर्भाग्य से हिन्दी के अधिकतर इतिहासकारों को उनका पता नहीं था। श्री अंबाशंकर जी नागर ने उनका एक ग्रंथ 'सतसई' प्रकाशित करके हिन्दी-साहित्य का महनीय उपकार किया है। इसी प्रकार यदि अन्य भाषाभाषी उन कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करने का प्रयास करें, जिन्होंने ब्रजी में अल्प या अनल्प निर्माण किया है तो हिन्दी के इतिहास की समृद्धि होगी और शोध के लिए समुचित और वांछित सामग्री सामने आएगी। नागर जी ने प्रत्येक दोहे का शब्दार्थ और अर्थ भी दिया है। यथास्थान अन्य ज्ञातव्य बातें भी दी हैं। कहा जाता है कि स्वयम् सतसईकार ने ही अपने ग्रंथ की टीका गुजराती में प्रस्तुत कर दी थी या किसी से उसकी टीका करवा दी थी। नागर जी ने उसके सहारे बड़ी ही बोधवर्धिनी टीका लिखी है। साथ ही विस्तृत भूमिका भी नियोजित करके अनेक ज्ञातव्य सूचनाएँ दी हैं। इसके लिए वे हिन्दी साहित्य के सेवकों के परम साधुवाद के आस्पद हैं। मेरी विनय है कि वे दयाराम के ब्रजी के अन्य ग्रंथों को भी यथासमय प्रकाशित कराने का आयोजन करें और हिन्दी के सहृदयों के धन्यवादार्ह होकर यशोलाभ करें।

रंगभरी, २०२४ संवत
वाणी-वितान भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी–१

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
प्रोफेसर और अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, गया (बिहार)

सम्पादकीय

उत्तर मध्यकालीन गुजराती कवि दयाराम की व्रजभाषा सतसई को हिन्दी ससार के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मैं हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ, विगत दशक में हुई क्षेत्रीय शोध के परिणामस्वरूप गुजरात के अचल से हिन्दी के अनेक प्राचीन कवि एव काव्य प्रकाश में आये हैं, उनमे से कुछ विशिष्ट कवियो का परिचय मैंने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'सम्मेलन पत्रिका', 'साहित्य' आदि शोध-पत्रिकाओ तथा 'गुजरात के हिन्दी-गौरव-ग्रथ' नामक शोध-ग्रथ मे दिया है। 'दयाराम सतसई' गुजरात की इस हिन्दी-काव्य-परपरा का सर्वोत्कृष्ट ग्रथ है।

गुजरात में हिन्दी के कवियो तथा उनकी कृतियो की शोध-खोज करते समय इस कृति की ओर मेरा ध्यान आज से प्राय पद्रह वर्ष पूर्व आकर्षित हुआ। गुजरात के सुप्रसिद्ध कवि नर्मद ने दयाराम की गुजराती कृतियो का सकलन 'दयाराम कृत काव्य सग्रह' नाम से किया है। इसी सग्रह में गुजराती लिपि में 'सतसैया' भी सकलित है। इस कृति का अनुशीलन करने पर मुझे ऐसी प्रेरणा हुई कि गुजराती कवि की इस अज्ञात एव उपेक्षित व्रजभाषा कृति का सटीक सपादन करके यदि हिन्दी-सेवी ससार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय, तो हिन्दी सतसइयो की माला में तो एक अमूल्य मनके की अभिवृद्धि होगी ही, साहित्य भाषा के रूप में व्रजभाषा की व्याप्ति का भी एक महत्वपूर्ण साक्ष्य समुपलब्ध होगा। प्राय तभी से मैं इस कार्य म जुट गया। सर्वप्रथम 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के वर्ष ६१, सवत् २०१३, अक १ में दयाराम सतसई पर तथा 'साहित्य त्रैमासिक' वर्ष ७, अक २, जुलाई १९५६ में कवि दयाराम की हिन्दी कृतियों पर मैने परिचयात्मक लेख लिखे, जिन्हें पढ़कर साहित्य प्रेमी सज्जनो ने इस नवोपलब्ध सतसई को हिन्दी मे सटीक प्रकाशित करने के लिए मुझे प्रोत्साहित किया। इस सबध में मैं स्व० शिवपूजन सहाय, श्रद्धेय डॉ० कुँवर चद्रप्रकाश सिंह, गुरुवर डॉ० सरनाम सिंह शर्मा तथा प्रो० मोहनवल्लभ पत का विशेष ऋणी हूँ। इन गुणज्ञ गुरुजनो की सतत प्रेरणाओ तथा शुभाशसाओं से ही यह कार्य सपन्न हो सका है।

ग्रथ की महत्ता एव उपयोगिता के सबध में मुझे अपनी ओर से कुछ नही कहना है। पाठ-सपादन तथा टीका के सबध में अपनी मर्यादाओ का उल्लेख

करना मैं अवश्य अपना कर्तव्य समझता हूँ। ग्रंथ के पाठ-संपादन का कार्य मुख्यत "भक्त कवि दयाराम भाई स्मारक, डभोई" में सुरक्षित 'सतसैया' की एकमात्र उपलब्ध हस्तलिखित प्रति* के आधार पर सपन्न हुआ है। इस सबंध में यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मूल प्रति में प्राप्त पाठ मे किसी प्रकार का सशोधन-परिवर्धन करने की अनधिकार चेष्टा किये बिना हमने उसे अभी यथासभव, यथावत् सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ दयाराम की ब्रजभाषा-रचनाओ की हस्तलिखित प्रतियो में सर्वत्र 'ऐ' के स्थान पर 'ऐं' और 'औ' के स्थान पर 'ओ' का प्रयोग मिलता है, यथा कीजै-कीजें, कौन-कोन, पहले मेरा विचार था कि कम-से-कम इसे सशोधित कर लिया जाय। किन्तु गुजराती साहित्य के सन्निष्ठ सशोधक तथा भाषा-शास्त्री प० केशवराम का० शास्त्री तथा डॉ० हरिवल्लभ मायाणी से परामर्श करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि मूल प्रति में प्राप्त पाठ को अभी यथावत् ही सुरक्षित रखा जाय। पं० केशवराम का० शास्त्री जी ने मेरा ध्यान ब्रजभाषा में 'ऐ, औ' ध्वनि के विवृत उच्चारण तथा गुजरात मे उसके लेखनगत स्वरूप की ओर आकर्षित किया। अनेक हस्तलिखित प्रतियो का अनुशीलन करने पर भी यही प्रतीत हुआ कि ब्रजभाषा की 'ऐं, औ' ध्वनियो के स्थान पर अनुस्वार युक्त 'ऐं, ओ' लिखने की प्रवृत्ति न केवल सतसई की इस प्रति में बल्कि गुजरात के अंचल से प्राप्त हिन्दी की प्राय. सभी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे विद्यमान है। गुजराती कवि शामल की 'सिंहासन बत्तीसी' की भूमिका में डॉ० भायाणी जी ने विवृत ऍकार (ऐं) तथा उसके लिए प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो मे सानुनासिक ध्वनि

---

* हस्तलिखित प्रति का विशेष परिचय :

१. प्राप्ति-स्थान . भक्त कवि दयाराम भाई स्मारक, डभोई (गुजरात)

२ क्रमांक ' पोटला नं० २५, ग्रंथ न० ४६, अनुक्रम १४६

३. विवरण :;६" × ६॥" साइज के देशी कागज पर काली और लाल स्याही से सुन्दर सुवाच्य नागरी लिपि मे लिखा गया ५६२ पृष्ठ का यह ग्रंथ है। टीका की भाषा गुजराती है।

४ ग्रंथ में प्राप्त विशेष टिप्पण : "श्री दयाराम भाई विरचित शतशही ग्रंथ (सतसैया) सटीक छे . टीकाकार शिष्य रणछोड भाई काका छे . हस्ताक्षरे लखेलो प्रतवाली आ ग्रंथ छे आ पुस्तक मजुमदार मूल जी भाई नुं छे ."

(ग्रँ) के प्राबल्य का उल्लेख किया है, ग्रतः सतसई में प्राप्त 'ग्रँ, ग्रो' ध्वनियों तथा ग्रन्य ग्रनुस्वार-बहुल प्रयोगो को प्राचीन गुजराती कवियो, विशेषत. व्रजभाषा कवियो का वैविध्य, वैशिष्ट्य मानकर, मूल प्रति के ग्रनुसार, यथावत् सुरक्षित रखा गया है।

टीका के सबंध में भो दो शब्द कहना ग्रावश्यक प्रतीत होता है, ऐसा प्रसिद्ध है कि कविवर दयाराम ने सतसई की रचना करने के साथ-साथ स्वयं ही इस ग्रन्थ की गुजराती में टीका भी लिखी थी ग्रौर टीकाकार के रूप में ग्रपना नाम न देकर ग्रपने शिष्य रणछोड जोशी का नाम ग्रौचित्य-निर्वाह हेतु दे दिया था। *सतसई की डभोई वाली मूल प्रति के ग्रंतिम दोहो में 'चरणदास रणछोड' तथा 'टीकादास रणछोड'* भणिति से भी इसी बात का ग्रनुमान होता है। साथ ही सतसई की जितनी भी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं, प्राय. सभी में गुजराती टीका समुपलब्ध है, इससे इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि सतसई की रचना के प्राय. साथ ही उसकी गुजराती टीका भी की गई। बहुत संभव है कवि ने स्वयं ही की-कराई हो। कुछ दोहे तो निश्चय ही ऐसे हैं जिन्हें कर्ता के ग्रतिरिक्त ग्रन्य कोई समझ भी नही सकता था। यदि यह टीका उपलब्ध न होती, तो कवि के ग्रनेक दोहो का तात्पर्य ही ग्रनुद्घाटित रह जाता।

गुजराती टीका के महत्व को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पडता है कि वह पुष्टिपथानुयायी साप्रदायिको के लिए, कथावाचको की शैली में लिखी गई प्रतीत होती है, उदाहरणार्थ, शृ गार रस के नायिकाभेदादि के दोहों का ग्रर्थ करते समय गुजराती टीकाकार ने नायक-नायिका के स्थान पर राधा, ललिता, विशाखा ग्रौर कृष्ण, बलराम ग्रादि के नामो तथा ग्रनेक प्रसग-कथाग्रो की ऐसी मनगढत उद्भावनाएँ की है जिनका दोहो में कही भी सकेत नही है। कही-कही दोहो के ग्रर्थ भी ऐसे किए गए हैं जो कपोलकल्पित हैं ग्रौर शब्दो से प्रकट नही होते। हिन्दी टीका में इन सब वातो से बचने का यथासंभव प्रयत्न किया गया हैं। ग्रौर शब्दार्थ, ग्रवतरण, ग्रर्थ, विशेषार्थ ग्रादि देकर टीका को यथासंभव सक्षिप्त एव सारगर्भित बनाने का प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में कविवर दयाराम के व्यक्तित्व एव व्रजभाषा-कृतित्व पर एक विस्तृत भूमिका जोडकर 'दयाराम सतसई' के साहित्यिक सौंदर्य को उद्घाटित करने का भी यथासभव प्रयत्न किया गया है। फिर भी प्रस्तुत पाठ-सपादन टीका की ग्रपनी सीमाएँ एवं मर्यादाएँ है, इससे इन्कार नही किया जा सकता ग्रौर न पूर्णता का दावा ही किया जा सकता है।

कवि श्री दयाराम की हिन्दी कृतियो के सग्रह-सपादन की एक योजना गुजरात यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग द्वारा 'दयाराम ग्रन्थावली' के रूप में शीघ्र ही कार्यान्वित होने जा रही है, जिसमें कवि के प्रत्येक ग्रन्थ की समस्त हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करके उनके आधार पर सटिप्पण पाठ-सपादन का प्रयास किया जा रहा है। यह तो उस दिशा में एक प्रयास मात्र है।

अत मे मै उन सभी गुरुजनो एव मित्रो का आभार मानता हूँ जिन्होंने इस कार्य में मुझे सहायता दी है। विशेषत प्राचीन एव रीतिकालीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान आचार्य प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का आभारी हूँ जिन्होने विद्वत्ता-पूर्ण प्राग्वचन लिखकर निश्चय ही इस ग्रन्थ की गरिमा में अभिवृद्धि की है। साथ ही डॉ० कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह जी तथा प० केशवराम का० शास्त्री जी का भी मै हृदय से आभारी हूँ जिन्होने समय-समय पर प्रेरणा तथा परामर्श देकर मेरा पथ प्रशस्त किया तथा सम्मति लिखकर मुझे उपकृत किया है। आवरण-चित्र, कवि श्री दयाराम के चित्र तथा ग्रन्थ प्रतीक चित्रो के लिए मैं कला-गुरु पद्मश्री रविशकर रावत का आभारी हूँ। विद्यार्थी-मित्रो मे से डॉ० रमणलाल पाठक तथा डॉ० भ्रमरलाल जोशी के सहयोग का भी इस अवसर पर मैं सस्नेह स्मरण करता हूँ।

गुजराती कवि दयाराम की इस व्रजभाषा सतसई को यदि सहृदय विद्वानो ने हिन्दी सतसइयो मे समादृत किया, तो मैं अपनी उस व्याचिकीर्षा को धन्य मानूँगा जिसने मुझे गुजराती कवियो की हिन्दी कृतियो की गवेषणा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी है।

निधौ रसाना निलये गुणानामलकृतो नामुदधावगाधे।
काव्ये कवी-द्रस्य नवार्थतीर्थ्या व्याचिकीर्षा मम तां नतोऽस्मि्॥
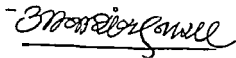
वसत पचमी · २०२४ वि०
भाषा एव साहित्य भवन
गुजरात यूनिवर्सिटी
अहमदाबाद-९

दयाराम

[जन्म स० १८३३, मृत्यु स० १९०९]

(चित्र पद्मश्री श्री रविशंकर रावल के सौजन्य से)
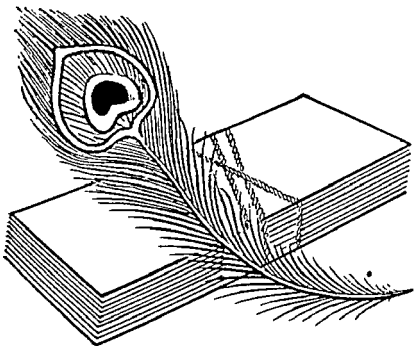
दयाराम सतसई

संपादक
अंबाशंकर नागर

दयाराम

[जन्म सं० १८३३, मृत्यु सं० १९०९]

(चित्र तपस्वी श्री रविशंकर रावल के सौजन्य से)

दयाराम सतसई
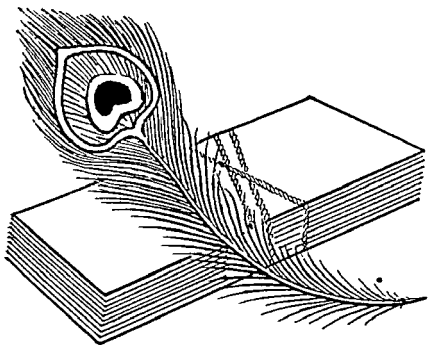
संपादक
अंबाशंकर नागर

भूमिका

कवि परिचय

दयाराम मध्यकालीन गुजराती साहित्य के अंतिम किन्तु अन्यतम सुकवि थे। इस प्रतिभासंपन्न कवि ने गुजराती तथा व्रजभाषा में जिस विपुल साहित्य का सृजन किया है उसके परिमाण एवं काव्योत्कर्ष को देखते हुए इस सुकवि की गणना मध्यकालीन भारतीय साहित्य के प्रथम कोटि के कवियों में की जानी चाहिये। दयाराम कृत १४७ ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें से ४७ व्रजभाषा में हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त इनके गेय पदों की संख्या १२,००० के लगभग बताई जाती है जिनमें व्रजभाषा एवं खड़ीबोली के पद भी पर्याप्त मात्रा में हैं। हिन्दी-सेवी संसार अभी तक इस सुकवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से प्रायः अपरिचित है।

इस कवि का प्रथम उल्लेख गार्सां द तासी ने अपने फ्रांसीसी भाषा में लिखित इतिहास 'इस्तवार द ल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' में किया था जिसका हिन्दी अनुवाद डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से किया है। इस में दयाराम का परिचय इन शब्दों में दिया गया है:

> "दया, संभवतः वही लेखक हैं जिनके हिन्दुस्तानी, गुजराती और मराठी में प्रसिद्ध गीत और भजन मिलते हैं, जो अपने प्रसिद्ध गवैया, रामचन्द्र भाई के पास छोड़े गये १३५ हस्तलिखित ग्रंथों मे संग्रहीत हैं और जिनका संबंध देश की रुचि के अनुकूल सभी विषयों से है। वस्तुतः इन कविताओं में धार्मिक, शोकपूर्ण, शृंगारपूर्ण गीत हैं। कहा जाता है धार्मिक भजनों मे भावों की उच्चता, भाषा की सरसता और काव्य रूपकों की प्रचुरता है।"
>
> (—पृ० १०६ हिन्दुई साहित्य का इतिहास)

गार्सां द तासी के पश्चात् हिन्दी साहित्य के इतिहासकारो ने इस कवि की ओर अधिक ध्यान नही दिया। आ० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस सुकवि का नामोल्लेख भी नही है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास में मीरां के संबंध में लिखते हुए केवल इतना संकेत किया है:

"संवत् १८०० के लगभग दयाराम ने मीरां चरित्र लिखा।"

(—पृ० १५६, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास)

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में केवल व्रजरत्नदास ही एक ऐसे इतिहासकार हैं जिन्होंने अपने खडीबोली हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस कवि का परिचय दिया है। वे लिखते हैं

"यह गुजराती कवि थे पर भारत भ्रमण से इनकी दृष्टि सार्वदेशिक हो गई और उनके उद्गार राष्ट्रभाषा हिन्दी मे काफी निकले, जो इन्हें भारतव्यापी भाषा ज्ञात हुई। इन्होंने दोहों, छंदों के सिवा गेय पद भी लिखे, चित्रकाव्य रचे तथा रसशास्त्र पर भी कविता की। ये अत्यन्त भावुक भक्त-कवि थे और गुजराती के कवियों मे तो इनका स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी की मुख्य रचनाएँ सतसैया, वस्तुवृन्ददीपिका तथा श्रीमद्भागवत् की अनुक्रमणिका है।"

(—पृ० १५६, प्रथम संस्करण, खडी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास)

नरसिंह, प्रेमानन्द और दयाराम गुजराती कविता के त्रिदेव हैं। नरसिंह गुजराती के आदि कवि हैं, प्रेमानन्द के हाथों गुजराती कविता का पालन-पोषण हुआ है और दयाराम के हाथों गुर्जर-गिरा सज-सँवर कर पूर्ण यौवन को प्राप्त हुई है। साराशत दयाराम गुजराती भाषा के प्रमुख तीन कवियों में से एक हैं।

दयाराम का मूलनाम दयाशंकर भट्ट था, किन्तु बडे होकर वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने पर उन्होंने अपना नाम दयाशकर से बदलकर दयाराम रख लिया। इनका जन्म संवत् १८३३, भाद्रपद सुद ११, उपरात १२ : वामन द्वादशी : शनिवार तदनुसार १६ अगस्त सन् १७७७ को डभोई में हुआ।[1]

---

१. इस संबंध मे दयाराम कृत एक कवित्त द्रष्टव्य है :

सवत् अष्टादस तेतीस, शके सोलननानूं।
भादों अमल पक्ष तिथि द्वादशि जानिये॥
सनिवार नक्षत्र श्रवन योग अतिगेज।
रवि उदयगत घटी एकतालीस प्हँचानिये॥
दुजे राहु, तीजे गुरु शुक्र उभय, चौथे बुध।
रवि पचम, छट्ठे शनि, सप्तम् कुज मानिये॥
अष्टम केतु, नौं ससि, यह विधि के जन्माक्षर।
कृष्णदास दयाराम याके उर आनिये॥ (—अनुभव मजरी)

इनके पिता का नाम प्रभुराम और माता का नाम महालक्ष्मी था। वे नर्मदा तटपर स्थित चाँदोद के निवासी साठोदरा नागर थे। डभोई से प्राप्त दयाराम का वंशवृक्ष इस प्रकार है :

कवि श्री दयाराम का वंश वृक्ष

(मूल पुरुष)

राघवजी भट्ट
|
गोकुलजी भट्ट
|
आणंदराम भट्ट
|
निरभैराम भट्ट
|
प्रभुराम भट्ट
|
दयाराम भट्ट

दस वर्ष की अल्पायु में पिता और बारह की आयु में माता का देहांत हो जाने के कारण दयाराम का बचपन संकट में बीता और शिक्षा भी विधिवत् न हो सकी। इनका बाल्यकाल चाँदोद में व्यतीत हुआ फिर वे अपने ननिहाल डभोई चले गये जहाँ उनका शेष जीवन व्यतीत हुआ।

शिक्षा दीक्षा विधिवत् न होने पर भी दयाराम ने देशाटन एवं पुष्टिमार्गीय आचार्यों के सानिध्य-सम्पर्क द्वारा अपने ज्ञानक्षेत्र का समुचित विकास कर लिया था। उनके जीवन का पूर्वार्ध प्राय तीर्थाटन में ही व्यतीत हुआ। तीन बार वे चार धाम की यात्रा को गये और सात बार उन्होने नाथद्वारा के श्रीनाथजी के दर्शन किये। पहली यात्रा १४ से २६, दूसरी ३१ से ३८ और तीसरी ४३ से ४६ वर्ष की आयु में संपन्न हुई। इस प्रकार इस पर्यटक कवि ने अपने जीवन के २५ वर्ष तीर्थाटन में व्यतीत किये। इस सुकवि की बहुज्ञता, बहुश्रुतता तथा बहुभाषा ज्ञान का बहुत कुछ श्रेय उसकी इस घुमक्कड वृत्ति को है।

कहा जाता है कि दयाराम जैसा सुन्दर और शौकीन कवि गुजरात में दूसरा नही हुआ। सुन्दर गौर वर्ण, सुडौल इकहरा शरीर, लम्बे केश, वेशभूषा में नागपुरी धोती, मलमल का अंगरखा, नडियाद का गुलाबी साफा या साठोदरिया लाल

पगडी, लाल किनार का मलमल का दुपट्टा उनकी प्रिय पोशाक थी, जिसमें वे अत्यन्त सुभग एव आकर्षक प्रतीत होते थे। दयाराम आजीवन अविवाहित रहे। चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् रतनबाई नाम की एक सुनार बाल विधवा को उन्होने सेविका के रूप में रख लिया जो आजीवन उनके साथ रही। दयाराम ने रतनबाई के नाम का उल्लेख अपनी वसीयत में किया है तथा अन्यत्र भी 'दिव्य जीव' कह कर स्नेह एव सम्मान के साथ उसका परिचय दिया है।[1]

दयाराम की रसिकता एव लोकप्रियता गुजराती विद्वानो की चर्चा का विषय रही है। कुछ लोगो ने तो उन्हें हाफिज और बायरन के समकक्ष माना है। गुजरात में आचार-विचार एव नीतिविषयक मान्यताएँ अपेक्षाकृत कठोर रही है। उदाहरणार्थ साचर श्री गोवर्धनराम त्रिपाठी ने दयाराम पर लिखते समय कवि के जीवन की उपेक्षा करके केवल उसके कृतित्व 'अक्षर देह' पर लिखना ही श्रेयस्कर समझा। श्री चन्द्रशकर पड्या के पूछने पर उन्होने जो उत्तर दिया था उसका साराश यहाँ प्रस्तुत है :

> "सुविधा के लिए मैं कवियों को तीन भागों मे विभाजित करता हूँ। एक वे जिनका कृतित्व तथा जीवन सात्विक हो। दूसरे वे जिनका कृतित्व तो हितकर हो पर जिनका जीवन राजसिक हो। तीसरे वे जिनका कृतित्व तथा जीवन दोनों दूषित हों। पहले प्रकार के कवियों के जीवन एव कृतित्व को समान महत्त्व दिया जाना चाहिये। दूसरे प्रकार के कवियों के राजसिक जीवन की उपेक्षा करके केवल उनके कृतित्व पर ही दृष्टिपात करना चाहिये। तीसरे प्रकार के कवियों की पूर्णतया उपेक्षा करनी चाहिये। मैं दयाराम को दूसरी कोटि का मानता हूँ। अत मैंने उनके जीवन पर न लिखकर उनके कृतित्व 'अक्षर देह' पर प्रकाश डालना ही उचित समझा है।"

(—'दयाराममनो अक्षर देह' अे संबंधी केटलांएक छूटक स्मरणो, कवि दयाराममनो अक्षर देह, पृ० ७)

गुजरात के विवेचको की इस कठोरता के कारण दयाराम के साथ थोडा अन्याय भी हुआ है। साप्रदायिक वैष्णवो ने कवि के सबध में फैली हुई भ्रात

१ ए देवी जीव छे, माटे ज अमे एने अमारे त्या रहेवा दीधी छे।
(—पृ० १२, दयाराम, सं० डॉ० भोगीलाल सांडेसरा)

धारणाओं का निराकरण करने का यथोचित प्रयत्न किया है। कवि के कृतित्व के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि वे परम भगवदीय वैष्णव थे। कवियो के जीवन के संबंध में प्रायः इस प्रकार की भ्रांत धारणाएं लोगो में फैल जाती है। प्रातः स्मरणीय सूर और तुलसी जैसे कवि भी इसके अपवाद नही हैं।

यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि दयाराम अपने जीवनकाल में ही अत्यंत प्रख्यात एवं लोकप्रिय हो गये थे। उनकी गरबियां गुर्जर बालाओं के कल-कंठ से गूंजने लगी थी। बड़े-बड़े राजा-महाराजा उनसे मिलने के लिए उत्सुक रहते थे, पर दयाराम इतने स्वाभिमानी एवं निर्भीक थे कि वे किसी राजा-महाराजा की परवाह नही करते थे और यदि कभी आमंत्रण स्वीकार भी करते थे तो स्वागत-सत्कार मे जरा सी खामी रह जाने पर वे उन्हें मुंह पर ही फटकार देते थे।

कवि होने के साथ-साथ दयाराम बहुश्रुत संगीतज्ञ भी थे। उत्तरभारतीय संगीत ,पद्धति एवं पुष्टिमार्गीय कीर्तन पद्धति (हवेली संगीत) का उन्हें अच्छा ज्ञान था। देश देशातरों में घूमने के कारण इस प्रवासी कवि को विभिन्न प्रदेशो की लोक धुनो का भी अच्छा परिचय हो गया था। इस प्रकार देशी और शास्त्रीय दोनों संगीत पद्धतियो के वे ज्ञाता थे। गायन के साथ-साथ वादन में भी वे पटु थे। तालवाद्यो में तबला, मृदंग तथा स्वरवाद्यों में बीन, सितार और जलतरंग वादन में भी उनकी अच्छी गति थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि मानाजी नामक मराठा लुटेरे द्वारा पकड लिये जाने पर अपने संगीत ज्ञान से उसे प्रसन्न करके ये छूट गये थे। इसी तरह यह भी कहा जाता है कि वड़ोदा के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ को स्पर्धा में हराकर इन्होने अपने संगीत ज्ञान का अच्छा परिचय दिया था।

दयाराम पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। उन्होंने ५ वर्ष की अवस्था में देवकीनन्दन महाराज से अष्टाक्षर मंत्र 'श्रीकृष्णः शरणं मम' प्राप्त किया। तदुपरांत वे डाकोर के इच्छाराम भट्ट के संपर्क में आये। भट्टजी ने वल्लभाचार्य के अणुभाष्य पर प्रदीप भाष्य की रचना की थी। इनके सान्निध्य से किशोर कवि दयाराम को शुद्धाद्वैत का रहस्य समझ में आया। इनके साम्प्रदायिक गुरु वल्लभलालजी महाराज थे, जिनसे इन्होने २५ वर्ष की अवस्था में 'मन-मरजाद' और २८ वर्ष की अवस्था में, 'पाकीमरजाद' ग्रहण की। इनकी कृष्णविषयक तल्लीनता को देखकर कुछ लोग इन्हें नरसिंह मेहता का और कुछ अष्टसखा नन्ददास का अवतार मानते हैं। गुजरात की गोपी नाम से भी ये अभिहित किये जाते हैं।

दयाराम मध्यकालीन गुजराती कविता के अंतिम किन्तु अन्यतम तेजस्वी कवि थे। अपने जीवनकाल में उन्होने विपुल साहित्य का सृजन किया। गुर्जर

गिरा का यह प्रखर सूर्य ७६ वसतो को पार करके सवत् १६०६ महावद ५ सामवार, तदनुसार ३१ जनवरी १८५३ को डभोई में ग्रस्त हो गया।

दयाराम-कृत ब्रजभाषा काव्य एक विहगावलोकन

विपुलता एवं गुणवत्ता की दृष्टि से दयाराम का कृतित्व मध्यकालीन कवियो में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने जोवनकाल में विभिन्न भाषाओं में १४७ ग्रथो की रचना की है जिनमें ४७ ब्रजभाषा में, ३ मराठी में और शेष गुजराती में है। दयाराम ने ब्रज एव गुजराती के अतिरिक्त मराठी, उर्दू, पजाबी, सिंधी, मारवाडी, विहारी आदि भाषाओं मे भी गेय पदो की रचना की है। श्रद्धालु वैष्णवो के मतानुसार उनके स्फुट पदों की सख्या सवा लाख बताई जाती है जिनमें से ब्रजभाषा में १२,००० पद बताये जाते है। इस विपुल साहित्य में से अभी तक ८६ ग्रथ प्रकाशित हुए है जिनमें ६४ गुजराती के, २० ब्रजभाषा के, १ सस्कृत का तथा १ मराठी का है। स्फुट पद-गरबियो में से लगभग ६०० पद प्रकाशित हुए है। दयाराम कृत ब्रजभाषा की रचनाओं के नाम यहाँ दिये जा रहे है

★ १. सतसैया
★ २ रसिक रजन
★ ३ वस्तुवृन्ददीपिका
★ ४ ब्रजविलासामृत
★ ५ पुष्टिभक्तरूप मालिका
★ ६. हरिदास मणिमाला
★ ७ क्लेश कुठार
★ ८ विज्ञप्ति विलास
९. श्रीकृष्णनाम चन्द्रकला (स्तोत्र)
१० पुष्टिपथ रहस्य
११ प्रस्ताव पीयूष
१२ स्वल्पापार प्रभाव
१३ श्रीकृष्णनाम महात्म्य मार्तंड
१४. श्रीकृष्णनाम चन्द्रिका
१५ विश्वासामृतधारा
★ १६ वृन्दावन विलास
★ १७ कौतुक रत्नावली
१८. दशम अनुक्रमणिका
१९. श्री भागवत् माहात्म्य
★ २०. श्रीकृष्ण अकलचरित्र चन्द्रिका
२१. श्रीकृष्णनाम रत्नमालिका
२२ श्रीकृष्ण अनन्य चद्रिका
२३ मगलानन्द माला
★ २४ श्रीमद्भागवतानुक्रमणिका
२५ प्रस्ताव चन्द्रिका
२६ चिंतामणि
★ २७ पिंगलसार
२८ श्रीकृष्ण नामामृतधारा
★ २९ श्रीकृष्ण स्तवनामृत (लघु)
३० स्तवन पीयूष
३१ चतुरचित्त विलास
३२. हरिस्वप्न सत्यता
३३. अनुभव मजरी
३४. गुरुपूर्वार्ध बहुशिष्य उत्तरार्ध
३५ मायामत खडन
३६. भागवभद्क्तीकर्पकता
३७ ईश्वरता प्रतिपादक
३८ भगवद् इच्छोर्त्पता
★ ३९ मूर्खलचणावली (सप्तदशी)
४० श्रीकृष्णनाम माहात्म्य
४१. शुद्धाद्वैत प्रतिपादन
★ ४२. सम्प्रदाय सार
४३ सिद्धान्त सार
४४. भक्ति विधान
★ ४५. नाम प्रभाव बत्रीसी
★ ४६ पुष्टि पयसार मणिदाम
★ ४७ श्रीकृष्ण स्तवन चन्द्रिका।

---

* प्रकाशित रचनाऐं (गुजराती लिपि मे विभिन्न काव्य-संग्रहों में)

इन कृतियो में से 'सतसैया', 'रसिकरंजन', 'वस्तुवृन्द-दीपिका', 'पिंगलसार' और 'सिद्धान्तसार' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रंथो का समग्र परिचय देना यहाँ संभव नही हो सकता। अतः दयाराम के ब्रजभाषा ग्रंथो के आधार पर उनके कृतित्व का विहंगावलोकन करके तदुपरांत हम सतसैया पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

दयाराम की ब्रजरचनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनमें सभी प्रकार की रचनाएं हैं। यथा सैद्धांतिक, साम्प्रदायिक, भावात्मक, भक्तिमूलक, शृंगारात्मक, काव्य शिक्षा (रीति) विषयक आदि। अध्ययन की सुविधा के लिए हम इन सभी का समावेश तीन भागो में कर सकते हैं :

१. सैद्धान्तिक एवं साम्प्रदायिक

२. भावात्मक एवं भक्ति-शृंगार विषयक

३. रीति एव काव्य-शिक्षा विषयक

१. सैद्धांतिक एव साम्प्रदायिक रचनाएं

दयाराम पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। अतः उनका अधिकांश साहित्य सैद्धांतिक एवं साम्प्रदायिक है। पुष्टिमार्ग एव शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तो का लोकगम्य निरूपण करने के उद्देश्य से उन्होने अनेक छोटे-बड़े ग्रंथो की रचना की है। ऐसे ग्रंथो में ब्रजभाषा में लिखित सिद्धान्तसार, संप्रदायसार, पुष्टिपथसारमणिदाम, पुष्टिपथ-रहस्य, भक्तिविधान आदि उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थो का साम्प्रदायिक दृष्टि से ही विशेष महत्त्व है साहित्यिकता का इनमें प्राय. अभाव है। इनका विषय शुद्धाद्वैत (ब्रह्मवाद) का निरूपण तथा केवलाद्वैत (मायावाद) का खंडन है। कहीं-कही खंडन-मंडन की यह प्रक्रिया इतनी उग्र हो गई है कि कवि ने जगत को मिथ्या कहनेवालो को काना, मतिमूढ और गँवार तक कह डाला है। कवि ने भक्ति को ज्ञान और वैराग्य से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। उनका कथन है कि 'भक्ति गाय है, ज्ञान और वैराग्य उसके पीछे-पीछे आनेवाले बछड़े हैं।' इसी प्रकार दशम प्रेमलक्षणा भक्ति के सामने उन्होंने मुक्ति को भी तुच्छ कहा है। 'पोषणं तदनुग्रह' के अनुसार भगवद् अनुग्रह को उन्होंने सर्वोपरि बताया है। अनुग्रह प्राप्त होने पर भक्त की सब चिंताएं समाप्त हो जाती हैं, भगवान स्वयं उसकी चिंता करने लगते हैं—

> तू चित चिंता क्यों करे, विश्वम्भर ब्रजपाल।
> शक्कर शक्करखोर को, दधिमधि देत दयाल॥
>
> (—छंद १०६, क्लेशकुठार)

कुछ रचनाएँ एसी भी है जिनमें सिद्धात निरूपण के अतिरिक्त भगवान् भक्त एव भक्ति की महिमा का निरूपण है। इस प्रकार की रचनाओ म भगवन्नाम महिमा, भक्तनाम सकीतन तथा भक्त-चरित्र विषयक रचनाएँ आती है। कवि की आत्मदैन्य नीति ज्ञान एव वैराग्य विषयक रचनाओं का समावश भी इसी के अतगत किया जा सकता है। श्रीकृष्ण स्तवन चद्रिका नाम प्रभाव बत्तीसी पुष्टिभक्त रूप मालिका हरिदास मणिमाला, कृष्णनाम चन्द्रकला आदि रचनाएँ इसी कोटि में आती है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन सैद्धातिक एव साप्रदायिक रचनाओ का साहित्यिक दृष्टि से उतना महत्त्व नही है जितना साप्रदायिक दृष्टि से है।

२ भावात्मक एव भक्ति शृगार विषयक रचनाएँ

इस कोटि के अतगत कवि की भक्ति शृगार विषयक रचनाएँ आती हैं। वस्तुत य ही व साहित्यिक रचनाएँ है जिनके द्वारा दयाराम उच्चकोटि के कवियो में स्थान पात है। दयाराम की कविता म भक्ति और शृ गार का अपूव समन्वय ह। जयदेव विद्यापति तथा नरसिंह महता की भाति दयाराम की रचनाओ में भी राधा कृष्ण के शृ गार का निरूपण है जिसे देखकर कुछ विवचको न दयाराम को भक्ति की आड म आत्मलक्षी शृ गार का गायक तथा मस्त प्रणयी कवि' कहा ह। किन्तु विचार करन पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम के शृगार का मूलाधार कृष्ण विषयक रति है अत उसमें शृ गार के साथ-साथ भक्ति का भी सतुलित समन्वय है। अत दयाराम के सम्बन्ध में किये गये य विधान कुछ अशो में ही सत्य है। दयाराम की भावात्मक (भक्ति शृ गार विषयक) रचनाओ में 'रसिक रजन तथा सतसैया सर्वोपरि है। इन दो कृतियो के अतिरिक्त स्फुट सगीतात्मक पदो म भी भक्ति शृ गार की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु हृदय का जो उल्लास एव आवेग कवि की गुजराती गरबियो में देखने को मिलता है वह ब्रजभाषा के पदो भजनो एव गीतो में दिखाई नहीं देता।

३ रीति एव काव्य शिक्षा विषयक ग्रथ ~

कोई भी कवि अपन समय के प्रभाव से सवथा मुक्त नही रह सकता। यद्यपि दयाराम पुष्टिमार्गीय भक्त कवि थे तथापि रीतिकालीन प्रभाव से वे अछूते न रह सके। सतसैया तथा रसिक रजन के शृगार निरूपण में रीतिकालीन काव्य-परम्परा का परोक्ष प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। कवि-कृत पिंगलादश,

वस्तुवृन्ददीपिका, तालमाला, रागमाला आदि काव्य-शिक्षा विषयक (लक्षण एवं रीति) ग्रंथ कवि पर रीतिकालीन प्रभाव के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

दोहा एवं सतसई परंपरा

मुक्तक काव्य रचना और सख्या के आधार पर उसके संकलन की परंपरा बहुत प्राचीन है। 'सतसई', 'सतसैया' आदि संख्या सूचक शब्द सस्कृत 'सप्तशती' के ही तद्भव रूप हैं। सप्तशती के रूप में मुक्तकों के संकलन की रूढ़ि भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन है। ईसा की प्रथम शताब्दी में सातवाहन संकलित प्राकृत की गाथा सप्तशती इस प्रकार की प्रथम रचना है। बारहवीं शताब्दी में गोवर्धनाचार्यकृत संस्कृत आर्या सप्तशती भी अत्यंत प्रसिद्ध है। प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश से कालान्तर में हिन्दी को भी उत्तराधिकार-स्वरूप मुक्तकों की प्रशस्त परंपरा मिली।

जिस प्रकार प्राकृत में 'गाथा' और संस्कृत में 'अनुष्टुप' लोकप्रिय छंद रहा उसी प्रकार अपभ्रंश एवं हिन्दी में दोहे की लोकप्रियता रही। हिततरंगिनी में कृपाराम ने "मैं बरन्यौ दोहान बिच" और रहीम ने "दीरघ दोहा अरथ के आखर थोरे आहि" तथा "रूप कथा पद चार पर कंचन दोहा लाल" कहकर दोहे की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। गोस्वामी तुलसीदास ने "मनिमय दोहा दीपजहँ उघघट करै प्रकास" कहकर इस छंद की महिमा व्यक्त की है। संतो ने इसी को साखी नाम दिया तथा "साखी आंखी ज्ञानकी" कहकर इस छंद की उपयोगिता प्रतिपादित की। तात्पर्य यह कि हिन्दी के आदिकाल एवं मध्यकाल में दोहा अत्यंत लोकप्रिय छंद रहा।

दोहे की लोकप्रियता के कारण हिन्दी के भक्ति एवं रीतिकाल में इसी छंद में क्रमशः सतसइयों का संकलन हुआ, जिनमें क्रमशः तुलसी सतसई (संवत् १६४२) रहीम सतसई (संवत् १६८३), बिहारी सतसई (संवत् १७०४), रसनिधि सतसई (संवत् १७१७), मतिराम सतसई (संवत् १७२०), वृंद सतसई (संवत् १७६१), विक्रम सतसई (१८५०) और राम सतसई (संवत् १८७०-८०) आदि की रचना हुई। इस मध्यकालीन सतसई-परंपरा का अंतिम पुष्प दयाराम सतसई है जिसकी रचना संवत् १८७२ में हुई।

दोहा या मुक्तक काव्य-रचना की परंपरा उत्तर भारत की भाँति गुजरात में भी बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। हेमचन्द्राचार्य के 'सिद्धहेम' तथा जैनाचार्य मेरुतुग विरचित प्रबोध चिंतामणि के मुक्तक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

'सोरठियो दूहो भलो' से भी इस प्रदेश में दोहे की लोकप्रियता सिद्ध होती है। किन्तु सतसई के रूप में दोहो के संकलन की परपरा गुजराती साहित्य मे दयाराम से पूर्व दृष्टिगत नही होती। वस्तुत दयाराम ही प्रथम कवि हैं जिन्होंने गुजरात में सतसई परंपरा का प्रवर्तन किया। दयाराम के पश्चात् कवीश्वर दलपतराम ने शामल भट्ट के ७०० गुजराती दोहो का संकलन किया और उन्होंने स्वयं भी गुजराती में एक सतसई की रचना की।

दयाराम सतसई

दयाराम की ब्रजभाषा-कृतियो मे सतसई (सतसैया) निर्विवाद सर्वोत्कृष्ट है अकेली यह रचना ही इस अहिन्दी भाषी कवि को हिन्दी कवियो में उच्च स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है। कवि ने इसकी रचना सवत् १८७२ में नर्मदातट पर स्थित चादोद (चडिपुर) गाँव में की। सतसैया के अत मे कवि ने जो आत्म निवेदन एवं ग्रंथ रचना सबधी निर्देश किये है वे अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण एवं विचारणीय है यथा

अति शुभ गुर्जर देश मधि, दछन प्रयाग रुचीर।
महा सरित श्री नर्मदा, अति सुचि उत्तर तीर ॥ ७२२ ॥
निकट निपट जहाँ चडिपुर, विप्रन को सुचि थान।
जिहि राजत है सदा श्री, शेषशायि भगवान ॥ ७२३ ॥
सो पुरि मध्य निवास कवि, दयाराम हरिदास।
जाति विप्र साठोदरा, नागर ख्याति प्रकास ॥ ७२४ ॥
धर्म सुवैष्णो वल्लभी, श्रीगुरुदेव प्रताप।
किये सातसो दोहरां, कृष्ण समंध अलाप ॥ ७२५ ॥
शक अष्टादस द्वुहुतरा, शुभ्र पच्छ नभ मास।
मिति श्री राधा अष्टमी, बार गुरु शुभ रास ॥ ७२६ ॥
तादिन सपूरन भयो, 'सतसैया' शुभ ग्रथ।
पढ़ें सुनें सीखें सुमति, लभ्य कृष्ण पद पथ ॥ ७२७ ॥
पुरुषोत्तम गोपीश श्री, कृष्ण मनोहर रूप।
तद प्रीत्यर्थ सुग्रंथ यह, नहिं रिझवन को भूप ॥ ७२८ ॥
ज्ञान भक्ति सुविवेक युत, प्रेमादिक प्रस्ताव।
पूर्व ग्रंथ सम्मत ललित, नागरता हरि भाव ॥ ७२९ ॥
पिंगल पद्धति देखिके, रचना रची अदोष।
तदपि होय कछु समझियों, हरिगुनबिन धरि रोष ॥ ७३० ॥

दया सतसियाग्रथ यह, बिरचित पर उपकार।
सब सज्जन दूपन तजी, ग्रहन कीजियो सार ॥७३१॥

उपर्युक्त उद्धरणों में कवि ने ग्रथरचना के सवत तथा स्थल का स्पष्ट उल्लेख किया है। तदनतर 'तद प्रीत्यर्थ सुग्रथ यह नहिं रिझवन को भूप' कह कर कवि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रस्तुत कृति श्रीकृष्ण के प्रेम का ही सुफल है, किसी राजा को रिझाने के लिए इसकी रचना नही की गई है। इसका आशय क्या यह समझा जाय कि दयाराम राजा जयसिंह को रिझाने के लिए लिखी गई 'विहारी सतसई' की ओर सकेत करते हुए अपने ग्रथ का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कर रहे हैं?[1] दयाराम ने सतसैया की रचना सवत् १८७२ में की। इससे १६८ वर्ष पूर्व सवत् १७०४ में बिहारी अपनी सतसई की रचना कर चुके थे और दयाराम के समय तक उसे साहित्य ससार में अच्छी ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। बहुत सभव है राजस्थान एव उत्तर प्रदेश के दीर्घकालीन प्रवासो में दयाराम ने इस लोकप्रिय ग्रथ का अवलोकन किया हो तथा उसी से प्रेरणा प्राप्त करके प्रस्तुत सतसई की रचना की हो। दयाराम से पूर्व गुजरात में किसी ने सतसई की रचना की नही, अत इस पद्धति को अपनाने की प्रेरणा उन्हें निश्चय ही किसी हिन्दी सतसई से मिली होगी। आगे के दोहे में 'पूर्व ग्रथ सम्मत ललित' में भी कुछ ऐसा ही सकेत है कि उन्होंने पूर्ववर्ती सस्कृत अपभ्रश तथा हिन्दी की मुक्तक रचनाओं का अवलोकन किया होगा। सतसैया के दोहो में भी यत्रतत्र बिहारी सतसई की छाया दृष्टिगत होती है।

जिस प्रकार दयाराम ने ग्रथ के अत में सन-सवत सबधी निर्देश किये है उसी प्रकार भाषा तथा काव्य के सबध में भी उन्होंने अपने विचार सतसैया में प्रस्तुत किये है

---

१ इसी वैशिष्ट्य को लक्ष्य करके गुजराती के एक साहित्यकार श्री मोदी ने 'दयाराम सतसई' को 'बिहारी सतसई' से श्रेष्ठ बताया है तथा जनश्रुति पर आधारित एक प्रसग भी उद्धृत किया है कि आली उदयपुर के दरबार मे एक बार किसी चारण ने बिहारी सतसई का एक दोहा गाकर सुनाया। राजा ने पूछा इन दोनों मे से कौन सा अच्छा है? चारण ने उत्तर दिया। महाराज दोनो ही अच्छे हैं "त्यारे दरबारे कहया तमरे कहेवा खरे छे, पण दयाराम नी सतसैया चढ़ी जाय, कारण के बिहारीए लौकिक शृगार गायो छे अने दयारामे अलौकिक शृ गार गायो छे।" (मोदी कृत दयाराम)

कवि की भाषा सबधी मान्यताएँ

भाषा के सबध में दयाराम सरलता के पक्षपाती थे। सस्कृत के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी बोधगम्य न होने के कारण वे उसे काव्योपयुक्त नही मानते थे।[१] व्रजभाषा के प्रति उनके हृदय में अनन्य अनुराग था। उन्होने उसे वेदवाणी से भी श्रेष्ठ बताया है।[२] और जो उसके महत्व को स्वीकार नही करते उन्हें मूर्ख बताया है[3]। सतसैया के अतिरिक्त भक्ति विधान[४] और श्रीकृष्ण-स्तवनामृत[५] में भी व्रजमडल और व्रजभाषा के प्रति कवि के अनन्य अनुराग की अभिव्यक्ति हुई है।

कवि की काव्य सबधी मान्यताएँ :

भाषा की भाँति काव्य के सबध में भी दयाराम को निजी मान्यताएँ सतसैया में व्यक्त हुई हैं। वे भाषा में जहाँ ऋजुता के पक्षपाती थे, काव्य के सबध में कठोरता के पक्षपाती थे। आसानी से समझ में आनेवाली कविता को वे कविता नही मानते। उनकी मान्यता थी कि कुछ वस्तुओ की श्रेष्ठता उनकी कठोरता में ही निहित है और काव्य उनमें से एक है।[६] इसी प्रकार थोडे शब्दो में अधिक अर्थ को व्यक्त करनेवाली, दोष रहित, सरस तथा बिना प्रयास के, तत्काल बननेवाली कविता को उन्होंने श्रेष्ठ बताया है।[७] उनकी यह भी

---

१. श्लोक पुरानी सस्कृत, बाँचत सब इतराय।
　　फुल्य सुफल गिरवान जब, श्रोता ले समुझाय ॥७०६॥

२. वेद बडे गिरबान ते, नारायण की बानि।
　　व्रजभाषा मल ताहिते, व्रजपति भखि-मुखजानि ॥७०८॥

३. बुध कहि भाषा बाद जो, सुरबानी इक साँच
　　तो हम कहिवे मूर्ख हैं, साँच न लावे आँच ॥७०७॥

४. वृंदावन को चूहडो और देश को भूप।
　　तिनकी सरभर ना करे, वेद खात है सूप ॥ —भक्ति विधान, ॥२१०॥

५ स्तुति श्रुतिन की तुम्हें लगत नहि वैसी प्यारी।
　　जैसी माधुरि लगत, प्रीति की गोपिन गारी ॥—श्री कृष्ण स्तवनामृत ॥४२॥

६. दुर्ग काव्य कुसमाट कुच, ऊख कठोर रयों सार।
　　तन मन बानी तुलसिदल, मल कोमल यह धार ॥७०२॥

७. बरन थोर अति अरथ सह, अमल सरस सद होय।
　　कृपा भारती कृष्ण वह, काव्य न ऐसो कोय ॥७०३॥

मान्यता थी कि जैसे आक के पौधे के आम के फल नहीं लग सकते वैसे अनुकरण करके अधम कवि उत्कृष्ट काव्य का सृजन नहीं कर सकते।[1] इन मान्यताओं के अतिरिक्त उनकी सर्वोपरि मान्यता यह थी कि हरि संबंध के बिना अद्भुत काव्य भी व्यर्थ है[2] और कृष्ण से संबंधित होने पर अधम एवं सामान्य शब्द एवं काव्य भी उत्कृष्ट हो जाते हैं।[3]

सतसैया में कवि की इन सभी काव्य विषयक मान्यताओं का समुचित निर्वाह हुआ है।

सतसैया निम्नलिखित १५ प्रकरणों में विभक्त है :

मंगलाचरण, भगवद्स्तुति विज्ञप्ति, प्रेम-वर्णन, नायिकावर्णन, रूप-वर्णन, संग-वर्णन, भक्ति-प्रकरण, वाद-प्रकरण, नाम-महात्म्य-प्रकरण, आश्रय-प्रकरण, विवेक-प्रकरण, शिक्षा-विवेक-प्रकरण, प्रस्ताव-प्रकरण, काठिन्यार्थ-प्रकरण तथा काव्य-चातुर्य-प्रकरण।

मंगलाचरण

मंगलाचरण के प्रथम दोहे में कवि ने पहले वल्लभाचार्यजी का और फिर अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण का स्मरण किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कवि के हृदय में पुष्टिमार्ग के आचार्यों तथा श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य श्रद्धा है—

श्री गुरु वल्लभ देव अरु, श्री विट्ठल श्रीकृष्ण।
पद पंकज बंदन करूँ, दुख हर पूरन तृष्ण ॥१॥
वल्लभ, दें दुर्लभ कहा, सब हो जाके हाथ,
जंगल में मंगल करें बाबा विट्ठल नाथ ॥२॥
श्री राधावर जाहि बस, ता पद पुष्कर खेह,
बंदन कर मांगू सदा, ता में नूतन नेह ॥४॥

---

१. उत्तम कवि कृति से बरन, अधम कछुक आकार।
पै समान कहाँ आक फल, निरस सरस सहकार ॥७०४॥

२. बिन समंध हरि काव्य सब, अति अद्भुत हु न काम।
आरकूट भूषन रुचिर, पै जिमि मिले न दाम ॥७०१॥

३. और बदन दू सफल सब, जो संजोग घनश्याम।
ज्यों कंसारि मुरारि अरु, मधसूदन सुठिनाम ॥७०५॥

भगवद्स्तुति विज्ञप्ति

मगलाचरण के पश्चात् भगवद्स्तुति विज्ञप्ति है जिसमें कवि ने श्रीकृष्ण की महत्ता और अपनी लघुता प्रकट की है—"यदि श्रीकृष्ण पापमोचन हैं, तो मैं पापी हूँ। वे क्षमा करनेवाले है तो मैं भूल करने में सिद्धहस्त हूँ। वे अधम उधारन है, तो मैं अत्यत अधम हूँ। इस प्रकार उनका और मेरा नित्यसबध है। पर मेरे आराध्यदेव या तो अपना विरद भूल गए है या फिर मुझे भूल गए है, अन्यथा अब तक मेरा उद्धार अवश्य हो गया होता

बिसरयो बरद किधो हरी, एक बिसारयो मोहि।
दुहु मे तें तो कछु भयो, नातर मम गति होहि ॥१३॥

कवि अपने आराध्यदेव से कहता है कि मैंने अपने हृदय को जान बूझकर कुटिल बनाया है। क्योकि मैं आपको हृदय में धारण करना चाहता हूँ और आप कुटिल त्रिभगी हैं तलवार के अनुरूप ही तो म्यान होनी चाहिए

चाहूँ बसाये हृदय मे, धरूँ त्रिभगी ध्यान।
तातें राख्यो कुटिल उर होहि असी सो म्यान ॥१८॥

एक अन्य दोहे में कवि कहता है—आप मेरी इद्रियो (गोकुल) को वश में कर लीजिए। दीन हूँ, इसलिये तुलसीदल (वृन्दावन) ही स्वीकार कीजिए। इसके बदले आप मुझे अपनी शरण में लेकर गोकुल और वृन्दावन का वास दीजिए .

गोकुल वृ दावन लिहु, मोपे जुग जीवन्न,
पलटें मोको देहु फिर, गोकुल वृ दावन्न ॥२६॥

अत में व्यग्य करते हुए दयाराम कहते है, "भगवन्, कही आप मेरे पाप देखकर डरे तो नहीं गए ?"

कबको हरि हरि रटन हों, कटत न क्यो सताप,
हरन विरद बिसर्‌यो किघों डरपे लखि मो पाप ॥५३॥

प्रेम वर्णन

प्रस्तुत प्रकरण में प्रेम की महिमा का बडा ही सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है। प्रेम की महत्ता पर विचार करते हुए कवि कहता है—जिस प्रकार आकाश का पार नहीं पाया जा सकता, चिंतामणि का मूल्य नहीं आँका जा सकता, इस पृथ्वीतल पर बसनेवाले जीवो की सख्या नहीं जानी

जा सकती, उसी प्रकार प्रेम का भी वास्तविक मर्म नहीं जाना जा सकता :

> नहि न अंत प्रकाश कहूँ, चितामनी न मोल।
> संख्या नाहीं जीउ की, जैसे प्रेम अतोल ॥६१॥

प्रेम की विशेषताओं को प्रकट करते हुए कवि कहता है कि फाँसनेवाले (व्याध) के फंदे में शिकार (मृग) फँसता है, पर यह प्रेम का फंदा ऐसा विचित्र है कि इसमें शिकार के साथ शिकारी भी फँसे बिना नहीं रहता :

> व्याध फंद मृग परतु है, बंध अहेरी ह्वै न।
> प्रेम अजब वागुर मे, पारन हार बचैंन ॥

प्रेम के संबंध में कही गई कवि की प्रत्येक उक्ति अनूठी एवं मार्मिक है। प्रेम पात्र की गाली भी दूसरों के द्वारा की गई प्रशंसा से मीठी लगती है (६४)। सबसे प्रिय प्राण हैं, प्राणों से भी प्यारी प्रतिष्ठा है, उसका भी जो त्याग कर सके वही प्रेम रस चख सकता है (६६)। लोग कहते हैं दुर्जनों की नजर लगती है पर सज्जनों की नजर तो ऐसी लगती है कि वह प्राणों के साथ ही समाप्त होती है (६६)। प्रेम का रहस्य समझाते हुए कवि कहता है कि प्रेम ऐसी बेल है, जो आग से बढ़ती है, जल सींचने से कुम्हलाती है, सिर देने पर ही उसका फल मिलता है, और वह फल बिना मुँह खाया जाता है :

> आगी तें बेली बढ़े, जल सींचत कुंभलाय,
> सिर के पलटे फल मिलें, मुख बिन खायो जाय ॥७१॥

और प्रेम जैसा माधुर्य संसार की किसी वस्तु में नहीं है :

> ऐसो मीठो नहिं पियूष, नहि मिसरी, नहि दाख,
> तनक प्रेम माधुर्य पें, न्योछावर अस लाख ॥८१॥

कवि की अन्य अनूठी उक्तियाँ देखिए :

> रसिक नैन नाराच की, अजब अनोखी रीत,
> दुसमन को परसें नहीं, मारें अपनो मीत ॥१२०॥
>
> रूप भूप के राज्य मे, यह महान अन्याय,
> नाम न लें को मूढ़ को, च्यातुर मारे जाय ॥१२१॥
>
> रति चहलें मातंग मन, फस्यो न निकसत पाय,
> बलकरि निकस्यो चहत है, त्यो त्यों घसतहि जाय ॥१५५॥

कवि ने प्रेम को नापने की प्रविधि भी निम्नलिखित सोरठे में प्रस्तुत की है

> जितो बिरह सताप, तितो प्रेम परमानिये ।
> यही प्रेम को माप, समुझ लेहु अनुमान तें ।।२४४।।

नायिका-वर्णन

रीतिकालीन परपरानुसार सतसैया में भक्ति एव नीति के साथ-साथ 'शृ गार-वर्णन' और नायिका भेद भी है । उनकी बहुत-सी उक्तियो में तुलसी, रहीम, रसखान, वृद, बिहारी आदि की उक्तियों की छाया दिखाई देती है । सभवत दयाराम ने सतसई लिखने से पहले अपने पूववर्ती हिन्दी कवियो की सतसइयो का सम्यक् अवलोकन किया था । बिहारी की तरह दयाराम ने भी नायिकाओ का सुदर एव सूक्ष्म निरूपण किया है । मुख्य नायिकाऐं—प्रोषितभर्तृका, क्रियाविदग्धा, वाक्‌विदग्धा, खडिता, स्वयदूतिका, अनुसूया, खडिता, कलहातरिता, उत्कठिता, दिवाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, ज्योत्स्नाभिसारिका, ज्ञात-अज्ञातयौवना, रूपगर्विता, स्वाधीनपतिका, स्वकीया-मुग्धा, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, प्रावदित-भर्तृका, आगत पतिका, प्रेमगर्विता, मुदिता, मानवती इत्यादि है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है

क्रियाविदग्धा नायिका

> दोउ अटारी पीठ दे, किए दरस आदर्श,
> मिलिकर नै दै चुटकि त्रय, पिय तिय उदयो हर्ष ।।१५८।।

(नायक और नायिका लोक-लाज के भय से अपनी अपनी अटारी पर एक दूसरे की ओर पीठ करके बैठे है । नायक दर्पण में मुंह देख रहा है । नायिका भी एक दर्पण लेती है और उसमें नायक का प्रतिबिंब देखकर दोनो हाथो को जोडती है अर्थात् जैसे दोनो हाथ मिले हैं, वैसे ही हम भी मिलें । नायक यह देखकर मुदित होता है और तीन चुटकी बजाकर नायिका के सकेत का उत्तर देता है, अर्थात् तीन प्रहर बाद मिलेंगे । इस साकेतिक प्रश्नोत्तर से दोनो प्रसन्न होते हैं ।)

क्रियाविदग्धा और वाक्‌विदग्धा नायिका

> खरक सँवारो कर भरे, गोबर छुट उर छोर,
> ऐहे बड को बाल तुम, ढाँकिय नद किशोर ।।१७१।।

(नायिका गोशाला की सफाई कर रही थी। नदकिशोर को निकट पाकर स्पर्श की लालसा जगी। नायिका ने एक युक्ति की। जानबूझकर अपनी ओढनी का छोर चोली पर से सरका दिया और श्रीकृष्ण से कहा, मेरे दोनों हाथ गोबर में हो रहे हैं। अभी कोई बडा आदमी इधर से आ निकलेगा। तुम तो अभी बच्चे हो, तुमसे कैसी लाज, जरा आँचल का छोर तो ठीक तरह से ढँक दो।)

खडिता विदग्धा नायिका

बँधि गुन भुज ईत्तन हती दिहु दुज सनसि लगाय,
कँ उर सुगड चढ़ाय मो, धिज हर सिर कर ल्याय ॥१७७॥

(नायिका का कोप शात करने के लिये चतुर नायक का वचन—तुम मुझे जो चाहो दड दे सकती हो। बदी बनाना चाहो, तो भुजा रूपी रस्सियो से जकड लो। मारना चाहो, तो नयनो के तीक्ष्ण बाणो से मारो। इससे भी कोप शात न हो, तो अपने दाँतो की सांडसी से मेरे होठ जकड लो। बदी करना हो, तो अपने हृदय रूपी दुर्ग में बदी कर लो। मुझ पर अविश्वास हो, और शिव-पिंड पर हाथ रखवाकर सच बात पूछना चाहो, तो लाओ, मुझे कुचा पर हाथ रखने दो। नायक के मुख से ऐसे वचन सुनकर नायिका का कोप स्वत शात हो गया।)

अज्ञात यौवना नायिका

कटाछ नोक चुभी किधौं, गडे उरोज कठोर,
कँ कटि छोटी मैं हितु रुची न बदकिसोर ॥१९२॥

(नायक को मान किए देखकर अज्ञात यौवना नायिका अपनी सखी से पूछती है—हे सखी। मेरे कटाछो की नोक तो इनके नही चुभ गई है ? कही मेरे कठोर कुच तो आलिंगन के समय इनके नही गड गए हैं। क्या मेरी कमर बहुत पतली है या फिर मैं अभी इतनी छोटी हूँ कि नदकिशोर के योग्य ही नही हूँ, बात क्या है ?)

मुदिता नायिका

कान कही जो कान मे, कानन मे कहि कान।
का 'न' कहती ह्वाँ अली, पा 'न न' भाव न जान ॥२०८॥

(नायिका कहती है—'हे श्रीकृष्ण ! जो बात तुमने अब कान में कही,

वह एकांत कानन में क्यों न कह दी ?' श्रीकृष्ण ने कहा—'हे भली ! क्या तू 'न' नहीं कहती ?' नायिका ने कहा—'हे चतुर शिरोमणि ! क्या तुम स्त्रियों के 'न-न' का भाव नहीं समझते ?')

नायिका वर्णन के अंतर्गत कहीं-कहीं दयाराम की कल्पनाएँ अत्यंत सूक्ष्म मार्मिक एवं सरस है। उदाहरण के लिए नायक के झूठ-मूठ छींकने पर मानवती नायिका का मान त्याग कर तुरत नथ पहन लेना, (२११) नायक की वेशभूषा की प्रत्येक वस्तु को पुल्लिंग में ही संबोधित करना, माला को हार और पधिया को पाग कहना, (२१५) इसी प्रकार कृष्ण के मुकुट में जड़े दर्पण में अपने प्रतिबिंब को अन्य नायिका का चित्र समझकर मान कर बैठने वाली नायिका की कल्पना (२१७) कवि की मौलिक एवं सुन्दर उद्भावनाएँ हैं।

रूप-वर्णन

रूप-वर्णन के अंतर्गत राधाकृष्ण के सौंदर्य का निरूपण किया गया है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कवि की दृष्टि बाह्य सौंदर्य की अपेक्षा सौंदय के प्रभाव को चित्रित करने पर अधिक रही है। कुछ सरस और सुमधुर उक्तियाँ देखिए—

स्यामा तू जिन जाइ सर, बिन घूँघट पट खोल,
परि है तेरो बदन लखि, भोर कोक मुख सोस ॥२४६॥
लिपटें पिय को पानि बिन बानी बिन कहैं बात ।
अहो सलोने दृग अली, करें शस्त्र बिनु घात ॥२५२॥

कुछ दोहो में तो कवि की उक्ति चमत्कार सराहने योग्य ही है

हरि के सो मुख नयन हरि, कच कुच कटि कर पाय,
हरि सुबरन गति बेनि छब, राधा हरि सुख दाय ॥२५७॥

(हे स्यामा ! तुझे हरि से अत्यधिक प्रेम है, इसलिये तूने अपने अंग-प्रत्यगों को हरि का रूप दिया है।)

यहाँ 'हरि' शब्द अपने विभिन्न संदर्भों में राधिका के भिन्न-भिन्न अंगों का उपमान बनता है। हरि के जैसे सकल अंगोंवाली राधिका हरि को सुख देनेवाली है। इस दोहे में कवि ने हरि शब्द को दस अर्थों में प्रयुक्त किया है।

संग वर्णन

संग-वर्णन में कवि ने सत्संग की महत्ता और कुसंग के दुष्परिणामों पर प्रकाश

डाला है। अनेक उदाहरण देकर कवि सत्संग की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। वह कहता है, देखो 'काग' शब्द कितना छोटा है, यदि उसका सत्संग दानवाचक 'द' के साथ हो जाय, तो वह काग से 'कागद' बन जाता है।[1] ऐसे ही कुसंग का परिणाम है कि 'यव' शब्द अत्यन्त पवित्र है, परन्तु उसके साथ हीनता-वाचक 'न' जुड जाय, तो 'यव' से 'यवन' बन जाता है।[2] तुलसीदास जी के वचनामृत 'मिलत एक दारुण दुख देही, बिछुरत एक प्रान हर लेही' का आचमन कर कवि सज्जनों और दुर्जनों के माहात्म्य पर प्रकाश डालता है—

सज्जन दुरजन एक से, कछुक बीच बिय बीच,
इक बिछुरत असुलेत सद, एक मिलत हुइ मीच ॥३०४॥

कवि ने गणित के दृष्टान्त से सज्जन और दुर्जन के भेद को सुन्दरता से व्यक्त किया है। दुर्जन की प्रीति आठ के अंक की भाँति क्रमश घटनेवाली और सज्जन की प्रीति सदा नौ के समान यथावत रहनेवाली है—

दुरजन सज्जन अष्ट नौ, प्रीति रीति पहिचान,
दुगने तिगुने चतुस्सम, इत उत हान हि हान ॥३०१॥

भक्ति-प्रकरण

इस प्रकरण में कवि ने पुष्टि-मार्ग एव शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत किया है तथा ज्ञान से भक्ति की महत्ता सिद्ध की है। कवि कहता है, ज्ञानी बड़ा बेटा है, समझदार है, भक्त छोटा एव अबोध बालक है। जिस प्रकार छोटी संतान पर माता-पिता का प्रेम अधिक रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी की अपेक्षा भक्त पर भगवान् का वात्सल्य अधिक होता है—

भक्त बाल बड ज्ञानि सुत, जुग्म जानि जदुराइ,
पै न प्यार वाछल्य व्हाँ, सिसु पै अति अधिकाई ॥३१५॥

हरि-भक्तों के सम्बन्ध में कवि की एक अत्यन्त सुन्दर उक्ति देखिए—

फनि निवास, दिवि, सिंधु विधु, सुधा नाहि विधु-मुख,
गरल, पात, अरु सार, क्षय, पति, मृग, कठ पियूख ॥३२२॥

(अमृत न पाताल में है, न स्वर्ग में, न सिंधु में, न चन्द्रमा में और न चन्द्र-मुखी के अधरों में है। वह निश्चय ही हरिजनों के कठ में है। क्योंकि यदि

१. दोहा २९६। २. दोहा २९७।

पाताल में अमृत है, तो नागो के मुख में विष क्यों है ? यदि स्वर्ग में है, तो वहाँ से लोगों का पतन क्यो होता है ? यदि समुद्र में है, तो समुद्र खारा क्यों है ? यदि चद्र में है, तो उसका क्षय क्यों होता है ? अगर चंद्रमुखी में है, तो उसके अधरामृत का पान करनेवाला मर क्यो जाता है ? तात्पर्य यह कि अमृत हरिजनो में है।)

पाद प्रकरण

इस लघु प्रकरण में कवि ने परमात्मा को साकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कवि कहता है कि पुत्र पिता के अनुरूप होता है। अत साकार मानव का पिता निराकार कैसे हो सकता है

> निराकार सब को कहें, पै प्रभु हैं साकार
> जो अवयव नहिं ईस तो, लह्यो कहाँ संसार ॥ ३०॥

नाम-माहात्म्य

इस प्रकरण में कवि ने नाम की महिमा का वर्णन किया है। वह कहता है कि इस संसार मे ऐसा कोई पाप नही, जो हरिनाम से नष्ट न हो सके। कवि चरसिए का दृष्टात देते हुए कहता है कि चरसिया कुएँ पर चरस खीचते समय राम-नाम पुकारता है। बिना सोचे-समझे लिए गए रामनाम का प्रताप देखिये कि अनेक नर-नारी चरसिया का चरणोदक पीते हैं। श्रद्धा के साथ सच्चे हृदय से एक बार भी यदि नाम लिया जाय, तो जीवन के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। देखिए—

> चित्तभाव बिनु चरसिया, सहज पुकारे राम,
> वाको पय पद पिवत बहु, लखि प्रताप हरिनाम ॥३३६॥
> टरे न श्री हरि नाउँ सों, ऐसो अघ नहिं कोय।
> ऐसो वस्तु न होय जो, नभ निमग्न नहिं होय ॥३४१॥

आश्रय प्रकरण

इसमें कवि की पुष्टिमार्गीय विचारधारा व्यक्त हुई है। कृष्ण का आश्रय प्राप्त कर लेने पर होनेवाली निश्चितता और तृप्ति का इस प्रकरण मे वर्णन है। आश्रय प्राप्त हो जाने पर भक्त की चिंता भगवान् को रहती है और भक्त को कभी निराश भी नही होना पडता—

आश्रय घन घनश्याम जिहि, सो कब्रु बनि निरास।
जलद अनावृष्टी हु में, बुजवत चातक प्यास ॥३४५॥
चिंता तू चित क्यों करे, विश्वम्भर व्रजपाल,
सक्कर सक्कर खोर को, दधि मधि देत दयाल ॥३४८॥

विवेक-शिक्षा

इस प्रकरण के दोहे ज्ञान और नीति के दोहे हैं। इन दोहों से दयाराम की बहुज्ञता, सुरुचि-संपन्नता एवं मर्मज्ञता का अच्छा परिचय मिलता है। दयाराम अनुभवी तो थे ही, उन्हें अपने प्रत्येक अनुभव को चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यक्त करना भी आता था। कवि की बहुत-सी उक्तियो, पर यद्यपि प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी के सुभाषितो की छाया है तथापि कहने का ढंग अवश्य मौलिक है। इसीलिये पहले से सुनो बात भी आकर्षक प्रतीत होती है। दयाराम के इन दोहों को देखकर हिन्दी के रहीम और वृन्द के दोहों की याद आए बिना नहीं रहती। कहीं-कहीं तो वे इन कवियों से भी आगे बढ गए हैं—

दारा, निंदा, सम्पदा, परजन जिन करि प्यार।
प्यारी सोई प्रान ले, जैसो भाट कटार ॥३६७॥

बड़े नाम तें का भयो, काज बड़ो नहिं होत।
कहे अरक सब आक कूं, पें नहिं होत उदोत ॥३७६॥

सुमरन काल सु टरि गयो, सु मरन काल टरैन।
काल काल सुमरे न हरि, काल फाल सुमरैन ॥४१६॥

दानो दुसमन हू भलो, बुरो मीत नादान।
अहित हु में हित सुत्त के, ले जड़को हित प्रान ॥४५२॥

गोपालन ललचाइतू, गोपालन चित चाहि।
गोपालन भय नाहिं अब, गोपालन गहि बाँहि ॥४५८॥

शिक्षा-विवेक-प्रकरण

इस प्रकरण के अंतर्गत भी कवि ने पिछले प्रकरण की भाँति नीति और ज्ञान की बातें कही हैं। प्रत्येक उक्ति अपने आप में अनूठी है—

जनक जननि गत परिरसा, सुनु असक्य पितु मात।
मित संकट दारिद्र तिय, बाँटा बाँटत भ्रात ॥५२६॥

पोथी प्रमदा लेखनी, गइ सु गई पर पानि।
फिरि कबु लहि तहु मरगजो, भ्रष्ट भग्न, लिहु जानि ॥५५६॥

हरि भगती हो छाँहि तो, मुकति-मुकति बत पाय।
हरि भगती हो छाँहि तो, मुकति-मुकति बत पाय ॥५६४॥

(हरि = १ स्वर्ण, २ भगवान। भगती = १ स्त्री, २ भक्ति। छाँहि = १ छाये रहना, २ छाया। मुकति = १ मुक्ति, २ अकल्याण! बत = १ खेद; २ हर्ष पाय = १ पाँव, २ प्राप्त करें।)

कहीं-कहीं वास्तव में सुदर, सरस एवं मौलिक उद्भावनाएँ हैं—

बिरहानल उपचारतें, बढ़े अनोखी चाल।
पय परसत ज्यों उठत बड़, तप्त तैलतें ज्वाल ॥५७६॥

प्रीति जुरी प्रकृति न मिति, यह दुहु पल दु ख पाय।
रोटी गंडेरी चबो, क्यों डारे क्यों खाय ॥६४२॥

प्रस्ताव प्रकरण

इस प्रकरण में कवि फिर अपने आराध्य देव की महिमा से अभिभूत होकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकट करता है। एक दोहे में तो वह श्रीकृष्ण से प्रीति-रूपी कन्यका का विवाह करके अपना संबंध भी स्थापित कर लेता है—

प्रीति रूप मो कन्यका, तुम्हें ब्याहि मैं कृहान।
वरवट राखो आप ढिग, देहु छड़ाय कुवान ॥६५५॥

अंत में कवि हरि, गुरु और हरि-भक्त का ऐक्य सिद्ध करता है—

हरि गुरु, हरिजन एक त्रय, ज्यों गंगा त्रीधार।
भोगवती, भागीरथी, मंदाकिनी विचार ॥६८५॥

काठिन्यार्थ प्रकरण

वैसे तो पिछले प्रकरणों में भी अनेक दोहे ऐसे हैं, जिनका अर्थ सहज ही समझ में नहीं आता, पर इस प्रकरण में कवि ने जैसे जान-बूझकर क्लिष्ट दोहे लिखे हैं। दयाराम की यह मान्यता थी कि काव्य की श्रेष्ठता उसकी कठोरता में ही निहित है—

दैत्य मिले तें दुख टरें, स्वजन मिलत सुख जाय।
प्रान रहे बिखपान तें, हरी भजन दुखदाय ॥६८१॥

(दैत्य = प्रिय, श्व = कुत्ता, विष = जल, हरी = काम, स्वर्ण)

प्रतितियतें इक नर भयो, प्रति नरतें इक नारि।
नारी सेवत हरि मिलें, नर सेवत जमद्वारि ॥६६६॥

(प्रतितिय = चूड़ियाँ । नर = चूड़ा । प्रतिनर = माला के मणके । इक नार = माला ।)

दुर्ग काव्य कुसमांड कुच, ऊख कठोर त्यों सार।
तन, मन, बानी तुलसिदल, भल कोमल यह चार ॥७०२॥

काव्य चातुर्य

'काव्य चातुर्य' के अंतर्गत कवि ने एकाक्षर, द्वयाक्षर, प्रतिप्रचरार्थ, प्रतिपदाक्षर, प्रश्नोत्तर और गतागत दोहे लिखे हैं। साथ ही चित्रकाव्य और उसके कुछ भेद भी चित्रों-सहित दिए हैं। चित्रकाव्य में गोमूत्रगति, अश्वगति, त्रिपदी, कपाटबंध, धनुषबंध, कमलबंध, हारबंध आदि चित्र-विचित्र रचनाएँ हैं यथा :

एकाक्षर दोहा

नै नै नैनौ नैन नै, नैनां नांन न नून।
नौ नानानैं नानुना, नानैंन नु नु नून ॥७१०॥

प्रतिपदाक्षर दोहा

कं कं क कं कं क कि, सं सं स सं सार।
गो गौ ग गे गाग गो, ससी सास सं सास ॥७१३॥

भाषा विवेचन

दयाराम कृत 'सतसैया' ब्रजभाषा मे है। जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं इस गुजराती कवि के हृदय में ब्रजराज, ब्रजमडल तथा ब्रजभाषा के प्रति अनन्य अनुराग था। ब्रजभाषा यद्यपि मूलत ब्रजमडल और उसके आसपास के क्षेत्रो की भाषा थी तथापि प्रारभ ही से उसका व्यवहार क्षेत्र बडा व्यापक था। राजस्थान के कवि जहाँ स्वभाषा (डिंगल) में काव्य रचना करते थे वहाँ साहित्यिक ब्रजभाषा (पिंगल) मे भी रचनाएँ करते थे। बिहार, बगाल, पजाब, महाराष्ट्र, एव गुजरात में भी कवि स्वभाषा में रचना करने के साथ-साथ इस सर्वमान्य काव्य भाषा में काव्य रचना किया करते थे। भिखारीदास ने ब्रजभाषा की इस व्याप्ति का लक्ष्य करके ठीक ही कहा था—

ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो।
ऐसे ऐसे कबिन्ह की बानी के जानिये॥

(काव्य निर्णय, भिखारीदास)

अकेले गुजरात में ब्रजभाषा में रचना करनेवाले सैंकडो कवि हुए है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि जो भाषा अपने प्रदेश तक ही सीमित न रहकर सुदूर प्रदेशो तक सामान्य काव्य भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगती है उसके स्वरूप में यत्किंचित परिवर्तन प्रादेशिक प्रभावों के कारण हो ही जाता है। जिस तरह बिहार, बगाल और असम के कवियो द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा ने एक विशेष स्वरूप ग्रहण कर लिया उसी प्रकार राजस्थान, गुजरात एव महाराष्ट्र के कवियो द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा भी केन्द्रवर्ती ब्रजभाषा से किंचित भिन्न तथा प्रादेशिक विशिष्टताओ से समन्वित रही। जो लोग भाषा-शुद्धि का अत्यधिक आग्रह रखते है उन्हें तो इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर तो सूर की भाषा भी खरी नही उतरती। शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग करनेवाले कवियों की संख्या हिन्दी में बहुत थोडी हैं। बिहारी की भाषा में भी बुदेलखडी और पूर्वी प्रभाव है। वस्तुत ब्रजभाषा भाषा-परपरा के रूप में व्यवहृत हुई और उसमें किसी ने पूर्वी का पुट दिया तो किसी ने राजस्थानी का, किसी ने बगाली की सुगध से उसे सुवासित किया तो किसी ने गुजराती अथवा मराठी की सुमधुरता से उसे सिक्त किया। हमारे यहाँ भाषा क्षेत्र में समन्वय पद्धति प्रारभ से ही प्रहीत रही हैं। चदवरदायी ने— "षड्भाषा पुरान च कुरान कथित मया" कहकर इसी वैविध्य की ओर

सकेत किया है तथा आगे काव्य निर्णय में भिखारीदासजी ने भी कहा है—

ब्रज मागधी मिल अमर, नागजवन भाषानि।
सहज पारसी हू मिलै, षटविधि कहत बखानि ॥

(काव्य निर्णय—११-५)

तुलसी और गग का भाषा में भी विविध भाषा पद्धतियो का समावेश था—

तुलसीगग दुवौ भये, सुकविन के सरकार।
इनके काव्यन मे मिली, भाषा विविध प्रकार ॥

(काव्य निर्णय १-१७)

इसी प्रकार निम्नलिखित उक्ति से भी यही प्रतिपादित होता है कि ब्रजभाषा में मेल मिलाप की न केवल छूट थी वरन वह वाछनीय था।

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिलै सस्कृत पारस्यौ, पै अति निर्मल होय ॥

(काव्य निर्णय—१०-५)

उपर्युक्त विवेचन से हमारा तात्पर्य केवल यही है कि ब्रजभाषा एक व्यापक काव्यभाषा थी तथा उसमे प्रादेशिक प्रयोगो के लिए पर्याप्त छूट थी। गुजरात के कवियो ने भी इस भाषा में काव्य रचनाएँ की है जिनमें दयारामकृत 'सतसैया' भाषा की दृष्टि से भी अपना विशिष्ट एव महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

दयाराम मूलत गुजराती थे। ब्रजभाषा का ज्ञानार्जन उन्होने पुष्टिमार्गीय ग्रथो के अनुशीलन तथा ब्रजमडल की यात्राओ के द्वारा किया था। ब्रजभाषा का विधिवत अध्ययन करने का समुचित सुअवसर उन्हें नहीं मिला था अत सतसैया में प्रयुक्त ब्रजभाषा का स्वरूप यदि व्याकरण सम्मत, प्राजल एव परिमार्जित न हो तो वह स्वाभाविक ही कहा जायगा। फिर भी दयाराम एक सुरुचि सपन्न एव निपुण कवि थे। ब्रजभाषा का प्रयोग करते समय अन्य गुजराती कवियों की तुलना में वे अत्यत सतर्क एव सजग रहे हैं और प्रादेशिक प्रभावों से मुक्त रहने का भी उन्होंने यथासभव प्रयास किया है। सबसे पहले हम दयाराम की शब्द योजना पर विचार करेंगे। सतसैया में कवि ने तत्सम, अर्धतत्सम, तद्भव एव देशज शब्दो के प्रयोग के साथ-साथ विदेशी शब्दो का भी खूब छूट से प्रयोग किया है। सतसैया के प्रथम तीन सौ दोहों के आधार पर कवि के द्वारा प्रयुक्त तत्सम, तद्भव एव विदेशी शब्दो के उदाहरण दिये जाते हैं।

तत्सम शब्द

पकज (१), श्रुति (३), कटाक्ष (४), पुष्कर (५), कृति (८), क्रोध (६), कृपा (१४), शब्द (१६), ललित (२६), नृप (३६), शत्रु (४४), व्याल (५१), विष (५१), सताप (५६), मृग वय (५६) विस्मृति (५६), रश्मि (५६), परस्पर (६८), दृढ (६८), रति (७१), परिताप (?), चपल (६१), मृगमद (६२), कपि (६२), प्रेमामृत (६४), पीताबर (६५) नैन (६८) पद पकज (१०२), द्रव्य (१०३), तृप्ति (१०४), नूतन (१०६), अनुराग (११०), भूप (११५), वल्लरी (११७), मृदु (११८), नाराच (१२०), सरोज (११४), भूप (१२१), मूढ (१२१), चित्त (१२२), प्राची (१२६), कन्या (१२०), दुग्ध (१२७), निर (१२७), पय (१२७), पावक (१२७), रक (१२६), स भूप (१२६), दीप (१३१), विहग, (१३६), परोक्ष (१३७), माक्ष (१३७), गात्र (१३६), पात्र (१३६), पुडरीक (१३६), प्रज (१४०), समुद्र (१४६), दधि (१५१), मत्र (१५४), सार्धत्रय (१५४), मातग (१५५), हर्ष (१५८), यत्न (१६०), हृ (१६१) प्रतिबध (१६२), अष्टापद (१६५), ग्यानि (१६७), चपला (१७५), अपमान (१८१), प्रत्युपकार (१८३), द्रुम (१६०), कनकलता (१६३), कचुकी (२०३), कैतव (२११), असूया (२१५), अपुसक (२२०), वय (२३४), तोय (२४०), प्रतिबध (२४२) सताप (२४४), गोलक (२५१), शस्य (२५२), कटि (२५८), कुच (२५८) मीनकेतु (२६८) खग (२८१) द्विजराज (२८१) दधिसुत (२६०), स्मार्त (२६०), दरिद्र (२६४), हस्त (३००)।

उपयुक्त शब्दावली क अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दयाराम की भाषा का ताना-बाना मूलत. सस्कृत तत्सम शब्दावली पर ही आधृत है। कवि ने अनेक सस्कृत शब्दो की उच्चारणगत कठोरता को दूर करके ध्वनि परिवतन के द्वारा उन्हें श्रुति मधुर बनान का भी प्रयत्न किया है। ऐसे शब्दो को हम अर्ध तत्सम कह सकते हैं—

अपन (३३), सरनागत (३४), विश्वास (४०), स्नेह (५३), चितामनि (६१), पियुष) (८३), परमान (६२), धरम (६७), विप्रीत (६६), दुग (१०३), गुन (१०३), दृढ (१०३), प्रान (१०५), अरविंद (११०), कारन (१११), विदित (११५), निपुन (१२६), फूखन (१३२), वस्तु (१६७), अवकास (१८८), कटाक्ष (१६२), आभरन (१६३), मनि (२०३), वृथा (२१३), परभरा (२५१), मानि (२५२), निखल (२५५), प्रनाम (२५६), धरम (२७७)।

दयाराम द्वारा प्रयुक्त तत्सम एव अर्धतत्सम शब्दों के पश्चात् अब हम तद्भव शब्दावली पर भी दृष्टिपात करेंगे। ब्रजभाषा का माधुर्य वस्तुत उसकी तद्भव शब्दावली में ही निहित है। दयाराम ब्रजभाषा भाषी तो थे नहीं, अत उन्हें तत्सम शब्दावली का सहारा विशेष लेना पडा, किन्तु कवि ने ब्रजमडल से अपने दीर्घकालीन सपर्क एव व्रज साहित्य के अनुशीलन से ब्रजभाषा की तद्भव शब्दावली का भी पर्याप्त सग्रह कर लिया था। प्रस्तुत सतसई में तद्भव शब्दो का भी प्रयोग मिलता है—

तद्भव

(मो) (४३), अनु (४४), व्योहार (४८), बैंद (५०), छमा (५६), दीठि (७६), जदपि (७४), मीत (१२०), अटारी (१५८), खरक (१७६), पानी (१८७), दीठि (१८८), सेज (२०६), आगि (२२७), परस (२५५), भ्रो (२५८), पदाती (२६२), जोबन (२६३)।

देशज

लोट (३३) झटपट (१३०), ल्हान (१६०), सभालू, (१६७), सानसी (२४६),

विदेशी शब्द

दयाराम सतसई में फारसी अरबी शब्दो का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यह उस काल की एक सामान्य प्रवृत्ति थी—"मिलें सस्कृत पारस्यौ पै अति निरमल होय।" कवि अपनी रचनाओं में सस्कृत एव फारसी शब्दों का प्रयोग छूट से करते थे। यह प्रवृत्ति विहारी सतसई में भी देखी जा सकती है। कुछ कवि तो प्राय अपने भाषाज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए ही अपने काव्य में विविध भाषाओं अथवा उनकी शब्दावली का प्रयोग किया करते थे। दयाराम भी इस प्रदर्शन प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं थे। वे अनेक भाषाएँ जानते थे, और उनमें काव्य रचनाएँ भी करते थे। कभी-कभी एक ही पद में अनेक भाषाओं का प्रयोग करते थे।[1]

---

१ निम्नलिखित छप्पय दयाराम के बहुभाषाज्ञान का उदाहरण है कहा जाता है इसमें कवि ने १२ भाषाओं का प्रयोग किया है—

गिरिधर मु जो प्राण १ तुहो शामलडा प्यारा २।

मादर पिदर बिरादर ३ दुश्मन खलक बिचारा ४।

दयाराम सतसई में अरबी-फारसी शब्दावली का खूब छूट से प्रयोग हुआ है। ये शब्द तीन रूपों में प्रयुक्त हैं। (१) अपने मूल रूप मे; (२) उसी अर्थ में किन्तु थोड़े तोड-मरोड कर; (३) विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त शब्द।

मूल रूप में प्रयुक्त शब्दो की संख्या पर्याप्त है—

गरीब निवाज (३२), गुलाम (४७), दगा (३६), माशूक (११३), आशिक (११६), शेख (४४७), शोख ४४७), बद (४४५), सताब (४४५), पँजार (१३८), दुरबीन (४२७), ईरान (५४६), जोरावर (६१८), आदि।

अब ऐसे अरबी-फारसी शब्दो को लीजिये जिन्हें कवि ने इच्छा एवं आवश्यकतानुसार खूब तोड़ा-मरोडा है—एतराज के लिए अतराजी (३०), गुनहगार के लिए घुनेभार (१६, ४४६), जवाब के लिए जुवाप (८४), मुश्किल के लिए मुश्केल (४५७), गहने के लिए घहने (८४), मशक्कत के लिए मसागत (६७६) आदि।

कही-कही कवि ने अपनी इच्छानुसार शब्द गढ लिए हैं, जैसे मर्द से मर्दानगी न बनाकर मरदी (११), दर्द से बीमार के लिए दरदी (२६६), कही अफसोस के स्थान पर केवल सोस से काम चला लिया है (२४९), तो कही बहबच्चा के लिए बिहारी की भाँति चहल शब्द का प्रयोग किया है (१५५)।

कुछ शब्दो का कवि ने विशेष अर्थ में भी प्रयोग किया है। यथा : 'जाली' नकली के अर्थ में प्रयुक्त न होकर जाल बनानेवाले अहेरो के लिए प्रयुक्त है (६७०), 'सिकन्दरी' सिकन्दर से सम्बन्धित न होकर जहाजो को रास्ता दिखानेवाली पुतली के लिए प्रयुक्त है (५७४), ससदस्त (सहस्र) हजार दास्तान के लिए प्रयुक्त है (११३)

विशेषार्थ में प्रयुक्त शब्द :

न केवल अरबी-फारसी शब्दों को वरन् संस्कृत शब्दो को लेकर भी कवि ने

माटा मँचो विनिपु ५ स्वामी इक डारी ६।
जानी जियकी पीर ७ मनोरथ पूर्‌या म्हारा ८।
हरिन को कोणाचा ९ प्रेम। थैत्वमेव स्वामी निरंतर १०।
मंद महर को तुबा ११ दयाप्रभु याको दासी म्हांकका डर १२॥

१ कच्छी, २ पंजाबी, ३. फारसी, ४ उर्दू, ५. तेलगू, ६. द्राविड़, ७ हिन्दी, ८. गुजराती, ९. मराठी, १०. संस्कृत, ११. पूर्वी, १२, मारवाड़ी।

या तो खूब तोडा-मरोडा है या फिर उनका विशेषार्थ में प्रयोग किया है। यथा :

विद्वान के लिए विद्वन (८४), छीक के लिए छिक्का (२११), मूढ के लिए म्हूर (२७५), तन के लिए तन्न (४५०), मन के लिए मन्न (४५०) आदि।

विशेषार्थ में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों के भी कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

रस का प्रयोग पारे तथा जहर के अर्थ में (७१), इन्द्रियों के लिए रसिक का प्रयोग (२१६), अदास का प्रयोग विष्णु के अर्थ में (२६३), विपत्ति अर्थात् गरुड (२६३), प्रधान = भाया (३६३), नभमास = श्रावण (३५२), वनचर = मछली (६८) इत्यादि।

प्रेम का सयोगपक्ष :

प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। दाम्पत्य-प्रेम या रति के परिपाक को शृङ्गार रस कहा गया है। शृंगार ही एक ऐसा रस है जिसके दो पक्ष हैं—एक संयोग तथा दूसरा वियोग। एक पक्ष सुखात्मक है दूसरा दुःखात्मक। दूसरी दृष्टि से देखें तो संयोग प्रेम का बहिर्वृत्ति प्रधान और वियोग अंतर्वृत्ति प्रधान पक्ष है। संयोग आलंबन के रूप और चेष्टाओ का वर्णन होता है। काव्य में नखशिख, षड्ऋतु में आदि का वर्णन सयोग-वर्णन के अंतर्गत किया जाता है। बिहारी ने अपनी सतसई में संयोग शृंगार की सभी स्थितियों का बडा ही सुन्दर चित्रण किया है। नायक को कबूतर या गुडी उडाता देखकर उल्लसित नायिका के मनोभावो के चित्र बडे ही रमणीय हैं। इसी प्रकार 'बतरस लालच' में नायिका द्वारा लाल की मुरली लुका देने और फिर खिलवाड करने की उद्भावना भी बडी ललित एवं मनोरंजक है। वस्तु वर्णन अवश्य साधारण एवं चलता हुआ सा है।

'दयाराम सतसई' में भी प्रेम के दोनों पक्षो का सतुलित निरूपण हुआ है। संयोगान्तर्गत रूप, प्रेम और नायिका की चेष्टाओ का सुन्दर निरूपण देखने को मिलता है। कवि ने नायिका की वेनि, नेत्र, अधर, वक्ष, कटि, चरण महावर आदिका वर्णन किया है, जिसे चाहें तो हम नख-शिख वर्णन के अंतर्गत ले सकते हैं। संयोगान्तर्गत क्रियाविदग्धा एवं वाग्विदग्धा नायिकाओ की चेष्टाओ का सुन्दर चित्रण हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है।

नायक-नायिका एक दूसरे की तरफ पीठ किये अपनी-अपनी अटारियों पर दर्पण साधे बैठे है और दर्पण में सकेतो से वार्तालाप करके आनन्दित हो रहे हैं :

> **दोउ अटारी पीठ दै, किये दरस आदर्प।**
> **मिलि कर नइ वइ चुटकि प्रय, पिय तिय उदयो हर्ष ॥ १५८ ।**

गोशाला की सफाई करते समय गोपिका नन्द किशोर को निकट देखकर कहती है मेरे हाथ गोवर में सने है। तुम्हारा क्या, तुम तो अभी बच्चे हो, जरा मेरा आचल ठीक कर दो—

बरक सवारों कर भरे, गोवर छूट उर छोर।
ऐहैं बड़ को बाल तुम, ढापिय नंदकिशोर ॥ १७१।

तात्पर्य यह कि दयाराम ने संयोग शृंगार का निरूपण अपने काव्य में किया है, पर आगे के विवेचन से स्पष्ट हो जायगा कि उनका मन संयोग की अपेक्षा वियोग-चित्रण में अधिक रमा है।

प्रेम का वियोग पक्ष :

जैसा कि हम कह आये हैं शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनो पक्षो का दयाराम सतसई में समुचित निरूपण हुआ है। संयोग के अंतर्गत जहाँ नायक-नायिका के हास-विलास का वर्णन, वन विहार, जल केलि, नृत्य, गीत, आभूषण, उपभोग, श्रवण, दर्शन, क्रीडा आदि सैकडो प्रकार से किया गया है वहाँ विप्रलंभ शृंगार में वियोगजन्य दु.ख का वर्णन है। अनुराग की तीव्रता का मापदंड वियोग है। दयाराम ने उचित ही कहा है—

'जिमि आरति तिमि रति बढ़ै' (द. स. १६५)

तथा

'जितो विरह-संताप तितो प्रेम परमानियें' (द स.—२४४)

इस विप्रलंभ अथवा विरह के शास्त्रानुमोदित चार भेद है १—पूर्वराग, २. मान, ३. प्रवास एवं ४. करुण। प्रिय का संयोग होने से पूर्व उसके गुणश्रवण, दर्शन आदि के कारण जो आकर्षण और न मिलने के कारण जो विवशताजन्य वेदना होती है उसे पूर्वराग कहते हैं। संयोग होने पर प्रेमाधिक्य में किसी अन्य पात्र अथवा घटना के कारण किंचित् व्याघात उपस्थित हो जाता है और नायक-नायिका परस्पर रूठ जाते है उसे मान कहा जाता है। मान प्रायः 'ईर्ष्या हेतुक' ही होता है और अन्यस्त्री अथवा पुरुष के प्रति आसक्ति-भ्रम के कारण उत्पन्न होता है। करुण विप्रलंभ मृत्यु के पश्चात् भी मिलन की आशा के कारण होता है।

विप्रलंभ के इन चार प्रकारो में से प्राय: प्रथम तीन ही काव्य में विशेष प्रयुक्त हैं। करुण विप्रलंभ शोकजन्य होने के कारण बहुत कम ग्रहीत हुआ है। बिहारी ने भी अपनी सतसई में पूर्वराग, मान और प्रवासजन्य विप्रलंभ का ही

ऊहात्मक वर्णन किया है। विरह वर्णन के अंतर्गत बिहारी का विशेष ध्यान 'नीठि पिछानी जाय', 'चढी हिंडोरे पर रहे' आदि उक्तियों में नायिका की क्षीणता एवं दुर्बलता की ओर ही रहा है। विरह की उत्तप्तता के कारण नायिका की सखियों और पडोसियों की कठिनाई का वर्णन 'साहस ककै सनेहवस सखी सबै ढिग जाति' और 'परयो परोसिन पाप', मजाक की हद तक पहुँच गया है। वस्तुतः वह युग ही ऊहा का था और विरह वर्णन के अंतर्गत प्रतिशयोक्ति का बोलबाला था। एक कवि ने तो विरह विदग्धा नायिका के लिए यहाँ तक कह डाला कि—

'छाती सों छुवाय दिया बाती क्यों न बारिलैं।'

इस संदर्भ में दयाराम के विप्रलंभ एवं वियोग वर्णन पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उसे हम अत्यधिक संयत एवं मर्यादित पाते हैं।

दयाराम ने मानवती नायिकाओं के मान का अत्यन्त प्रभावोत्पादक चित्रण किया है। दयाराम के कथनानुसार मान मिसरी के सदृश्य है, दिखने में कठोर पर चखने में मीठा। दयाराम ने इसी मीठे मानका हृदयग्राही एवं स्वाभाविक चित्रण अपने काव्य में किया है। मान वर्णन के संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि द्वारा वर्णित यह मान फारसी ढंग का अतिरंजित बेवफाई पर आधृत मान न होकर भारतीयता, विशेषत. गुजरात के अनुरूप चित्रित हुआ है। दयाराम की नायिकाएँ मान तो अवश्य करती हैं, पर उनका मान क्षणिक होता है। नायक जब अपने मुकुट का मयूर पंख नायिका के चरणों में रख देता है तो वह तुरंत मान तजकर मुखर हो जाती है।[१] यदि नायिका मान किये है और मानती ही नहीं तो नायक झूठी छींक खाता है। छींक से नायक के अस्वस्थ होने का अनुमान कर नायिका उतारी हुई नथ (सौभाग्य का चिह्न) तुरन्त धारण कर लेती है और मान तज देती है।[१] दयाराम की मानिनी नायिकाएँ भी कम विलक्षण नहीं हैं। ईर्ष्या के कारण नायक की प्रत्येक वस्तु को वे पुलिंग में ही संबोधित करती हैं। नायिका माला को हार, पंधिया को 'पाघ' कहती है।[२] इसी प्रकार नायक के मुकुट में अपना प्रतिबिंब देखकर मान कर बैठनेवाली भोली नायिकाओं के मान का भी अत्यंत स्वाभाविक चित्रण दयाराम ने किया है।[3] कवि विरह संताप को प्रणय के लिए अनिवार्य मानते हैं। दयाराम के मतानुसार विरह संताप ही प्रेम का मापदंड है।

१ दोहा २१०। १ दोहा २११। २ दोहा २१५। ३ दोहा २१७।

मान की भाँति प्रवासजन्य विरह का भी दयाराम ने अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। विरह की वेदना नटसाल की तरह हृदय मे खटकती है। प्रियतमरूपी चुंबक के बिना वह किसी अन्य उपाय से निकल नही सकती। कवि ने अनेक परिस्थितियो के द्वारा प्रोषित भर्तृका नायिकाओ की मनोदशाओ को चित्रित किया है। नायक का पत्र पाकर विरहिणी नायिका पढे बिना ही उसका मर्म समझ जाती है कि नायक की विरहाकुल है और सतोष अनुभव करती है।[४] इस विरह की तीव्रता अपने चरम रूप मे वहाँ प्रकट हुई है जहाँ नायक के न आने पर नायिका अपने प्राण त्यागने पर प्रस्तुत हो जाती है।[५] कही-कही विरह वर्णन में बिहारी की सी अतिशयोक्तियो एवं ऊहा का भी परिचय मिलता है। नायिका उसकी सखी कपूर के मनको की माला पहनाती है पर माला के मनके हृदय की विरहाग्नि के कारण दीपको की तरह जल उठते है।[६] नायिका इतनी उत्तप्त है कि अपनी विरह-व्यथा जिससे कहती है उस सुननेवाले का तन भी उत्तप्त हो जाता है। किंतु ऊहा के ऐसे वर्णन एक-आध ही है। बिहारी की भाँति उनकी नायिकाएँ न तो इतनी दुर्बल है कि श्वासो के हिंडोरे पर चढ़ी रहें और न इतनी क्षीणकाय कि यमराज को नाक पर ऐनक चढाकर ढूँढने पर भी दृष्टिगत न हों। वे इतनी उत्तप्त भी नही है कि पडोसियो का सर्दी के दिनो में भी रहना कठिन हो जाय। बिहारी की भाँति दयाराम ने भी ऊहा एवं अतिरजना का सहारा लिया है, पर एक मर्यादा में रह कर। करुण विप्रलंभ के भी संकेत सतसैया में मिलते है। कवि कहता है 'जो मरा वह जिया और जो जीवित रहा वह समझो जीतेजी द्विगुणित दुखो से मर गया।[७]

'दयाराम सतसई' प्रसग-विधान :

प्रबध और मुक्तक काव्य में सबसे बडा अतर यही है कि प्रबंध काव्य में सानुबन्धता तथा कथा तारतम्य का प्रारम से अंत तक निर्वाह रहता है जबकि मुक्तक काव्य मे पूर्वापर प्रसग के अभाव में अर्थ करत समय कल्पना के द्वारा ही तदनुकूल प्रसंगो की उद्भावना करनी पड़ती है। रस, सूक्ति एव नीति मुक्तको का अर्थ करते समय तदनुरूप प्रसगों की उद्भावना अर्थग्रहण के लिए आवश्यक हो जाती है। एक तो शृंगार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, दूसरे हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों द्वारा गृहीत कुछ प्रसग ऐसे परंपरानुमोदित बन गये कि परंपरा ज्ञान के

---

४ दोहा २२८। ५ दोहा २३२। ६ दोहा २३४। ७ दोहा २४१।

बिना नायिका भेदादि विषयक मुक्तकों का अर्थबोध ही असभव हो गया। उदाहरणार्थ "नीर भरी गगरी ढरकावे" का अर्थ करने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह कल्पना करें कि नायिका अज्ञात यौवना है और उसके नेत्र मीन के सदृश हैं अत जब वह नीर भरी गगरी में झाकती है तो अपने मीन नेत्रों के प्रतिबिंब को घडे में देखकर भ्रमवश यह समझती है कि घडे में मछलियाँ आ गई हैं। इसीलिए वह बार-बार गगरी को भरती है और ढरका देती है। हिंदी के रीतिकालीन कवियो ने ऐसे कविप्रौढोक्तिसिद्ध प्रसंगो को ऊहा करने में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। बिहारी के "परतिय दोष पुरान" कहने वाले मिश्र, "बहुघन लै अहसानु कै' पारद भस्म देनेवाले वैद्यराज और अपने पुत्र की जन्म कुडली में "जारज जोग" देखकर हुलसने वाले ज्योतिषी की प्रसगोद्भावना इसी प्रकार की है।

दयाराम सतसई यद्यपि पूर्णत रीतिग्रथ नहीं है किंतु अशत रूपचित्रण, शृगार वर्णन एव नायिका वर्णन सबधी दोहों में रीतिकालीन काव्य परपरा का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगत होता है। बिहारी की भाँति दयाराम ने भी सतसई में नायक-नायिका के नोंक-झोंक और हास-विलास का वर्णन किया है। अतर केवल इतना है कि जहाँ बिहारी खडिता नायिका और सौत के पचडे में पडकर पलकों पर पीक, अधर पर अजन और मस्तक पर महावर की सूक्ष्मता में फँसे रहे और ऊहात्मक उक्तियो में अतिशयोक्ति की चरम सीमा पार कर गये वहाँ दयाराम अपेक्षाकृत सयत एव मर्यादित रहे हैं। दयाराम ने भी प्रेम और शृगार विषयक विविध प्रसगों की उद्भावना की है किन्तु उनके दोहे अपेक्षाकृत सरल हैं। अर्थग्रहण के लिए प्रसग की उद्भावना उनमें भी करनी पडती है, किन्तु वह हिन्दी के रीतिकालीन कवियो के जैसी गूढ़ एव ऊहात्मक नहीं होती। कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

जेठ दुपेरी दुसह तप, सुनहु बटाऊ छैल।
पुरतें पर बन सघन में, घटि टकि गहियो गैल ॥१७८॥

इस दोहे का अर्थ करने के लिए स्वय दूतिका के सदर्भ में कुछ इस प्रकार प्रसगोद्भावना करनी होगी—नायिका नायक को जाते देख कर जेठ की दुपहरी के दुस्सह ताप के व्याज से नायक को सकेत-स्थल पर मिलने का आमत्रण दे रही है। एक अन्य दोहा द्रष्टव्य है—

सब ठां गुनि के संग तें, पावें सब सनमान।
अगुनवती उर पे धरी, क्यों न होइ अपमान ॥१८१॥

प्रस्तुत दोहे के अर्थ के लिए यह कल्पना करनी होगी कि परकीया के हार का चिन्ह नायक के वक्षस्थल पर अंकित हो जाने के कारण स्वकीया खंडिता नायिका कुपित होकर नायक की भर्त्सना कर रही है।

प्रसंगोद्भावना में यह ऋजुता दयाराम सतसई में सर्वत्र नहीं है। कहीं-कहीं ये अवतरण प्रहेलिकाओं के सदृश अत्यंत कठिन एवं दिमागी कसरत जैसे भी हैं। उदाहरणार्थ :

आकपात श्रीफल धर्यो, मुरली बर के पान।
ढिग यहों जोरी सखि प्रिया, कन्ध छुआयो कान ॥१८६॥

क्रियाविदग्धा नायिका का यह निरूपण मध्यकालीन सांकेतिक प्रेमालाप प्रक्रिया का अच्छा उदाहरण है। इसे समझने के लिए पहले तो यह उद्भावना करनी होगी कि दूती नायक का संदेश लेकर नायिका के पास आई है। नायिका गुरुजनों के पास बैठी है इसलिए दूती और नायिका के बीच सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक प्रश्नोत्तर होता है। दूतिका के द्वारा आक-पात पर श्रीफल रखने का अर्थ करना होगा, आक (सूर्य) के विदा होने पर रात्रि के प्रथम प्रहर में (श्रीफल) अभीष्ट सिद्धि होगी, वट पत्र पर वंशी रखने का अर्थ करना होगा, 'वंशीवट में'. दोनों हाथ जोड़ने का अर्थ है, 'मिलन होगा।'' इस संदर्भ में नायिका का कान से कंधे को छूना 'सहमति प्रकट करना' होगा।

तात्पर्य यह कि इस प्रकार के दोहे तत्कालीन लोकरुचि के परिचायक हैं, जिसका दयाराम ने अपने काव्य में निर्वाह किया है। वह युग रस-निर्भर मुक्तकों व सारगर्भित सूक्तियों का था। कविगण मौके की बात कहने और ताक कर तीर मारने के हामी थे। कठोर काव्य की रचना भी वे किया करते थे जिसकी टीका करते समय टीकाकार अर्थ को टटोला करते थे। बहुत संभव है इसीलिए विशेष कर गुजराती वाचकों को दृष्टि समक्ष रखकर दयाराम ने अपनी सतसई की टीका गुजराती में स्वयं ही की थी। केवल औचित्य निर्वाह के लिए अपने शिष्य रणछोड़राम का नाम टीकाकार के रूप में दे दिया था। यदि यह सत्य है तो कहना पड़ेगा कि दयाराम ने अपनी टीका में दोहों का अर्थ करते समय प्रसंगों की अद्भुत उद्भावना की है। गुजराती टीकाकार की प्रसंगोद्भावना की पहली विशेषता

यह है कि दोहो में नामोल्लेख न होने पर भी टीकाकार ने नायक, नायिका, दूति इत्यादि को प्रायः कृष्ण, राधिका, सत्यभामा, ललिता, श्रीप्रिया, चन्द्रावली, रत्नप्रभा, कमलाक्षी इत्यादि नाम देकर शृंगारिक दोहों को पूर्णतया कृष्णभक्ति का जामा पहना दिया है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोहों में जिन प्रसंगो की ओर कोई संकेत नही है उनकी कथावाचक शैली मे मनगढंत उद्भावना की गई है।[1] प्रस्तुत ग्रंथ में दोहों का अर्थ करते समय इन दोनो ही बातो से बचने का प्रयास किया गया है। आवश्यकता पडने पर वहाँ भी प्रसंगोद्भावना की गई है, किन्तु एक निश्चित मर्यादा में रहकर।

दयाराम सतसई में कवि की बहुज्ञता

हिन्दी साहित्य में विहारी की बहुज्ञता की दाद बहुत दी गई है। उनके प्रशंसको ने उन्हें ज्योतिष, गणित, वैद्यक, योग, दर्शन, नीति आदि सभी शास्त्रों का ज्ञाता सिद्ध करके उनकी बहुज्ञता की धाक पाठको के मन पर जमा दी है।

बहुज्ञता, रीतिकालीन कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति थी। न केवल विहारी वरन् सभी रीति कवि अपनी बहुश्रुतता एवं अनुभव सपन्नता का परिचय कविता के माध्यम से दिया करते थे। राजदरबारों में ऊँची आसंदी पर बैठने तथा चतुरजनो के चित्त को चमत्कृत करने के लिए ऐसा करना आवश्यक था। आगे चलकर यह कवि परिपाटी बन गई और प्रायः सभी कवि अपने काव्यों में विभिन्न शास्त्रो से उपकरण जुटाने लगे।

यह प्रवृत्ति केवल मुक्तक रचना तक ही सीमित रही हो ऐसा भी नही। प्रबंधो में खूब विस्तार के साथ कथा का थोडा सहारा लेकर ज्योतिष, वैद्यक आदि की चर्चा की जाने लगी। गुजरात में राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह कृत व्रजभाषा प्रबंध 'प्रवीण सागर' में फलित ज्योतिष, नाडी ज्ञान, त्रिदोष आदि का वर्णन इतने विस्तार से हुआ है कि सारा ग्रंथ ज्ञानमंजुषा के सदृश प्रतीत होता है।

दयाराम बहुश्रुत एवं अनुभवसंपन्न कवि थे। उनकी रचनाओं में से 'वस्तुवृंद दीपिका' तथा 'सतसैया' पर दृष्टिपात करके उनकी बहुज्ञता प्रमाणित की जा सकती है। उन्हें व्याकरण, पिंगल, योग, ज्योतिष, आयुर्वेद, पशु-पक्षी, वनस्पति जगत, इतिहास, पुराण, लोकवृत्त का अच्छा ज्ञान था, जो उस काल में एक सुरुचि

१. देखिये : दयाराम कृत काव्य संग्रह भाग १, संपा० नर्मद।

सपन्न कवि के लिए अनिवार्य था। कुछ उदाहरणों से यह स्वत स्पष्ट हो जायगा —

ज्योतिष :

जनमपत्रि सब जगत की, रचि राखी गोपाल।
तातें फिरि अब्दफल, लिखत बिधाता भाल ॥५२६॥
राशी राशी नहिं प्रिया, तेरी जुग मे कोय।
मदन रासि पति की सुता, पति सुव छबिचित पोय ॥६६३॥
वल्लभ सब संसार को, ता राशी की रास।
तारासी अरि अरि अरी, अरिपति के हम दास ॥६६४॥

आयुर्वेद :

नरविहार बरनन अधे, सो स्वस्तिद औरग।
जुरिघृत गरलहि अमि जिमी, होइ जुराकुस सग ॥३६०॥
सोखद सो सोखद भये, यह दिन बिन न प्रभाव।
और और अनुपात तें, भेषज ज्यों हिय भाव ॥४०१॥

गणित :

दुर्जन सज्जन अष्टनो, प्रीत रीत पहचान।
दुगने तिगुने चतुरसम, इत उत हानहि हान ॥३०१॥

एकादशयोग :

इन्द्र र ब्रह्मा शिव भजे, तासु प्रीति करि वृद्धि।
आयुष्मान सुभाग्य ध्रुव, हरख नवित शुभ सिद्धि ॥२७४॥

आमोद प्रमोद एव मनोरजन

गजीफा :

जीत्यो जो हरि मत कहि, दोख दही लहि मोख।
जिमि गजीफा आखरी, हलत बूज सब सोख ॥३३७॥

चौसर

अति हठकरि जो पर बुरी, फरे न लहि सुख सोइ।
माई निज के सार हति, स्व पकि कच्चो होइ ॥३६६॥
बिन आलच्छ बिधि लच्छ हुन, सुख सुलच्छ परतच्छ।
ज्यों चौपट बिन अच्छबल, जितै न दच्छ सपच्छ ॥६१०॥
पराधीन आर्थे रहे, वह किल हर्तेहि जांइ।
जस इराब को मोहरा, आपन मरत न धाइ ॥५४६॥

जाको मूल हिमायती, रचि त धर उस्ताद।
हानि ताको म्होरा उड़त, हतत सबल ज्यों बाद ॥५५०॥

संगीत :

गा मट नायक ललित श्री, सारग पानि कृहान।
जाहि गौरिशंकर भजे, जदपि रूप कल्यांन ॥२७६॥
कृष्ण भजन बिन कर्म सब, तनक भ्रष्ट फन हान।
अफल सफल श्रम सुघरता, जस मृदंगि गतमान ॥३२७॥
गुन सो सबको जीउ है, अगुने मृतक समान।
बिना जियारी जंत्रज्यों, फीको ह्वे न कान ॥४८७॥

पशु-पक्षी :

रटत राम तजि अहार उद, सतत अजब गुलम्हेरि।
पुच्छ करभ मुख के कि पद, किन करि किन सुमरेरि ॥३४७॥
चिंता तू चित क्यों करे, विश्वम्भर अजपाल।
सबकर सक्कर खोर को दधि मधि देत दयाल ॥३४८॥
मैंना कहू इक शुक हु यह नीलकंठ दुरगाहु।
हरि भजिये सारिगधर, हुजे न परभ्रत काहु ॥२७३॥
(सात पक्षियों का निर्देश)

वनस्पति जगत् :

निबल होय बड़ बात कहि, सो काहू न पत्याय।
नभ पांवन की कुररि जस, रहत ऊँचे पाय ॥४७५॥
जाती स्यामा हरितकी, बिकल भये थी रंग।
चलवल दुख सुकुमार प्रिय, करि केली कामांग ॥२५६॥
(नौ वृक्षों का निर्देश)

महाभारत, रामायण, पुराण :

गुह्य समुति कृति जो करें, कठिन सरल सु अचोर।
बरतुल बिध सत ताल ज्यों, एक तीर रघुवीर ॥५११॥
रुद्र अंस अजदसमनि, दुर्वासा तपखानि।
सो नृप अंब्रिख भक्त पद, नये क्रोधि बड़ मानि ॥३१०॥
प्रथा धरम जो नर चलें, भीम भव न दुख थाय।
कृष्ण नकुल सहदेव मनि, भज सु मद्र वै पाय ॥२७७॥

ऊपर दयाराम की बहुज्ञता की चर्चा केवल यह दिखाने के लिए की गई है कि दयाराम के काव्य मे तत्कालीन लोकरुचि का निर्वाह किस सीमा तक हुआ है। बिहारी के प्रशसको की भाँति हमारा उद्देश्य उन्हें 'सर्व शास्त्रविद सिद्ध करना कदापि नही है। बहुज्ञता कोई ऐसी वस्तु नही है जिसकी प्रशसा बहुत बढा चढा कर की जाय। कविता हृदय की वस्तु है, उसके क्षेत्र में बुद्धि का प्रवेश अनुगम्यमाना न होकर अनुगंत्री के रूप में ही होना चाहिए। अत. शास्त्रीय ज्ञान एव लौकिक बहुज्ञता साधन मात्र है, साध्य नही। दयाराम ने साधन-साध्य के इस भेद को समझा था। उनकी काव्य साधना एकातनिष्ठ नही थी। उनकी दृष्टि की परिधि विस्तृत थी। वे अपनी सामग्री का चयन स्वतत्रतापूर्वक करते थे। केवल पुस्तकीय ज्ञान ही उनका प्रेरक नही था। वे अपने समय की रीति-नीति, आचार-व्यवहार, धर्म, दर्शन इत्यादि मे रुचि लेते थे। उच्च कोटि के कवि बनने के लिए जिस निपुणता की आवश्यकता होती है वह उन्होंने ग्रंथानुशीलन एवं प्रत्यक्ष अनुभवो से प्राप्त की थी।

अलंकार योजना—

दयाराम भक्त होते हुए भी हिन्दी कृतियो के आधार पर रीतिकालीन कवियो की परम्परा में गिने जाएँगे। अपने युग की हवा से वे कैसे अछूते रह सकते थे? नायिकाभेद और अलकार योजना तत्कालीन प्रत्येक कवि का आनुषगिक कार्य था। दयाराम ने अपनी भक्ति एव शृगार भावना की अभिव्यक्ति के लिए इन दोनो ही प्रवृत्तियों का उपयोग किया है।

शब्दालंकार—

रीतिकालीन काव्य शब्दालंकारों की रुनझुन का काव्य था। कविता कामिनी के पदचाप से अनुप्रासो की, झाँझरें झंकृत होती थीं। उसकी ठमक में यमक गुंजरित होते थे। नादसौंदर्य का निनाद सहृदयो के कर्णपुटो का आकर्षण बना हुआ था। बिहारी की 'रणित भृंग घंटावली' और 'पावक झर सी झमकि'कै गई झरोखें झाँकि' दोहे शब्द योजना के प्रमुख आकर्षण बने हुए थे। इन परिस्थितियों में दयाराम ने भी अपने काव्य में शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक आदि को यथासम्भव अपनाया और चित्र काव्यो की भी रचना की। इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा 'नें नें नें नी नें न नें'[1] और 'क क कं कं कं क कि'[2]

१. दोहा ७१०।

२. दोहा ७१३।

जैसे काव्यचातुर्य विषयक एकाचर दोहों में देखी जा सकती है। यों यह प्रवृत्ति काव्यत्व की दृष्टि से प्रशमनीय नहीं कही जा सकती और न उस संदर्भ में हम इसका उल्लेख ही कर रहे हैं। यहाँ हम केवल यही बताना चाहते हैं कि दयाराम पर तत्कालीन रीति परम्परा का कितना प्रभाव था। संयोग से दयाराम की कविता में ऐसे दोहे अधिक नहीं हैं। जो हैं वे उनके काव्य-कौशल के परिचायक भी हैं। यथा —

(अ) हरि भगती ही छाहि तो, मुकति मुकति बत पाय।
हरि भगती ही छाहि तो, मुकति मुकति बत पाय ॥५६४॥

(आ) द्विज द्विज से हरि भक्ति बिन, खग खग से जुत भक्त।
सकल कृतांत कृतांत सम, क क प्रभु नासक्त ॥३१८॥

(इ) गो पालन ललचाइ तूं, गोपाल न चित चाहि।
गो पालन भैं नाहि अब, गोपाल न गहि वाँहि ॥४५८॥

अर्थालंकार—

विहारी की भाँति दयाराम के काव्य में भी अर्थालंकारों का सहज एवं प्रचुर प्रयोग मिलता है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। यहाँ कवि प्रयुक्त अलंकारों के कुछ विशेष उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

उपमा—

(अ) मो उर में निज प्रेमप्रद, परिवड़ अचलित देहु।
जैसे लोटन दीप सों, सरक न ढुरक सनेहु ॥५२॥

कवि ने यहाँ कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम को लोटन दीप से उपमित किया है जो उलटने-पलटने पर भी स्नेहरिक्त नहीं होता।

(आ) बिन वल्लभ विरही हिये, सब सुख ताको नांह।
तचौं घाम जिमि भेक ज्यौं, लहि सुख फनिफन छांह ॥२२३॥

प्रियतम के अभाव में विरही के लिए सुख भी अतीव कष्टप्रद होता है। यहाँ कवि ने अपनी अद्‌भुत सूक्ष्म कल्पना शक्ति के द्वारा विरही के लिए सुख की स्थिति की धूप में बैठे पर ऊपर से नाग की छाया से आक्रांत मेंढक की उपमा दी है।

रूपक—

दयाराम ने निरग एवं साग दोनो प्रकार के रूपकों का सफल प्रयोग किया है। सागरूपक का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

परयों मनोरथ पौन है, प्रावत मथि मन तूल।
माधौ मनिधर तुम बिना, ना टरि हैं इन झूल ॥२४॥

सागरूपक में उपमेय में उपमान का ग्रारोप उसके समस्त ग्रगो के साथ किया जाता है। उक्त दोहे में चचल मन को तूल बताकर उसे ग्रनेक मनोरथ रूपी वात्याचक्रों में भ्रमित होते बताया है। उसकी स्थिरता का उपाय केवल माधवरूपी मणिधर ही हो सकते हैं। यहाँ उपमेय मन के समस्त ग्रगो में उपमान तूल ग्रादि का ग्रभेदारोप किया गया है। कवि ने स्थान-स्थान पर रूपको का प्रयोग किया है।[1]

उत्प्रेक्षा—

रूप वर्णन में प्राय: कवियो ने उत्प्रेक्षाग्रो का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। दयाराम की कुछ उत्प्रेक्षाएँ द्रष्टव्य है—

(ग्र) कुलहि लाल पित उपरना, निल तनु नदकुमार।
प्रेम लपटि ग्रनुराग सिर, मानु मुरति शृगार ॥२६४॥

(ग्रा) सहज विलोकत बदन छब, लगत कलक ग्रमद।
मनो भये व्रजचद तुम, नभीचोय के चद ॥५३८॥

इनके ग्रतिरिक्त प्रतीप, व्यतिरेक, ग्रप्रस्तुत प्रशसा, ग्रर्थान्तरन्यास, काव्य-लिंग ग्रादि सभी ग्रलकारों का दयाराम ने यथास्थान प्रयोग किया है। यहाँ सभी के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रतीप :

ग्रमिनिय रस रति सरलता, क्षपा ग्रपा रुचि मांन।
इत्यादिक गुन सदन श्री, लोचन उपमा कांन ॥२५४॥

व्यतिरेक :

मोनित सँहु म्हा मृदु सदा सत को क्रर।
वे विपरत पावक परस, ये सुनि पर दुख दूर ॥३२८॥

१. २३, ६९, २२२, २३७, २५० ग्रादि।

अप्रस्तुत प्रशंसा :

कूकर हार चवाय व्हां, आवत लखें गयद ।
भुस भाजे लें समुझि यों, लेगों यह मतिमंद ।।५२३।।

दृष्टान्त :

हपे दोष गुन फुट करें, पर हरिजन यह चाल ।
लखि शिव दुहु दधि तें लहे, गरल गिल्यो शशिभाल ।।४०७।।

काव्यलिंग :

भयों करस आनंद रस, नये बिन और लहें न ।
भये त्रिभंगी ताहितें, कृष्ण कृपा के ऐन ।।५०४।।

विभावना :

पानि पाय न ग्रहे गती, यह बिधि सब कहि ब्रह्म ।
प्राकत नहि अवयव अखिल, आनंद मय मूर्ति, ब्रह्म ।।३३२।।

विरोधाभास :

आगोतें बेलो बढ़ें, जल सींचत कुमलाय ।
सिरके पलटे फल मिलें, मुख बिन खायो जाय ।।८१।।

स्वभावोक्ति :

सजल नैन आधे वचन, कहत-कहत सकुचाय ।
ललना समुझी लच्छसों, लिय हिय लाल लगाय ।।६१३।।

भ्रांतिमान :

स्यामा तू जिन जाइ सर, बिन घूंघट पट घोस ।
परिहैं तेरो वदन लखि, भोर कोक मुख सोस ।।२४६।।

तद्गुण :

प्यारी तेरो अधरस, क्यों बिसरें गोपाल ।
बेसर निरमल मुक्तहू, जिहि परसत भौ लाल ।।२५५।।

यथा-संख्य :

फनि निवास दिवि, सिंधु, बिधु, सुधानाहि बिधु मूल ।
गरल, पात, अरु क्षार, क्षय, पति मृत, कठ पियूख ।।३३२।।

अनुमान :

जितो विरह संताप, तितो प्रेम परमानियें ।
यह सनेह को माप, समुझ लेहु अनुमान तें ।।२४४।।

श्लेष :

कृष्ण विभू विधुवसमनि, बासुदेव प्रिय धर्म ।
नरमंडल कृष्णापती, कुलनिकद निष्कर्म ।।२७८।।

सार :

सब तें प्यारे प्रान, पत प्यारी हैं प्रान तें ।
सहि ताहूकी हान, चाखे प्रेम पियूष जो ।।६६।।

कारणमाल :

सुख कहाँ बिना मिलाप हरि, हरि कहाँ बिन व्है ताप ।
ताप कहाँ बिना शुद्ध रति, रति कहाँ बिन सद छाप ।।३७३।।

इस विहंगावलोकन से स्पष्ट हो गया होगा कि दयाराम के काव्य में शब्दालंकार तथा अर्थालंकारो का भी स्वाभाविक रूप में सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

कवि की भक्ति-भावना :

मैथिल कोकिल विद्यापति की भाँति कवि श्री दयाराम के संबंध में भी यह प्रश्न बारंबार उठाया गया है कि वे श्रृंगारिक कवि हैं अथवा भक्तकवि ? दयाराम पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे । उनके ग्रंथों में शुद्धाद्वैत एवम् पुष्टिभक्ति का सुंदर निरूपण मिलता है । उदाहरणार्थ सिद्धातसार, भक्तिविधान, संप्रदाय सार, पुष्टि पथ सार मणिदाम आदि ग्रथो मे प्रत्यक्ष रूप से पुष्टिभक्ति का माहात्म्य प्रतिपादित है । अत. यह बात निर्विवाद है कि दयाराम पुष्टि भक्तकवि थे । किन्तु साथ ही दयाराम पर हिन्दी की रीति और श्रृंगार परंपरा का भी पर्याप्त प्रभाव था, जिसकी अभिव्यक्ति उनके सतसैया और रसिकरंजन जैसे काव्यो में हुई है । अत· दयाराम को लेकर भक्ति एवं श्रृंगार विषयक जो विवाद उठाया जाता है उसे सर्वथा निर्मूल नही कहा जा सकता ।

दयाराम की कविता के स्वरूप को समझने के लिए यह ध्यान में रखना अनिवार्य है कि इस गुजराती कवि की रचना में भक्ति और रीति का अभूतपूर्व समन्वय हुआ है । इस सुकवि पर धार्मिक दृष्टि से पुष्टि सप्रदाय का और साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी के रीति संप्रदाय का प्रभाव एक साथ पडा था जिसे आत्मसात करके इसने अपने काव्य का प्रणयन किया है ।

सतसैया भक्ति और रीति के समन्वय का अभूतपूर्व ग्रंथ है । रीतिकालीन हिन्दी कवियों की रचना में भी यद्यपि भक्तिविषयक उद्गार मिलते है, पर वे भक्तिविभोर मन के उद्गार न होकर, विलास जर्जर मन की प्रतिक्रियाएँ हो

अधिक हैं। रीतिकालीन कवि अतिशय शृगारिकता से ऊबकर ही भक्ति का पल्ला पकडते थे। उनकी भक्ति विषयक उक्तियाँ 'राधाकृष्ण सुमिरन को बहानों' मात्र हैं। उनमें कहीं भी उनके हृदय का सुयोग नही है। उदाहरणार्थ बिहारी जब-जब 'किंकनी के कुलाहल' से ऊबे हैं तो उन्होंने भक्ति-नीति के भी दोएक दोहे कह डाले हैं। पर उनसे यह सिद्ध नही हो जाता कि बिहारी भक्त थे। तात्पर्य यह कि रीतिकालीन काव्य में विशुद्ध भक्ति भावना का प्राय अभाव ही रहा। इस दृष्टि से 'दयाराम सतसई' में भक्ति एव रीति का जो समन्वय हुआ है वह अभूतपूर्व है। हम पहले कह आये है कि दयाराम का मन शृगार में अधिक रमा है। किन्तु उनके शृगार का आधार कृष्णविषयक रति है। अत. शृगार और भक्ति का सुगुफन उनके काव्य में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। सतसैया के अन्त में काव्य का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए दयाराम ने कहा है, मैंने यह ग्रथ श्रीकृष्ण के प्रेम से प्रेरित होकर लिखा है किसी राजा को रिझाने के लिए नहीं।[१] कवि ने कहा है, श्रीकृष्ण से सबधित न होने पर उत्कृष्ट काव्य भी निकृष्ट हो जाता है।[२] इन उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि सतसैया कवि के कृष्णविषयक अनन्य प्रेम एव भक्ति का सुफल है। शुद्धाद्वैतदर्शन तथा प्रेमलक्षणा भक्ति की भी इस ग्रथ में सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। आगे के उदाहरणो से कवि की भक्ति-भावना स्पष्ट हो जायगी।

ग्रथ के मगलाचरण मे कवि ने अपने गुरु, महाप्रभु वल्लभाचार्य तथा अपने आराध्य देव श्रीकृष्ण को वदना की है। तदुपरात भगवद्स्तुति विज्ञप्ति एवं 'भक्ति प्रकरण,' 'नाम माहात्म्य' आदि प्रकरणो में कवि ने भगवान, भक्त एव भक्ति का माहात्म्य प्रतिपादित किया है।

कवि श्री दयाराम श्रीकृष्ण के ललित त्रिभगी रूप पर आसक्त थे और युगल स्वरूप के उपासक थे।[३] एक स्थान पर उन्होंने कहा है जब आपका स्वरूप ही कुटिल (त्रिभगी) है तो उसे धारण करने के लिए मुझे अपने हृदय को भी कुटिल बनाना पडा है। जैसी तलवार होगी वैसी ही तो म्यान होगी।[४] दयाराम प्रेमलक्षणा भक्ति को सर्वोपरि मानते थे। नवधा भक्ति के उपरात दशधा (प्रेमलक्षणा) भक्ति का माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं,

१. तद प्रीत्यर्थसुग्रथ यह, नहीं रिझवनको भूप ॥७२८॥

२ बिन सबध हरि काव्य सब, अति अदभुत हु न काम ॥७०१॥

३. देखिये, दोहा २६। ४ वही १८।

जिस प्रकार भ्रमर सभी पुष्पो का रस ग्रहण करता है पर विश्राम करता है पंकज पर ही, उसी प्रकार श्रीकृष्ण नवधा भक्ति को स्वीकार करते हुए भी वशीभूत प्रेमलक्षणा भक्ति से ही होते हैं।

नौधा प्होंप सुगन्धि तं, हरि हरि मन सुचपाय।
वसई पंकज प्रेम बिन, रुके कहूँ नहि जाय ॥७५॥

कवि ने इस दशधा भक्ति का अधिकारी केवल पुष्टि जीवो को माना है। जैसे सिंहनी का दूध केवल कचन पात्र में ही रह सकता है, अन्य पात्रो में वह नही रह सकता। उसी प्रकार अन्य भक्त इस भक्ति पद्धति से प्राप्त प्रेम-रस के अधिकारी नही हो सकते।

सोई भाजन प्रेमरस, प्रकट कृष्ण के गात्र।
पय पुंडरिकनी को न जो, रहि बिन कचन पात्र ॥१३६॥

'भक्ति प्रकरण' में कवि ने भक्ति को ज्ञान से तथा भक्त को ज्ञानी से श्रेष्ठ बताया है। ज्ञानी भगवान का जेष्ठ पुत्र है, भक्त कनिष्ठ, किन्तु प्रेम और वात्सल्य तो कनिष्ठ पर ही अधिक होता है।

भक्तबाल बड ज्ञानि सुत, जुग्म जानि जदुराइ।
पै न प्यार वात्सल्य वहाँ, सिसुपै प्रति अधिकाइ ॥३१५॥

कवि ने अपने आराध्य को हरि, कहान, घनश्याम, गोपाल, श्याम, व्रजपाल, व्रजचंद, व्रजेश, नदलाल, माधव, गोपीनाथ, गोपीश, बनवारी, नदकिशोर, मधुसूदन, ईश, जगजीवन, जगदीश, अनघ, कुलनिकंद, वासुदेव, श्रीरग, मुरारी, कंसारी आदि अनेक नामो से सबोधित किया है। नाम माहात्म्य को समझाते हुए वे कहते है कि बिना भाव के 'राम' नाम का उच्चारण करने पर भी 'चरसिया' का पदोदक सब पीते हैं।

चित्त भाव बिनु चरसिया, सहज पुकारे राम।
वाको पद पय पिवत सहु, लखि प्रताप हरिनाम ॥३३६॥

पुष्टि भक्ति में भगवदाश्रय का माहात्म्य समझाते हुए कवि श्री दयाराम कहते हैं—आश्रय में रहने पर कमल सरोवर द्वारा पुष्ट और सूर्य द्वारा विकसित होता है पर मूल (आश्रय) से विच्छिन्न होते ही पोषण देनेवाला सरोवर ही उसे गला डालता है और उसे विकसित करनेवाला प्रिय सूर्य ही उसे जला कर भस्म कर देता है।

प्रभु भू आश्रय मूल छुटि, नर नसीन दुख पाय।
पोषक प्रिय सुहृ प्रान ले, देत सहाय जलाय ॥३४३॥

कवि ने 'पोषण तदनुग्रहं' वाले सिद्धांत को 'घन-चातक'[1] शृंग-उपवन विटप[2]-गुलम्होर[3] बेल-बलिवर्द[4] चंद्र-चकोर[5] और शक्कर-खोरे के दृष्टांतों के द्वारा सिद्ध किया है। इस संबंध में कवि का निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है।

> चिंता तू चित क्यों करे, विश्वंभर व्रजपाल।
> शक्कर शक्करखोर को, दधि मथि देत दयाल ॥३४८॥

न केवल भक्ति विषयक उक्तियों में बल्कि शृंगार निरूपण में भी कवि की भक्ति-भावना विद्यमान रही है। शृंगारिक उक्तियों में आलंबन के रूप में प्रायः कृष्ण एवं राधा ही विद्यमान हैं। आराध्य की लीलाओं का वर्णन, उसकी महिमा का गुणगान, उसके नामका संकीर्तन ही कवि को इष्ट है; फिर चाहे वह शृंगार-मूलक हो अथवा वैराग्य मूलक। भक्ति दयाराम की कविता का मेरुदंड है, उससे विच्छिन्न करके कवि के काव्य की कसौटी करना मूल की उपेक्षा कर पत्तों को सींचने जैसा कार्य है।

सूक्ति एवं नीति कथन :

मध्यकालीन काव्य में सूक्तियों का भी अपना महत्व रहा है। धर्म, नीति एवं काम विषयक उपदेश देना उन दिनों कवि-कर्म में समाहित था। सूक्तियों के कुछ विषय रूढ़ हो चले थे जिन पर प्रायः सभी कवि अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुसार कहते चलते थे। ईश्वर, गुरु, सत्संग, शील, सदाचार, विनय आदि की महिमा और बाह्याडंबर, नारी, खल, कुसंग आदि की निन्दा प्रायः सभी सूक्तिकारों ने की है। साहित्य क्षेत्र में सूक्तियों को यद्यपि रस मुक्तकों के समान महत्ता प्राप्त नहीं हो सकी, फिर भी उनकी लोकप्रियता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संभवतः इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करके ही रससिद्ध कवि भी अपने काव्यों के बीच-बीच में अनुभवसिद्ध सूक्तियाँ पिरोते चलते थे। हिन्दी में रहीम, और वृन्द तो प्रमुखतया सूक्तिकार ही थे। तुलसी, बिहारी जैसे रससिद्ध कवियों ने भी दोहों में अपने अनुभव का अर्क निचोड़ कर रख दिया है।

दयाराम ने भी तत्कालीन लोकरुचि का निर्वाह करते हुए सुन्दर एवं बोध-प्रद सूक्तियों की रचना की है। सुन्दर सूक्तियों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

---

१. दोहा ३४५। २. दोहा ३४६। ३. दोहा ३४७। ४. दोहा। ३४९
५. दोहा ३५०।

नीति कथन '

अति हठ करि जो पर बुरो, करे न लहि सुख सोइ।
आई निजके सार हति, स्व पकि कच्ची होइ ॥३६६॥

होनहार हिय मे बसे, चितउ बरही के बत्स।
चलत अबु प्रतिपल लखत, अष्ट जदपि नहीं पत्स ॥३८०॥

सो बढ सूधे मग चले, कुटिल गती मति मद।
लखि लेहू शतरज ज्यों, सूतर और गयद ॥४८३॥

प्रीति बुरी प्रकृति न मिलि, यह दुहू पख दुखपाय।
रोटी गडेरी चबी, क्यों डरे क्यों खाय ॥६४२॥

जनक जननिगत परिरसा, सुनु अशक्य पितुमात।
मित सकट, दारिद्र तिय, बाटा बाटत भ्रात ॥५२६॥

दानो दुसमन हू भलो, बुरो मीत नादान।
अहित हू में हित सुज्ञके, ले जड को हित प्रान ॥४५२॥

सार असार न सुमुझ जिहि, गुड रू खोल इक तोल।
त्हां सबको सुनिबो गुनी, उचित न बदिबो बोल ॥५६१॥

उपर्युक्त सूक्तियों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि दयाराम ने इन दोहों में मौलिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ प्रथम दोहे में कवि ने कहा है कि दूसरे का हठपूर्वक अहित करने पर स्वय का अहित हो जाता है जैसे चौसर के खेल में दूसरे की पकी गोटी को पीटने पर अपनी गोटी कच्ची हो जाती है। एक सुपरिचित तथ्य को कवि ने कितने मौलिक एव मार्मिक ढग से प्रस्तुत किया है, इसे चौसर के खिलाडी ही समझ सकेंगे। दूसरा दोहा इससे भी अधिक व्यजक है। कवि कहता है होनहार अज्ञात रूप में हृदय में विद्यमान रहता है। मयूर के बच्चे यदि पानी में होकर गुजरते है तो मादा बच्चे तो सीधे गुजर जाते हैं पर नर बच्चे मुड-मुड कर पीछे देखते हैं। (कि कहीं पूँछ तो गीली नहीं हो रही है) उनकी इस क्रिया से उनके नर मादा होन का पता चल जाता है। बडे होने पर मयूर के नर बच्चो के मयूर पख आनेवाले है। किन्तु पखों के गीले होने की चिता उन्हें अभी से होने लगी है। साराशत सूक्तियो में दयाराम की सूझ-बूझ और मौलिकता की दाद देनी पडती है।

सतसई में दोष दर्शन :

रस के परिपाक में व्याघात उपस्थित करनेवाले उपकरणों को सामान्यतया दोष कहा जाता है। दयाराम ने अपने अंतिम दोहे में कहा है "पिंगल पद्धति देखिकै, रचना रची अदोष"। इससे स्पष्ट है कि वे एक सजग कलाकार थे और उन्होंने अपने काव्य को दोषरहित बनाने का यथासंभव प्रयत्न किया था, फिर भी ब्रजभाषा में काव्य प्रणयन करते समय वे अपनी मर्यादाओं को जानते थे और यह भी समझते थे कि कोई भी रचना सर्वथा दोषरहित नहीं हो सकती। अतः उन्होंने कहा "तदपि होय क्छु समझियो, हरिगुन जिन धरि दोष।" मेरे काव्य में दोष हों भी तो क्रोध न करके इसे हरि गुणगान समझकर संतोष कीजिये।

दयाराम मूलतः गुजराती कवि थे, अत. ब्रजभाषा पर उन्हें उतना अधिकार नहीं था जितना होना चाहिये। भाषा सम्बन्धी दोष कवि की रचना में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। लिंग, वचन, कारक आदि की भूलें सतसैया में बहुत मिलेंगी। क्रिया के रूप भी अनेक स्थानों पर मनगढ़त एवं सदोष हैं। किन्तु जब तक दयारामकृत सतसैया का प्रामाणिक पाठ संपादन तैयार न हो जाय तब तक यह कहना बड़ा कठिन है कि ये सभी भूलें कवि की ही हैं। बहुत संभव है अधिकांश भूलें प्रतिलिपिकारों की ही हों। अतः हम भाषा एवं व्याकरण संबंधी दोषों के संबंध में अधिक न कहकर रस के परिपाक में व्याघात उपस्थित करनेवाले दोषों का ही यहाँ सामान्य उल्लेख करेंगे :

अश्लीलत्व :

दयाराम भक्त थे और उनके काव्य के आलंबन राधाकृष्ण थे अतः अश्लीलत्व दोष से प्रायः वे उबर गये हैं, फिर भी दो एक स्थानों पर 'सतसई' में यह दोष स्पष्ट दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहों में :

हरि भगती हो छांहि तो, मुकति मुकति बत पाय।
हरि भगती हो छांहितो, मुकति मुकति बत पाय ॥५६४॥
(भगती = १. भक्ति, २. भगतिय)

हरिन चरन आकार चित, हरिन चरन आगार।
वाको फल संसार है, वाको फल संसार ॥५७०॥

(हरिन चरन आकार = १. हरि चरण, २. हरिणके चरन के आकार वाली वस्तु, योनि।)

देखिये दोहा ७३०।

अन्य दोष :

दयाराम के दोहो में छद, अलंकार एवं रस की दृष्टि से भी अनेक दोष निकाले जा सकते है। मात्राओ की घट-बढ, अलंकारो में अस्पष्टता एवं रस में व्याघात अनेक दोहो में विद्यमान है। न्यूनपदत्व, अधिक पदत्व, दूरान्वय, असमर्थत्व इत्यादि दोषो के कारण अर्थबोध में पर्याप्त कठिनाई होती है। अर्थ बैठाने के लिए गहरे उतरना होता है। अर्थबोध की यह प्रक्रिया प्राय थका देनेवाली होती है। किन्तु थोडे गहरे उतरकर जब हम रस के मूल उत्स के निकट पहुँच जाते है और अर्थ ग्रहण कर लेते है तो श्रम सार्थक हो जाता है और हम कवि की सूझबूझ की दाद देने लगते हैं। जहाँ तक दोषो का प्रश्न है श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कवि की कृति में भी उन्हें खोजा जा सकता है। हम केवल प्रसगवश यहाँ उनका उल्लेख कर रहे हैं जिससे कवि द्वारा प्रयुक्त भाषा शैली को समझने में सुविधा हो :

शब्ददोष :

१. जिमि अंजन की असितता, जायन कोपे धोइ ॥३८२॥

२. रावन बाधे नोनकूं, बिन सुखदायक कानि ॥५८७॥

३. सील सिलीमुख सुप गहै, छप्ती माखि न राखि।
तजि गुण सौरभ, सारजिम, दोख छहर सुह चाखि ॥३६२॥

उपर्युक्त उदाहरणों में रेखांकित शब्दों के प्रयोग चित्य हैं।

अन्वय दोष :

४. सुखद सकल इक दुखदको, पोच कहे अज्ञान ॥४८६॥
(इसका अर्थ करते समय अन्वय इस प्रकार किया जायगा)
सकल को सुखद सो इकको दुखद।
ताहि पोच कहे सो अज्ञान ॥

व्याकरण दोष :

६ मतलब प्यारी सबनको वस्तु प्यार नहीं कोय ॥६१३॥
(यहाँ प्यारो और प्यार प्रयोग चित्य है।)

ये सामान्य उदाहरण कवि की भाषा, शब्द योजना, वाक्य विन्यास आदि के रचना-वैशिष्ट्य की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करने के लिए ही दिये गये है। कवि का अपकर्ष दिखाना हमारा उद्देश्य नही है। बहुत संभव है इनमें से अधिकाश दोष दयाराम के न होकर प्रतिलिपिकारो के ही हो।

दयाराम सतसई

१
मंगलाचरण

श्री गुरु वल्लभ देव अरु, श्री विट्ठल श्री कृष्ण।
पदपंकज बंदन करों[1], दुखहर पूरन-तृष्ण[2] ॥१॥

अवतरण :—दयाराम वल्लभ संप्रदायी वैष्णव थे, अतः ग्रंथ के आरम्भ में उन्होंने महाप्रभु वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र गोसाइं विट्ठलनाथजी का श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।

अर्थ :—हे श्री गुरु, हे श्री वल्लभाचार्य, हे श्री विट्ठलनाथ और हे श्री कृष्ण! दुःख को हरनेवाले और मनोकामनाओं को पूर्ण करनेवाले आपके चरण-कमलों की मैं वंदना करता हूँ।

वल्लभ दें[3] दुर्लभ कहा, सबही जाके हाथ।
जंगल मे मंगल करें, बाबा विट्ठल नाथ ॥२॥

अवतरण :—कवि पुनः वल्लभाचार्यजी और विट्ठलनाथजी की महिमा का बखान करता है।

अर्थ :—श्री वल्लभाचार्य के हाथ में सब कुछ है, वे देना चाहें तो कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं। इसी प्रकार बाबा विट्ठलनाथ भी जंगल में मंगल करने वाले हैं अर्थात् सब भाँति समर्थ हैं।

श्रुति नेती मन-गो-अगम, त्रिगुन अक्षरातीत।
सो श्री गोपीनाथ कों, अभिवादन[4] अगनीत ॥३॥

शब्दार्थ :—श्रुति—वेद; गो—वाणी, त्रिगुन—सत्त्व, रजस, तमस (ब्रह्मा, विष्णु, महेश); अक्षर—ब्रह्म।

अवतरण :—कवि पुराण पुरुषोत्तम के रूप में अपने आराध्य की वंदना करता है।

१—करूँ, २—अष्ण, ३—वल्लभ तें, ४—अभिवंदन

अर्थ :—जिसे वेद नेति-नेति कहकर बखानते हैं, जो मन और वाणी के लिए अगम्य है, जो त्रिगुण और ब्रह्म की पहुँच से भी परे है—ऐसे श्री गोपीनाथ की मैं बारंबार वंदना करता हूँ।

विशेष :—प्रथम पंक्ति में निर्गुण ब्रह्म की तथा द्वितीय में उसी के सगुण (गोपीनाथ) रूप की वंदना की गई है। यहाँ अवतारवाद की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है।

सरवेसुर[1] सर्वात्म प्रभु, हरि ईश्वर भगवान।
कीजें कृपा कटाक्ष मम, आत्मसात करि दान ॥४॥

शब्दार्थ :—मम—मेरा; आत्मसात करि—अपने में मिला कर।

अवतरण :—कवि विविध नामों से भगवान की आराधना करके उनसे कृपादृष्टि की याचना करता है।

अर्थ :—हे सर्वेश्वर, हे सर्वात्म, हे प्रभु, हे हरि, हे ईश्वर, हे भगवान मुझे अपना बना लीजिये और अपनी कृपादृष्टि का दान दीजिए।

श्री राधावर जाहि बस, ता पद पुष्कर खेह।
बदन करि मागूँ सदा, तापे नूतन नेह ॥५॥

शब्दार्थ :—राधावर—श्रीकृष्ण; जाहि—जिसके, पद-पुष्कर—चरण कमल, खेह—रज।

अवतरण :—गुरु, वल्लभाचार्यजी, विट्ठलनाथजी और श्रीकृष्ण की वंदना करने के पश्चात् इस दोहे में कवि ने उन चरणकमलों की वंदना की है, जिनके अधीन श्री राधावर हैं।

अर्थ :—श्री कृष्ण स्वयं जिनके वश में हैं उन (राधिका) के चरणकमलों की रज की मैं वंदना करता हूँ। और यही कामना करता हूँ कि उन पर मेरा सदैव नूतन स्नेह बना रहे।

विशेष :—यहाँ 'श्री राधावर जाहि बस' में 'जाहि' का अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, अतः राधिका, वल्लभाचार्य, गुरु, भगवद्भक्त इत्यादि के सम्बन्ध में इस उक्ति के प्रसंग की कल्पना की जा सकती है।

१—सर्वेसर

२

भगवद्स्तुति विज्ञप्ति

लखिहों आप जु आपपन, आप नैन गोपाल।
तौं का पाप प्रताप मो, हरि हरिहौं दुखजाल ॥६॥

शब्दार्थ —आपपन—अपनी महिमा, विरुद आप नैन—अपने नेत्रा से।

अर्थ —हे गोपाल ! यदि आप अपने विरुद पर दृष्टिपात करेंगे तो (ज्ञात हो जायगा कि) आपके प्रताप के सामने मेरे पाप क्या है (अर्थात् नगण्य हैं) और आप दुःख के जाल से मेरा उद्धार करेंगे।

अूठौं मो सिर कर धरो, रूठौं द्यो उर लात।
पै निज औरन पै नहीं, यह जाचौं[1] जगतात ॥७॥

शब्दार्थ —त्रूठो—(स० तुष्ट, हिं० तूठना) प्रसन्न हों, द्यो—दीजिये, निज—अपना, स्वय, जाचो—माँगता हूँ।

अर्थ —यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों तो मेरे माथे पर हाथ रखिये। यदि *नाराज हो तो हृदय पर लात मारिये (जो कुछ करना हो) स्वय कीजिये*, दूसरो से न करवाइये। हे जगतात, मेरी याचना केवल इतनी-सी है।

विशेष —भक्त के आत्मदैन्य का सुन्दर उदाहरण है।

कृति सौंहि प्रभु देखिहौं, तहू न चिंता मोहि।
न्हेंचे[2] मो, तुम दीठितें, दूखन भूखन होहि ॥८॥

शब्दार्थ —दीठि—दृष्टि, न्हेंचे—निश्चय ही, दूखन—दूषण।

अर्थ —हे प्रभु ! यदि आप मेरे कर्मों की ओर देखेंगे तो भी मुझे चिंता नहीं, क्योंकि आपकी दृष्टि से निश्चय ही मेरे सारे दूषण भूषण बन जायेंगे।

विशेष —श्रीकृष्ण ने पापी व्याध की ओर देखा। देखन मात्र से ही उसके पाप पुण्य में बदल गये और वह सदेह स्वर्ग गया।

त्रूठोगे प्रभु रूठिहो, तौंहु कछू न सोख[3]।
क्रोध तिहारो सुहु हमे, देगो फल वर मोख ॥९॥

शब्दार्थ —सोख—शोक, चिंता, सुहु—वह भी, मोख—मोक्ष।

१—जाँचूँ, २—निहचे, ३—सोच

अर्थ :—आप मुझ पर प्रसन्न तो होने ही वाले हैं पर यदि रूठ गये तो भी कोई चिंता नही। क्योंकि आपका क्रोध भी हमें मोक्ष जैसा श्रेष्ठ फल प्रदान करेगा।

विशेष —भगवान जिन पर क्रोध करते हैं उन्हें भी मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अपने अपने सीलको, सब को करत निभाव।
तुम कृपाल हम जीउ सो, सहजहि दुष्ट सुभाव ॥१०॥

शब्दार्थ —सील—शील, चरित्र, स्वभाव।

अर्थ —सभी अपने अपने आचरण का निर्वाह करते हैं। आप कृपालु हैं (इसलिये कृपा बनाये रखिये)। हम प्राणी तो स्वभाव से ही दुष्ट हैं।

विशेष —देखिये—'अपने-अपने विरुद की दुहन निवाहन लाज'—विहारी

साधन साधि न हों सक्यों, ताको मोहि न ताप।
मरदी हिय हरि बरदकी, साधन साध्य न आप ॥११॥

शब्दार्थ :—साधि न सक्यो—उपार्जित न कर सका, मरदी—हिम्मत, बल, ताप—परिताप, दुःख।

अर्थ —हे हरि, मै साधन नही जुटा सका। पर इसके लिए मुझे परिताप नहीं है। क्योंकि मुझे आपके विरुद का पूरा भरोसा है और आप साधनों से प्रसन्न होनेवाले नही हैं।

भक्त न हों सो सांच परि, अधम पतितहू मे न।
मो सुधि अजहू ना लई, कैसें पकज-नैन ॥१२॥

शब्दार्थ —साच परि—सत्य है, पकज-नैन—कमलनयन, श्रीकृष्ण।

अर्थ —हे कमलनयन, यह बात तो सच है कि मैं भक्त नहीं हूँ, पर क्या मैं अधम और पतित भी नहीं हूँ जो आपने अभी तक मेरी सुधि नही ली?

बिसर्‌यों बरद किधों हरी, एक बिसार्यों मोहि।
दुहुमेंतें कछु तो भयो, नातर मम गति होहि ॥१३॥

शब्दार्थ —नातर—नहीं तो, वर्ना।

अर्थ :—हे हरि, या तो आप अपने विरद को भूल गये हैं या आपने अकेले मुझको भुला दिया है। दोनों में से (कुछ) एक बात तो अवश्य हुई है नहीं तो मेरी गति हो जाती।

विशेष :—तुलना कीजिए—'थोड़े ही गुन रीझते, विसराई वह बानि'
—बिहारी

कृपा न जामें सो प्रभू, देखे साधन राह।
तुम तों करुना के निधी, क्यों न निवाज्यो नाह ॥१४॥

शब्दार्थ :—साधन—सद्‌गति प्राप्त करने के लिए किये गये प्रयत्न, निवाज्यो (फा०—निवाज)—कृपा, दया, अनुग्रह, नाह—नाथ।

अर्थ —हे प्रभु ! साधनों की राह तो वह देखता है जिसमें कृपा न हो। आप तो करुणानिधि हैं। अभी तक आपने मुझ पर क्यों अनुग्रह नहीं किया ?

लिहु छिनाय मन दड मे, नाथ और नहिं धन्न।
राखो मो निज-दूत की, चोकी में निसिदिन्न ॥१५॥

शब्दार्थ —लिहु छिनाय—छिनवा लीजिए, निज दूत की चोकी—निजी अंगरक्षक की चौकी (स्थान) पर।

अर्थ .—हे नाथ, (यदि आप मुझसे दण्ड वसूल करना चाहते हैं तो) मेरे पास धन आदि तो है नहीं, केवल यह मन है, इसे दण्ड में छिनवा लीजिये (मेरा मन बड़ा मनमौजी है इसलिये) इधर-उधर न रखकर प्रतिदिन (निज दूत की चौकी में) अपने निजी सेवक के रूप में रखिये।

विशेष .—कवि ने दण्ड के रूप में युक्तिपूर्वक अपने आराध्य का सान्निध्य माँग लिया है।

घुनेंधार सांच्यों ठयों, रम्हारो[1] हों घनस्याम।
हैं न देन को दड कछु, घरको करो गुलाम ॥१६॥

शब्दार्थ :—घुनेंधार—गुनहगार, रम्हारो—(गुज०-तमारो, राज०-थारो) आपका।

अर्थ :—हे घनश्याम, मैं आपका गुनहगार तो वास्तव में साबित हो गया पर मेरे पास जुर्माना अदा करने के लिए तो कुछ भी नहीं है। इसलिए अब

१—त्हारो

आप मुझे अपने घर का गुलाम बनाकर रखिये ।

विशेष —मिलाइये, "जिहि तिहि भाँति डर्‌यो रहौं, पर्‌यो रहौं दरबार"
—बिहारी

दयाराम घर का गुलाम होना चाहता है, बिहारी दरबार में पड़ा रहना चाहता है। यहाँ भी दोनों कवियों की प्रवृत्ति का अंतर स्पष्ट है।

छूटूंगो दरबार तें, फिरि करिहो कृति नीच ।
बांधों अपने गुननतें, राखों दीठी बीच ॥१७॥

शब्दार्थ .—दीठी बीच—दृष्टि समक्ष, नजर के नीचे।

अवतरण —अपने आराध्य के नैकट्य की कामना करते हुए कवि कहता है।

अर्थ :—भगवन्, यदि आपके दरबार से छूटूंगा तो मैं नीच कर्म करने लगूंगा। इसलिए आप मुझे अपने गुणों से बांध कर दृष्टि-समक्ष रखिए।

चाहु बसाये हृदय मे, धरूं त्रिभंगी ध्यान।
तातें राख्यो कुटिल उर, होहि असी सों म्यान ॥१८॥

शब्दार्थ —त्रिभगी—श्रीकृष्ण का ललित त्रिभंगी स्वरूप (जिसमें ग्रीवा, कटि और घुटनो पर मोड रहता है); कुटिल—टेढा, वक्र, असी—असि, तलवार।

अवतरण :—कवि एक सुन्दर युक्ति द्वारा भगवान से कहता है कि उसने हृदय की कुटिलता को उन्ही के कारण अपनाया है।

अर्थ .—मैं आपके त्रिभंगी स्वरूप का ध्यान करता हूं और उसे अपने हृदय में बसाना चाहता हूं। (आपका त्रिभगी स्वरूप कुटिल वक्र है) इसीलिए मैंने अपने हृदय को भी कुटिल (वक्र) बनाया है। जैसी तलवार होगी वैसी ही म्यान होगी।

विशेष .—कवि की उक्ति की वक्रता एवं मौलिकता प्रशंसनीय है। बिहारी से तुलना कीजिये—'दुखी होहुगे सरल हिय, बसत त्रिभंगी लाल।'

हरि, विट्‌ठल अधमुद्धरन, इत्यादिक निज नाम।
अर्थ कहा यह शब्दकों, कहों कृपा करि स्याम ॥१९॥

शब्दार्थ :—हरि—भगवान (हरनेवाला), विट्ठल—श्रीकृष्ण (ज्ञानशून्य को ग्रहण करनेवाला), अधमुद्धरन—अधमों का उद्धार करनेवाला।

अवतरण :—कवि अपने आराध्य को उनके विविध नामो का स्मरण करवा के उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना करता हैं।

अर्थ :—हे श्याम, आपके हरि, विट्ठल, अघमुद्धरन इत्यादि अनेक नाम हैं। कृपा करके बताइए, इन नामो का अर्थ क्या होता है ?

विशेष :—क्योंकि यदि आप हरि है तो मेरे पापो को हरिये, यदि विट्ठल है तो आपके नाम में 'वि' ज्ञान का, 'ठ' शून्य का और 'ल' ग्रहण का सूचक है। अर्थात् आप ज्ञान शून्य को ग्रहण करनेवाले हैं तो मुझे ग्रहण कीजिये। यदि आप अघमुद्धरन है तो मैं अघम हूँ, मेरा उद्धार कीजिये। इसके अतिरिक्त इन शब्दो का और कुछ अर्थ होता हो तो बताइये।

अनंत हे अपराध मम, केसें पेंहों अंत।
श्रमित होउगे बीसरों, सकुमार भगवंत ॥२०॥

शब्दार्थ :—श्रमित होउगे—थक जायेंगे, सकुमार—सुकुमार, कोमल।

अर्थ :—हे भगवान्, मेरे अपराध अनन्त हैं, आप उनका पार कैसे पाएँगे ? (अर्थात् यदि गिनना चाहेंगे तो गिन भी नही सकेंगे) फिर आप तो सुकुमार हैं, थक जायेंगे। इसलिए (एक उपाय कोजिये) मेरे (अब तक के) अपराधो को भूल जाइये।

विशेष :—मिलाइये बिहारी के निम्नलिखित दोहे से—

ज्यों ह्वै हौ त्यौं होऊंगो, हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन हैं, मो तारिबो गुपाल॥

श्रीहरि बिन कछु करि हरी, कहूँ सकें नहि कोय।
कहि श्रुति मे कृति का करी, हरि मो गती न होय ॥२१॥

शब्दार्थ :—करि—करना, हरी—हरना, किये को मिटाना, कृति का करी—ऐसा कौन-सा काम किया है।

अर्थ :—वेदो में कहा गया है कि ईश्वर ही एकमात्र कर्ता-हर्ता हैं। उनके (किये) बिना कोई न तो कुछ कर सकता है और न हर सकता है। जब सब कुछ करनेवाले आप ही है तो फिर मैने कौन-सा कर्म किया ? (सब कुछ आपने किया) हे हरि ! फिर मेरा उद्धार क्यो नहीं होता ?

देवी नांहि न देवको, निज ओतार हु कोंन।
राजहु राधाकृष्ण जुग, निति मो सिर वरभोंन ॥२२॥

अर्थ —हे राधाकृष्ण, (मेरे) न कोई देवी हैं न देवता हैं, यहाँ तक कि आपके निजी अन्य अवतार भी क्या हैं ? अर्थात उनमें भी मेरी आस्था नहीं है । (मैं तो आपके युगल रूप का ही अनन्य उपासक हूँ इसलिए विनती करता हूँ) आप दोनो (राधा कृष्ण) सदैव मेरे मन एव हृदय मन्दिर में निवास कीजिए ।

विशेष —कवि राधा-कृष्ण के युगल-स्वरूप का एकनिष्ठ एव अनन्य उपासक है ।

चिंता उदधि निमग्न हो, भयो गहे को हाथ ।
एक तिहारो सरन हो, बडवानल ब्रजनाथ ॥२३॥

शब्दार्थ —गहे को हाथ—हाथ कौन पकडे, सहारा कौन दे बडवानल—वाडवानल, समुद्र में लगनेवाली आग ।

अर्थ —हे ब्रजनाथ ! मैं चिन्ता के समुद्र में डूबा जा रहा हूँ, (आपके सिवा) कौन है जो सहारा दे सके ? हे वाडवानल रूपी ब्रजनाथ, मेरी रक्षा कीजिए । मैं आपकी शरण आया हूँ ।

विशेष —चिंता उदधि से मुक्ति पाने के लिए वाडवानल-ब्रजनाथ की शरण जाने की कल्पना अत्यन्त सुन्दर है ।

पर्यो मनोरथ पौन है, आव्रतमधि मन तूल ।
माधो मनिधर तुम बिना, ना टरिहैं इन झूल ॥२४॥

शब्दार्थ —आव्रतमधि—वात्याचक्र के मध्य, बगूले के बीच, तूल—रुई, झूल—झूलना, इधर-उधर होना मनिधर—मणिधर सर्प, जो वायु का भक्षण करता है, पौना सर्प ।

अर्थ —(मेरा) रुई रूपी मन मनोरथ-रूपी पवन के बगूले के बीच पड गया है और अधबीच म झूल रहा है, हे माधव-मणिधर, तुम्हारे बिना इस मन की यह चचल अवस्था समाप्त नहीं होगी ।

विशेष —यहाँ माधव और मणिधर शब्द का प्रयोग कवि ने साभिप्राय किया है । माधव (लक्ष्मीपति होने के नाते) मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ हैं और मणिधर (वायुभक्षी, पौना-सर्प) के रूप में वे मनोरथ-रूपी पवन का भक्षण करके मन-तूल को मुक्ति प्रदान कर सकते हैं ।

श्री वल्लभ बल्लभ सबें, सह बल्लभ मो होहु ।
सहज सदा ढिग राखियें, अपनों जानी मोहु ॥२५॥

शब्दार्थ —श्री वल्लभ—(१) लक्ष्मीपति (२) राधावर (३) श्री वल्लभाचार्य, बल्लभ—प्रिय, ढिग—पास ।

अन्वय .—श्री बल्लभ, सबें बल्लभ-सह मो वल्लभ होहु । मोहु सहज अपनो जानि सदा ढिग राखिये ।

अर्थ —हे श्रीवल्लभ ! अपने समस्त स्नेहियो सहित मेरे प्रिय बनिये और मुझे सहज ही अपना जानकर सदैव अपने पास रखिये ।

विशेष —कवि को आराध्य ही प्रिय नही, आराध्य के प्रिय भी प्रिय है ।

ललित त्रिभगी छैल छबि,[1] नटवर नदकिशोर ।
श्री राधा सह मो हृदें, बसो चित्त कों चोर ॥२६॥

शब्दार्थ —छैल—नायक के लिए एक सबोधन, सह—सहित ।

अर्थ —हे नटवर नन्दकिशोर ! ललित त्रिभगी छविवाले छैल ! चित्त को चुराकर राधासहित आप मेरे हृदय में निवास कीजिये ।

मती धरम रति कृष्ण मम, गति व्रदावन धाम ।
कृति सेवा श्रीनाथ कब, होहें रट हरिनाम ॥२७॥

शब्दार्थ :—मती—मति, बुद्धि, रति—प्रेम गति—गमन, आकर्षण, मुक्ति, कृति—कर्म, काम, कब होहें—कब होगा ।

अवतरण —कवि अपनी अभिलाषा प्रकट करता है कि ऐसा दिन कब आयेगा जब ये अभिलाषाएँ चरितार्थ होगी ।

अर्थ —वह दिन कब होगा जब मेरी मति धर्म में, आसक्ति श्रीकृष्ण में, गति वृन्दावन धाम की ओर, रटन हरिनाम की, और कृति श्रीनाथजी की सेवा होगी ।

विशेष —कवि मनसा, वाचा, कर्मणा अपने आराध्य के प्रति अनन्य भक्ति की कामना करता है ।

असि माया मोपर करो, चलें न माया जोर ।
माया मायारहित दिहु, निज पद नदकिशोर ॥२८॥

शब्दार्थ —असि—ऐसी, माया (गुज० ममता, प्रेम) जजाल, लोभ ।

१—छैल छव

अर्थ :—हे नन्दकिशोर, मुझ पर ऐसी ममता रखिये कि जिससे माया का कुछ भी जोर न चले। मायारहित करके आप मुझे अपने चरणकमलो का प्रेम दीजिये।

गोकुल ब्रंदाबन्न लिहु, मोर्पे जुगजीवन्न।
पलटें मोको देहु फिर, गोकुल ब्रंदाबन्न ॥२६॥

शब्दार्थ —गोकुल—इन्द्रियो का समूह, (२) गोकुल, ब्रन्दाबन्न—तुलसी और पानी, (२) वृन्दावन, जुगजीवन्न—जगजीवन, पलटें—एवज में।

अर्थ —हे जगजीवन! मुझसे गोकुल और वृन्दावन लीजिए और बदले मे मुझे गोकुल और वृन्दावन दीजिए।

विशेष :—कवि कहता है, मेरी इन्द्रियो के समूह (गोकुल) को आप लीजिये, अपने वश में कर लीजिए। तुलसीदल (वृन्दा) और जल (वन) अर्थात् वृन्दावन से ही आपकी मैं मनुहार कर सकता हूँ, अत कृपा करके इन्हें स्वीकार कीजिये और इनके बदले में आप मुझे अपने प्रिय धाम गोकुल और वृन्दावन में रहने का सौभाग्य प्रदान कीजिए।

मोपर मेरे प्रानपति, अतराजी जो आप।
तो न पाप परताप सब, पुण्य होयगें[1] पाप ॥३०॥

शब्दार्थ :—अतराजी—एतराजी, अप्रसन्न (२) अतिराजी—प्रसन्न, परताप—परिताप (२) प्रताप।

अर्थ :—(१) हे प्राणपति (श्रीकृष्ण) यदि आप मुझ पर नाराज हैं तो (आपकी नाराजगी के परिणामस्वरूप) मेरे पुण्य भी निश्चय ही पाप हो जाएँगे। इसलिए मुझे अपने (पहले किये हुए) पापो का परिताप नहीं है (क्योकि यदि मैंने पुण्य किये होते तो वे भी पाप ही जाते)।

(२) हे मेरे प्राणपति (श्रीकृष्ण), यदि आप मुझ पर अत्यन्त प्रसन्न हैं तो फिर मुझे पापो का क्या डर है, आपकी प्रसन्नता से सारे पाप स्वत. पुण्य बन जायेंगे।

विशेष :—श्रीकृष्ण की कृपा पर ही सब कुछ अवलबित है।

तुम सों झूठों तहु खरों, जगत लह्यों हरिदास।
यातों लजिहैं नाथ जो, अलिकजनहु उपहास ॥३१॥

१—पुण्य होगये पाप

शब्दार्थ :—तुम सो—तुम्हारे समक्ष, झूठो—झूठा, ढोंगी; लह्यो हरिदास—हरिभक्त समझ लिया, बानो लजिहै—प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा, अलिक—अलीक, झूठा ।

अर्थ :—(आप के समक्ष) मैं झूठा (ढोंगी) हूँ पर संसार ने तो मुझे सच्चा हरिदास मान लिया है । अब यदि लोगो ने झूठा समझकर मेरा उपहास किया तो हे नाथ, इसमें आपही की प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा ।

दीनबंधु अधमुद्धरन, नाम गरीब निवाज ।
यह सब मे में कौन जो, सुधि न लेत ब्रजराज ॥३२॥

शब्दार्थ :—गरीब निवाज—गरीबो का रक्षक; में कोन—मैं कौन हूँ, मैं कोई भी नही हूँ क्या ?

अर्थ :—हे ब्रजराज ! आप दीनबन्धु हैं तो क्या मैं दीन नही हूँ, आप अधमों का उद्धार करनेवाले हैं तो क्या मै अधम नही हूँ, आप गरीबनिवाज हैं, तो क्या मैं गरीब नही हूँ । इन सब में से क्या मैं कुछ भी नही हूँ जो आप अब तक मेरी सुध नहीं लेते ।

कृपन होत क्यों कृपाकर, तनक देत नहिं खोट ।
दीनपात्र हों दिहु दया, दान खान इक कोट ॥३३॥

शब्दार्थ :—कृपन—कृपण, कंजूस, खोट—कमी; इक कोट—एक करोड ।

अवतरण :—शास्त्रो में कहा गया है कि दीन पात्र को दान देने से धन बढ़ता है ।

अर्थ :—हे कृपाकर, आप कृपण क्यो हो गये है ? मुझे थोड़ा दे देने से आपके भंडार में कमी नही होगी । मैं दीन पात्र हूँ आप मुझे दया का दान दीजिए । आप की एक खान की करोड़ खानें होंगी ।

विशेष :—तुलनीय—दरीद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्योपधं पथ्यं निरुजस्य किमौषधम् ॥—गीता

सब सरनागत सम[1] करम, भोग प्रनत का बीच ।
बटों[2] हे हरि बरद कों, स्वजन गिनत सर नीच ॥३४॥

शब्दार्थ :—प्रनत—प्रणत, शरणागत पुष्टि भक्त; बटो—बट्टा लगना, कलंक

१—सब, २—बटो

लगना, स्वजन गिनत—भक्तो में गिने जानेवाले ।

अर्थ —यदि आपके शरणागत तथा प्रणत (पुष्टि भक्त) समान रूप से अपने कर्मों का फल भोगेंगे और दोनो के बीच कोई अंतर नही होगा तो हे हरि, इससे आपके स्वजनो में गिने जानेवालो का सिर तो नीचा होगा ही, आपके विरुद को भी बट्टा लग जायगा ।

कहत बनें न कछू सवें, जानत अंतरजामि ।
बाहि गहीं तो ऊबरौं, नातर बूर्यो स्वामि ॥३५॥

अर्थ —हे श्रीकृष्ण, (मैंने जो कुकर्म किये हैं उन्हें) कहते नही बनता । आप तो अंतर्यामी हैं, (आप मन की बात) जानते है । हे स्वामी, आप मेरा हाथ पकड लें तो बच सकता हूँ, नही तो डूबना निश्चित ही है ।

मन अजीत[1] उलटो चल्यो, सुनिहो प्रभु[2] मम राव ।
दगा कियों परधान ज्यो, नृप जीतन नहि दाव ॥३६॥

शब्दार्थ —अजीत—जिसे न जीता जा सके, निरकुश, परधान—प्रधान, मत्री ।

अर्थ —हे प्रभु, मेरा मन निरकुश होकर (मेरी इच्छा के) विपरीत चलने लगा है । (मेरी हालत वैसी ही हुई है जैसी) मत्री के दगा करने पर राजा की होती है । मत्री के बिना कोई भी नृप जीतने की आशा नही कर सकता ।

विशेष —मनरूपी प्रधान निरकुश है । प्रभुकृपा बिना उसे बस में नही किया जा सकता ।

तारो मारों हो धनी, ताकों मो नहि सोच ।
पें कहियें न अशक्यकों, बूर्यो, तेरें तोच ॥३७॥

शब्दार्थ —धनी—स्वामी, मालिक, सोच—(गुज० सोस) चिंता, अशक्य—असभव, असमर्थ, बूर्यो—डूबा ।

अर्थ —हे स्वामी, तारिये, चाहे मारिये—मुझे इसकी चिंता नहीं, किन्तु मुझ असमर्थ से यह न कहना कि तू अपने ही दोषो से डूबा ।

सुमति देहु, मो मन हरी, सुसग निजर्वे प्यार ।
फिरि न भजू तो दीजियें, मो सिर लख पैंजार ॥३८॥

१—अजित, २—प्रभू

शब्दार्थ :—हरी—हरकर (२) हरि, भगवान, मो मन हरी—मेरे मनको हरकर (२) हे हरि, मेरे मन में, लख पैजार—लाख जूतियां।

अर्थ :—(हे हरि) मेरे मनको हर लीजिए अथवा मेरे मन में सुमति, सत्संग और भक्ति (अपने प्रति प्यार) प्रदान कीजिए। इतना करने पर भी यदि मैं आपको न भजूँ तो फिर आप मेरे सिर पर चाहे एक लाख जूते मारिये।

विशेष :—कवि ने अपने आराध्य से सुमति, सत्संग और प्रेम की याचना की है, जो भगवद्‌भक्ति के आधार तत्त्व हैं।

> आप जरी उखरें कहो, मोतें माया कहांन[1]।
> तों ऊपरें जो होउ मै, तुम ही तें बलवान ॥३६॥

शब्दार्थ :—जरी—जड़ी हुई, उखरें—उखड़े, मोतें—मुझसे; ऊपरें—उखड़े।

अर्थ :—हे श्रीकृष्ण ! कहिए तो, यह आपके द्वारा जड़ी हुई माया मुझसे कैसे उखड़ सकती है ? यह तो तभी उखड़ सकती है जब मैं तुमसे अधिक बलवान होऊँ।

विशेष :—कवि कहता है, भगवन्, अपनी माया को कृपा करके आप ही समेटिये।

> करिहो नीकी नाथ सब, मेरी मो बिस्वास।
> भली करत हो जक्त[2] की, हो तो घर को दास ॥४०॥

शब्दार्थ :—नीकी—अच्छी।

अर्थ :—हे नाथ, मुझे विश्वास है कि आप सब तरह से मेरा भला करेंगे। क्योंकि आप तो सारे संसार का भला करते हैं, और फिर मैं तो आपके घर का दास हूँ।

> जानूं कछु न अबिधि बिधी, सरन पर्यो ब्रजराय।
> आछी लगें जु आपकूं, सो कृति लेहु कराय ॥४१॥

शब्दार्थ :—अविधि विधि—अनुचित-उचित।

अर्थ :—मैं उचित-अनुचित कुछ नहीं जानता। हे ब्रजराज, मैं तो आपकी शरण में आया हूँ। जो उचित लगे, वह काम मुझसे करवा लीजिए।

१—कहान, २—जगत

भगवन् के घर में बरन, सिव-स्वामी के अंत ।
सो मो[1] अचम्रों आपकों, रस श्रीराधाकंत ।।४२।।

शब्दार्थ :—भगवन् के घर में वरन—शिवजी के घर में रहने वाले गण (प्रेत) का प्रथम अक्षर—'प्रे'; शिवस्वामी के अंत—शिव के स्वामी (राम) का अंतिम अक्षर = 'म'; प्रे + म = प्रेम, मो अचम्रो—मुझे पिलाइये ।

अर्थ :—हे श्रीराधाकंत, आप मुझे अपना प्रेमरस पिलाइये ।

विशेष :—इस गूढार्थ दोहे में 'प्रेम' शब्द को कवि ने कैसे विचित्र ढंग से निष्पन्न किया है।

डार्यों मो भो जलधि हरि, अजा-उपल[2] बधि पाय ।
दारू कर दिय नाउ निज, तर्यों न बूर्यों जाय ।।४३।।

शब्दार्थ :—भों जलधि—भव-जलधि, संसाररूपी समुद्र; अजा—माया; उपल—पत्थर; दारू—देवदारू, काठ, लकडी; कर दिय—हाथ में दे दी, नाउं निज—अपने नाम की ।

अर्थ :—हे हरि, आपने मुझे संसाररूपी समुद्र में डाल दिया है । आपने मेरे पैरों में मायारूपी पत्थर बाँध दिया है और हाथ में नामरूपी लकड़ी दे दी है । परिणाम-स्वरूप मुझसे न उबरा जाता है और न डूबा जाता है ।

विशेष :—भव-जलधि में पड़े हुए व्यक्ति के पैरों में मायारूपी पाषाण बँधा है और हाथ में राम नाम रूपी लकड़ी है जिससे संतुलन बनाकर वह न डूब रहा है और न उबर ही रहा है। अत्यन्त सुन्दर रूपक है ।

दुर्बल जिउ असहाय अनु, सक्रत र शत्रु अनेक ।
ईस उपिक्षा[3] करोगे, क्यों करि निबहैं टेक ।।४४।।

शब्दार्थ :—अनु—अणु, छोटा; सक्रत—सकृत्, एकाकी ।

अर्थ :—हे ईश्वर, मैं तो दुर्बल असहाय अणु के जैसा लघु (जीव) तथा एकाकी हूँ और शत्रु अनेक हैं । यदि आप भी मेरी उपेक्षा करेंगे तो (आपकी अथवा मेरी) टेक कैसे निभेगी ?

विशेष :—यहाँ ईश की अपेक्षा जीव की टेक निभाने के संदर्भ में अर्थ करना समुचित प्रतीत होता है; दुर्बल असहाय अणु अवस्था (गर्भावस्था) में मैंने आपको वचन दिया था कि मैं जीवन प्राप्त करके आपकी सेवा करूँगा । यदि

१—मैं, २—उपल, ३—उपेक्षा

आप अब मेरी उपेक्षा करेंगे तो मैं अपने उस वचन का पालन कैसे कर सकूंगा। क्योंकि मैं अकेला हूँ और शत्रु अनेक हैं।

दुखी दास सब विमुख सुखि, भल भगवंत विवेक।
का न होंय सुख तुम करो, कों प्रतिबंध अनेक ॥४५॥

अर्थ :—हे भगवन्! आपके दास सब दुखी हैं और जो आपसे विमुख हैं वे सब सुखी हैं, आपका विवेक भी खूब है! (आप चाहें तो) क्या नहीं हो सकता? अनेक प्रतिबंधों को हटाकर भी आप (अपने शरणागतों को) सुखी कर सकते हैं।

देंने हें सुख संत[1] ह्वा[2], ताते ह्यां[3] नहिं कोय।
परि जो द्यों प्रभु दोहु[4] तल, का कछ अपजस होय ॥४६॥

शब्दार्थ :—ह्वा—परलोक में; ह्या—इहलोक में; द्यो—दें; दोहु तल—दोनो स्थानों में।

अर्थ :—संतों को परलोक में सुख देते हैं। इसलिए आप उन्हें यहाँ कोई सुख नहीं देते। पर यदि आप इस लोक और परलोक, दोनों जगह उन्हें सुख दें तो क्या इसमें आपका कुछ अपयश हो जायगा?

बलि बिभिषन प्रल्हाद ध्रुव, भज संभोग भगवंत।
तातें विदुर सुदाम दिन, श्रुतदेव सु बड़ संत ॥४७॥

शब्दार्थ :—भज संभोग—भोग में रत रहते हुए भक्ति की, दिन—दीन, सु—वे, से।

अर्थ :—(आपके भक्तों में) बलि, विभीषण, प्रह्लाद और ध्रुव आदि हैं, जिन्होंने भोग-रत रह कर (आपकी) भक्ति की है। उनसे विदुर, सुदामा और श्रुतदेवादि दीन होते हुए भी बड़े हैं।

विशेष :—दूसरी पंक्ति का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है (१) क्या दीन होने से ही विदुरादि संत बड़े हो गये? (२) इस तरह भी कि क्या ऐश्वर्य में रह कर भक्ति करने से ही विभीषणादि बड़े हो गये?

भक्त, भक्ति किय भद्र तुम, ठरि व्योहार कि चाल।
तामें तारो एक मो, नातें धरम गुपाल[5] ॥४८॥

१—संच, २—वहाँ, ३—यहाँ, ४—दोउ, ५—धर गोपाल

शब्दार्थ —भद्र किय—कल्याण किया, श्रेष्ठ बना दिया।

अर्थ —भक्तों ने आपकी भक्ति की और आपने उनका कल्याण किया यह तो लोक-व्यवहार की रीति हुई। हे गोपाल, इनमें से मुझे तो आप धर्म के नाते ही तारिये।

> भूख भगों कै भोग द्यो, कै टारों यह भान।
> कहा न कहूँ हो कोनसो, क्यो न धरत बति कांन ॥४६॥

शब्दार्थ —भूख भगो—भूख को भगा दीजिए भोग द्यो—खाने को दीजिए, भान—होश।

अर्थ —या तो भूख को मिटा दीजिए या खाना दीजिए या फिर ऐसा बना दीजिए मुझे कि इसकी प्रतीति ही न हो। हे श्रीकृष्ण आपके, सिवा मैं *सब किससे कहूँ। आप मेरी बात सुनते क्यो नही ?*

> तुमसे तारन निकट मो, बूरत गहों न हाथ।
> साखि बनत यह समय का, भले[१] ठरोगे[१] नाथ ॥५०॥

शब्दार्थ —तारन—उद्धार करनेवाला, बूरत—डूबते हुए, साखि—साक्षी, भले ठरोगे—अच्छे लगोगे क्या ?

अर्थ —आपके जैसे तारनहार के निकट होते हुए भी मैं डूबा जा रहा हूँ। आप मेरा हाथ भी नही पकड़ते। मेरे डूब जाने पर इस घटना का साक्षी बनना क्या आपको शोभा देगा ?

> काल व्याल विषविकल जिय, का करि सेव स्तुत।
> सहज कृपा मनि छुवइये, अभुत बैद अच्यूत[२] ॥५१॥

शब्दार्थ —का करि सेवा—सेवा क्या करें ? अच्यूत—अच्युत, श्रीकृष्ण।

अर्थ —हे अच्युत, काल-व्याल के विष से (सब) व्याकुल हो रहे हैं, आपकी सेवा-स्तुति क्या करें ? आप तो अद्भुत वैद्य है सहज कृपा मणि का स्पर्श कर दीजिये।

विशेष —कवि कहता है कि काल-व्याल के विष से विषाक्त हो जाने के कारण ही लोग सेवा नही कर रहे हैं, विष के उतर जाने पर ये सभी जीव आपकी

१—टरोगे, २—अच्युत

सेवा-स्तुति करेंगे। इसलिए कृपा (अनुग्रह)-मणि छुआ कर काल-व्याल-विष से मुक्त कीजिए। 'पोषणम् तदनुग्रह ।'

मो उर मे निज प्रेम अस, परिब्रढ[1] अचलित देहु।
जैसें लोटन-दीप सों, सरक न ढुरक सनेहु[2] ॥५२॥

शब्दार्थ —परिब्रढ—श्रीकृष्ण, लोटन-दीप—एक प्रकार का दीपक जिसे उलटा कर देने पर भी तेल नही गिरता।

अर्थ —हे श्रीकृष्ण, जैसे लोटन दीप से (उलटा करने पर भी) उसका तेल नही गिरता (उसी तरह विपरीत परिस्थितियो एव प्रलोभनो म भी आपके प्रति मेरा प्रेम सदैव एक-सा बना रहे) ऐसा एकनिष्ठ प्रेम आप मेरे हृदय में दीजिये।

कबको हरि हरि रटतहो, कटत न क्यो सताप।
हरन बरद बिसर्यो किधों, डरपे लखि मो पाप ॥५३॥

शब्दार्थ —बरद—बिरुद, डरपे—डर गये।

अर्थ —कबका हरि! हरि! रट रहा हूँ, फिर भी मेरे दु ख क्या दूर नही होते? या तो आप अपने 'हरि' नाम दूसरो के दु खो के को हरने के बिरुद को भूल गये हैं या फिर मेरे पापा को देखकर डर गये है।

विशेष —बिहारी की 'कबकौं टेरत दीन रट' अथवा 'हठ न करो अति कठिन है, मो तारिबो गुपाल' उक्ति से तुलना कीजिए।

भजन बिना दुख ना टरैं, बिकल बनै न भजन्न।
का करियें ज्यो त्यो बन्यो, तोतें तुम न प्रसन्न ॥५४॥

शब्दार्थ —भजन के बिना दु ख नही टलता और दु खी मनुष्य का चित्त भजन में एकाग्र नही हो पाता। ज्यो त्यों करके यदि कोई थोडा बहुत भजन करता है तो उससे आप रीझते नही। किया क्या जाय?

निज सों सब सब को दिखें, जो यह सांची बात।
तो मो तुम करिहो कृपा, समुझि अमल जगतात ॥५५॥

शब्दार्थ —अमल—निमल।

अर्थ —ऐ जगतात! यदि यह बात सत्य है कि सबको दूसरे अपने जैसे ही

१—परिव्रड (मू० प्र०), २—सरक न दुरक सनेहु (मू० प्र०)

दिखाई देते हैं, तो (मैं निश्चिन्त हूँ, क्योंकि) आप मुझे भी अपने समान निर्मल जान कर अवश्य कृपा करेंगे।

चूक जीवकों धरम हे, छमा धरम प्रभु आप।
आयो शरन निवाजि निज, करि हरियें संताप ॥५६॥

शब्दार्थ :—चूक—भूल, निवाजना—सन्तुष्ट करना।

अर्थ :—भूल करना जीवन का धर्म है और हे प्रभु, क्षमा करना आपका धर्म है। मैं आपकी शरण में आ गया हूँ। संतापों को हर कर आप मुझे संतुष्ट कीजिये।

विशेष :—रहीम की उक्ति से तुलना कीजिए : 'छमा बडन को उचित है, ओछन को उत्पात।'

पतित हुँ कहि गो पें न मन, तातें करो न पूत।
मे अलीक निज सांच कुरु, सहज कृपा अच्यूत ॥५७॥

शब्दार्थ :—गो—वाणी, पूत—पवित्र, अलीक—झूठा, निज सांच कुरु—सत्याचरण करूँ।

अर्थ :—मैं पतित हूँ यह बात मेरी वाणी कहती है पर मन नहीं कहता। इसीलिए आप भी मुझे पवित्र नहीं करते। हे अच्युत, मैं मिथ्याचारी सत्याचरण करूँ इतनी कृपा कीजिए।

बिसरत हरिजन सब दियो, ताकृत दुष्कृत सोउ।
लोल शील बिसरेन पर्यो, त्यों जन बिसरो मोउ ॥५८॥[१]

शब्दार्थ —सब दियो—सब दिया-दिवाया, ताकृत दुष्कृत—उनके किये कुकर्म; लील—लीला, शील—स्वभाव, आचरण; जन—मत।

अर्थ :—आप अपने भक्तों को सर्वस्व देकर भूल जाते हैं। उस (सर्वस्व दान) के द्वारा वे जो कुकर्म करते हैं उन्हें भी भूल जाते हैं। आपकी यह शील-बिसरन-लीला (देखकर मुझे डर लगता) है। कहीं आप मेरे (शील) को न भूल जायें।

---

१. दियों दाम सब बीसरत, ताकृत अपकृति सोंहु।
नाथ सील बिसरन पर्यो, त्यों जिन बिसरहु मोंहु ॥५८॥
(डभोईवाली प्रति में)

विशेष —कवि ने कितने सुदर ढग से यह बात कही है कि दूसरो के कुकर्मो के साथ आप मेरे सुकर्मों को न भूल जाइये।

हो निस द्यौस दयानिधे, क्यो सगम मो आप।
विस्मृति रश्मी तम जुगम, यूय वय मिलाप ॥५६॥

शब्दार्थ —निस-द्यौस—रात दिन सगम—मिलन, रश्मी—किरण (प्रभुता) जुगम—दो, दोना का यूय—तुम्हारा वय—हमारा।

अर्थ —हे दयानिधि ! मैं रात्रि हूँ और आप हैं दिवस। आपका मेरा सगम कैसे हो सकता है ? आपके और हमारे मिलन का केवल एक ही उपाय हो सकता है कि आप अपने रश्मिरूपी ईश्वरत्व एव मेरे अधकाररूपी अज्ञान को भुला दीजिए।

साधन साध्य न आप प्रभु, प्रेम तिहारें पास।
दया न करियत दीन लहि, कहा मिलन अब आस ॥६०॥

शब्दार्थ —लहि—लखि देखकर।

अर्थ —हे प्रभु ! आप साधन साध्य तो हैं नही, आप तो प्रेम के वशीभूत हैं। हे दयानिधि, आप दीन जानकर भी मुझ पर दया नही करते। अब मिलन की क्या आशा हो सकती है ?

३

प्रेम और नायिका वर्णन

लही न अत अकास कहुँ, चिंतामनी न मोल।
सख्या नाही जीउ की, तैसें प्रेम अतोल ॥६१॥

अर्थ —जैसे आकाश का अत नही मापा जा सकता और चिन्तामणि का मोल नही आँका जा सकता, जिस प्रकार जीवा की सख्या की गणना नही की जा सकती उसी प्रकार प्रेम को भी नही तोला जा सकता।

मोहन मन द्वें हैं अजित, सब कहि सांची बात।
सोऊ सदबस प्रेम के, सहज अती ह्वै जात ॥६२॥

शब्दार्थ —अजित—जो न जीता जा सके सदबस—तुरन्त वशीभूत,

अती—अति, अत्यधिक।

अन्वय :—'सोऊ प्रेम के अति सहज सदवस ह्वै जात'

अर्थ —एक मोहन और दूसरा मन ये दो ऐसे हैं कि जिन्हें जीता नहीं जा सकता, यह बात सब कहते हैं। और सच्ची बात है। पर ये भी सहज ही प्रेम के अत्यन्त एव तुरन्त अधीन हो जाते हैं।

विशेष —प्रेम में वश में करने की महान् शक्ति है, वह ईश्वर तक को वश में कर लेता है, मानव मन की तो हस्ती ही क्या है ?

तुलना कीजिये—'नर को बस करिबो कहा, नारायण बस होय'—रहीम

> व्याध फद मृग परतु है, बध अहेरी ह्वै न।
> प्रेम अजब बागूर में, पारनहार बचै न ॥६३॥

शब्दार्थ —व्याधि—अहेरी, शिकारी, बध—बदी, कैद, बागूर—जाल, पारनहार—फँसाने वाला।

अर्थ :—व्याधि के फदे में मृग फँसता है, स्वय अहेरी नही फँसता (मुक्त रहता है)। पर यह प्रेम का फँदा बडा अजीब है, इसमें जाल बिछाने वाला स्वयं भी फँदे में फँसे बिना नही रहता।

> और प्रसस लगें न रुचि, कीनी अति मनुहारि।[1]
> जेसि[2] मनोहर माधुरी, लगें प्रेमकी गारि[3] ॥६४॥

अर्थ —दूसरो की की हुई प्रशसा और अत्यधिक मनुहार भी उतनी मीठी नही लगती जितनी मीठी प्रेम (-पात्र) की गाली लगती है।

> तह्यों प्रेम उपब[4] जानियें, विरह विकल तन छीन।
> कछु न कहूँ सुहाय छिनु, दुति के होंइ अघीन ॥६५॥

शब्दार्थ —दुति—द्युति, शोभा (२) दूती।

अर्थ —प्रेम हुआ तब समझना चाहिए जब विरह से व्याकुल हाकर तन क्षीण हो जाय। कही क्षण भर के लिए भी किसी चीज में मन न लगे और प्रिय की (द्युति ?) दूती के पूर्णतया अधीन हो जाय।

विशेष —यहाँ 'दूती' की अपेक्षा 'द्युति' उचित प्रतीत होता है। प्रिय की भेजी दूती के अधीन होने से उसकी स्मरण-द्युति में लीन होना अधिक परिस्थिति-

---

१ मनुहारी, २ जैसी, ३ गारी, ४ जब

संगत है।

सब तें प्यारे[1] प्रान, पत प्यारी हैं प्रांनतें।
सहि ताहु को हान, चाखें प्रेम-पियूष जो ॥६६॥

शब्दार्थ :—पत—प्रतिष्ठा।

अर्थ :—प्रान सबसे अधिक प्यारा होता है। प्रान से भी प्रतिष्ठा प्यारी होती है। ऐसी प्रतिष्ठा की भी जो हानि सहने के लिए तैयार रहते हैं वे ही प्रेम-पीयूष का आस्वादन कर सकते हैं।

सो०—लोक लाज कुल बेद, छूटे सबै बिवेक बल।
परे हृदे जब छेद, दुसह प्रेम के बानकों ॥६७॥

अर्थ :—प्रेम का दुःसह बान जब कलेजे को छेदता है तो लोक-लाज, कुल और वेद की मर्यादा तथा विवेक का बल, सब धरा रह जाता है।

विशेष :—प्रेम में लोक-लाज, कुल-मर्यादा, वेद आदि के आदेश और उचित-अनुचित के विवेक की सुधि नहीं रहती।

दो० :—चकमक-सु परस्पर नयन, लगन, प्रेम परि आगि। Imp
सुलगि सोगठा रूप पुनि, गुन-दारू दृढ[2] जागि ॥६८॥

शब्दार्थ :—चकमक—एक विशेष प्रकार का पत्थर जिस पर कोई दूसरा पत्थर या लोहा रगडा जाय तो आग पैदा होती है। सोगठा—(फा० सोख्त : गुज० सोइतु) गुन—रस्सी, गुण, दारू—लकडी, बारूद, शराब।

अवतरण :—चकमक का दृष्टांत देकर कवि प्रेम की उत्पत्ति के संबंध में कहता है।

अर्थ :—चकमक के सदृश नेत्र जब आपस में टकराते हैं तो उनसे प्रेम की चिनगारियाँ झडती हैं। फिर रूप रूपी सोगठे (रूई) पर इनके गिरने से आग सुलग जाती है, किन्तु पूर्णतया प्रज्वलित तभी होती है जब उसका संयोग गुण रूपी दारू से होता है।

विशेष :—प्रेम के तीन उपकरण—लगन, रूप और गुण हैं।

दीठी[1] दुरिजन की लगें, सब कहि मो न पत्याय।
एसी सज्जन की लगे, प्रानसंग निठ जाय ॥६९॥

---

१. प्यारो, २. दृढ़।

शब्दार्थ —दीठी—दृष्टि, नजर, निठ—नीठ, मुश्किल से,

अर्थ —लोग कहते हैं कि दुर्जन की दृष्टि लगती है। पर मुझे इस पर विश्वास नही होता। क्योकि सज्जनो की दृष्टि तो ऐसी लगती है कि प्राणों के सग ही उससे (नीठ) मुक्ति मिलती है।

> बीच अमल का समल बिच, दोहू कलेजों खाय।
> दीठि[2] असिततें सित बुरी, कछू न जाहि उपाय ॥७०॥

शब्दार्थ —अमल—उज्ज्वल, समल—स + मल, मैली, असित—मैली।

अर्थ —दृष्टि उज्ज्वल हो चाहे मैली, दोनो में भेद ही क्या है ? दोनो ही कलेजे को खाती हैं। पर मैली दृष्टि से उज्ज्वल दृष्टि बहुत बुरी है क्योकि (मैली दृष्टि 'नजर' का तो इलाज भी है पर) उज्ज्वल दृष्टि (प्रेम) का कोई उपचार नहीं।

> रति बिन रस सो रसहिसों, रति बिन जान सुजान।
> रति बिन मित्र सु मित्रसो, रति बिन सब शब मान ॥७१॥

शब्दार्थ —रति—स्नेह, प्रेम, रस—(१) काव्यानंद (२) जहर, जान—(१) ज्ञान, जानकारी (२) जानकारी का अभाव, मित्र—(१) दोस्त (२) अग्नि, शव—शव, मुर्दा।

अर्थ —प्रेम के बिना रस जहर के समान, ज्ञान अज्ञान के समान, मित्र अग्नि के समान और वस्तुएँ शव के समान दुखदायी एव निरर्थक हैं।

> पीर न न्यारी मेन ए, नारी नारी मे न।
> अली अयानों भिषक ए, इशक-किशक समुझें न ॥७२॥

शब्दार्थ —न न्यारी—और कुछ नही है मैंन—कामदेव, काम-पीडा, नारी नारी में—नारी की नाडी मे, अयानो भिषक—अज्ञान वैद्य, इशक-किशक—इश्क की कसक, प्रेम-पीडा।

अवतरण —नायिका नायक के सौंदय पर आसक्त होकर व्याकुल हो रही है। उसकी सहेलियाँ रोग समझकर वैद्य को उसकी नाडी दिखा रही हैं। रोग वैद्य की समझ में नही आता। इस अवसर पर नायिका की एक अतरग सखी अन्य

---

१ दृष्टी, २ दीठि

सहेलियो से कहती है—

अर्थ :—यह पीडा और कुछ नही, काम-पीडा है। इसका निदान नारी की नाडी में कहां होगा ? हे सखि, यह वैद्य भी अनाडी है। 'प्रेम की पीडा को समझता ही नहीं।

विशेष —*विहारी की वैद्यक संबंधी 'मैं लखि नारी ज्ञानु' अथवा 'आय सुदरशन देहु' उक्तियों से मिलाइये।*

लाल ललो ललि लालकी, लें लागी लखि लोल।
ल्यायदेरि लय लायकर दुहु कहि सुनि चित डोल ॥७३॥

शब्दार्थ '—लें लागी—लगन लगो, लोल—चंचल, ल्यायदेरि—अरी ला दे; लय लायकर—आग बुझा दे।

प्रसंग '—नायक-नायिका एक दूसरे से मिलने के लिए अत्यन्त आतुर है। नायिका की सहेली दोनो की मध्यस्थ एव संदेशवाहक दूतिका है। दोनो प्रेमियो की बातें सुनकर उसका चित्त डोलने लगा है और वह अपनी सहेली से कहती है—

अर्थ :—लाल को लली से और लली को लाल से मिलने की इच्छा है। दोनो मुझसे कहते है, अरी तू उससे मुझे मिलाकर विरहाग्नि को शात कर। इनकी बातें सुनते-सुनते मेरा भी चित्त विचलित हो गया है।

जद्यपि रवि आतप भर्यो, सीतल लगत सरोज।
सकुचें लखि सो सुधाकर, समुझ प्रेम की चोज ॥७४॥

शब्दार्थ —आतप—घूप, उष्णता, •चोज—आश्चर्यजनक बात, चमत्कार।

अर्थ :—यद्यपि रवि ताप से भरपूर होता है फिर भी वह कमल को शीतल लगता है। वही कमल सुधाकर को देख कर सकुचा जाता है। प्रेम का यह वैसा चमत्कार है !

नौधा प्होंप सुगंधिते, हरि हरि मन सुख पाय।
दसइ पंकज प्रेम बिन, रुके कहूँ नहिं जाय ॥७५॥

शब्दार्थ '—प्होंप—पुष्प, नोधा—नवधा, नौ प्रकार की भक्ति '—
श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मा निवेदनम् ॥ (श्रीमद्भागवत);

हरि—भ्रमर, श्रीकृष्ण, सुखपाय—सुख पाता है, दसई—दशमा प्रेम लक्षण, भक्ति।

अर्थ :—श्रीकृष्ण का भ्रमर रूपी मन नवधा भक्ति रूपी पुष्प की सुगंध से संतुष्ट होता है किन्तु कमल रूपी (दसई) प्रेमलक्षणा भक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं रुकता नहीं।

विशेष :—जिस प्रकार भ्रमर नाना प्रकार के पुष्पों की सुगंध से आनंद प्राप्त करता है पर कमल को छोड़कर अन्य किसी भी फूल पर नहीं रुकता उसी प्रकार श्रीकृष्ण नौ प्रकार की भक्ति की श्रद्धारूपी सुगन्ध को अंगीकार करके मन में प्रसन्न होते हैं पर कमलरूपी प्रेम लक्षणा भक्ति के अतिरिक्त और किसी पद्धति से वे पूर्णतया वशीभूत नहीं होते।

सुखरासी सुधि ना रही, लखि के मुख सुख रासि।
रस लेते रस वीखर्यो, पनघट भइ उपहासि ॥ ७६॥

शब्दार्थ —सुखरासी—सुख की राशि, ज्योतिष के अनुसार—कुंभ राशि, अर्थात् घड़ा (२) सुख के भंडार श्रीकृष्ण।

अवतरण :—एक गोपिका पनघट पर से घट भर कर लौट रही है।

अर्थ :—सुख-राशि (नायक) का मुख देखकर नायिका को (सुखराशि-कुंभ) घड़े की सुधि नहीं रही। रस लेते समय घड़े का रस (जल) बिखर गया और पनघट पर उसका उपहास हुआ।

पनघट पनघट जाय पन, घट पनघट कौं ध्यान।
पनघट लाल चढ़ाय दें, अलि पनघट सुखखान ॥७७॥

शब्दार्थ :—(१) पनघट—(पन) पानी का (घट) घाट (२) (पन)-प्रण, प्रतिष्ठा (घट) कम हो जाय (३) (पन) किन्तु (घट) शरीर में (४) (पन) पानी का (घट) घड़ा, लाल—प्रियतम, नायक।

अवतरण :—एक गोपिका अपनी सहेली को पनघट पर न जाने की सीख देती है। इस पर उसकी सहेली उत्तर देती है।

अर्थ :—पनघट पर प्रतिष्ठा के घटने की संभावना है। किन्तु मेरे घट में तो सदा पनघट का ही ध्यान बना रहता है क्योंकि वहाँ प्रतिदिन प्रियतम पानी से भरा घट मुझे उचाते हैं। इसलिए हे आली, पनघट मेरे लिए सुख-दायी है।

१. जाऊँगे

स्यामा स्याम पुकारती, स्यामा रटते स्याम।
अली अचंभो आज वड, जुगल जपत निज नाम ॥७८॥

शब्दार्थ :—स्यामा—राधिका, जुगल—दोनों।

अवतरण :—राधिका और श्रीकृष्ण के मध्यस्थ (दूती) का काम करनेवाली एक सखी ने एक दिन देखा कि राधिका और कृष्ण दोनों अपना-अपना नाम रट रहे हैं। वह इस आश्चर्य को अपनी एक सखी के सामने प्रकट करती है।

अर्थ :—हे सखि पहले श्याम श्यामा का और श्यामा श्याम का नाम रटा करते थे पर आज बड़ा अचम्भा देखा, दोनों अपने-अपने नाम रट रहे थे।

विशेष :—कवि ने इस दोहे में प्रेम की उस पराकाष्टा का वर्णन किया है जिसमें प्रेमी स्वयं को भूलकर अपने आपको ही प्रेम-पात्र समझने लगता है और उसके जैसा आचरण करने लगता है।

प्यारी प्रीतम सों लिख्यौं, मत धरियो मो ध्यान।
तुम मोसे ह्वै जाउगे, करिहौं कापें मान ॥७९॥

अर्थ :—प्यारी ने अपने प्रियतम को लिखा कि तुम मेरा ध्यान न धरना अन्यथा तुम भी मुझ-से हो जाओगे। फिर मैं मान किस पर करूँगी?

विशेष :—जो जिसका ध्यान करता है वह वैसा हो जाता है। यथा 'भृङ्गी-कीट' न्यायानुसार।

हरि हरिवदनी सों लिख्यौं, हम ध्यावत तुम ध्याउ।
का चिंता हम तुम बनें, तुम हमसे ह्वै जाउ ॥८०॥

शब्दार्थ :—हरि—श्रीकृष्ण, हरिवदनी—चंद्रमुखी, राधिका।

अवतरण :—यह उपर्युक्त दोहे का प्रत्युत्तर है।

अर्थ :—हरि (श्रीकृष्ण) ने हरिवदनी (चंद्रमुखी राधिका) को लिखा, मैं तुम्हारा ध्यान करता हूँ तो तुम भी मेरा ध्यान करो। चिंता की क्या बात है? यदि तुम्हारा ध्यान करने से मैं तुम-सा बन जाऊँगा तो तुम मेरा ध्यान करके मुझ-सी बन जाओ।

आगीतें बेली बढ़ें, जल सींचत कुमलाय।
सिरके पलटें फल मिलें, मुख बिन खायों जाय ॥८१॥

शब्दार्थ :—आगी—अग्नि।

अर्थ :—एक बेल ऐसी है कि जो आग से फलती-फूलती है और पानी से कुम्हला जाती है। उसका फल सिर के बदले में मिलता है और बिना मुँह के खाया जाता है।

विशेष :—प्रेम रूपी बेल विरह रूपी आग से फलती-फूलती और मिलन रूपी जल से कुम्हला जाती है। इस प्रेम-बेल के आनदरूपी फल लगता है जिसका आस्वादन हृदय करता है। यह फल बडा महँगा है। लोकलाज और कुल की मर्यादा को त्यागकर जान की बाजी लगाने पर ही यह फल मिलता है। कबीर ने भी कहा है—यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
शीष उतारै भुइ धरै, सो पैठे इहि माहिं ॥—कबीर

करैं सहोदरते सरस, दे बिसराई बेर।
प्रेमी पानी परसतें, सुधा सरस हुई झेर ॥८२॥

अर्थ :—प्रेम बैर को मिटाकर (प्रियजन को) भाई से भी अधिक प्यारा बना देता है। प्रेम पात्र के हाथ के स्पर्श-मात्र से जहर भी अमृत हो जाता है।

ऐसो मीठो नहिं पियुस, नहिं मिसरी नहिं दाख[1]।
तनक प्रेम माधुर्य पैं, नोंछावर अस लाख ॥८३॥

शब्दार्थ :—पियुस—पीयूष, अमृत।

अर्थ :—प्रेम के जितना मिठास न दाख में है न मिसरी में और न अमृत में। प्रेम के तनिक माधुर्य पर ऐसी लाखो वस्तुएँ न्योछावर है।

सुख कै दुख सनेह मे[2] विद्वन देहु जुवाप।
जो दुःख तो सब करत क्यों, क्यों सुख तों परिताप ॥८४॥

शब्दार्थ :—विद्वन—विद्वान, जुवाप—जवाब।

अर्थ :—हे विद्वज्जन, मुझे इसका जवाब दीजिए कि प्रेम में सुख है अथवा दुःख? यदि दुःख है तो फिर सब करते क्यों हैं? यदि सुख है तो करने वाले को परिताप क्यों होता है?

विशेष—तुलना कीजिए—प्रेम प्रेम, सब कोई कहै, प्रेम न जानत कोय।
जो जन जानै प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय ॥
—रसखान

१. द्राक्ष, २. दुख के सुख सनेह में

बिपई[1] बिष[2] भच्छन करत, बहुत बिगारत[3] मूख।
पै मन हे रुच त्यों समुझि, रति दुख मेंहू सुख ॥८५॥

शब्दार्थ :—विष—जहर (२) विषयो के द्वारा भोगा जाने वाला पदार्थ—अफीम, भांग, मदिरा आदि।

अर्थ :—विषयी विषैला पदार्थ खाते हैं और खाते समय खूब मुँह बिगाड़ते हैं। पर वह उनके मन को खूब रुचता है। इसी प्रकार प्रेम के दुख में भी सुख को निहित समझना चाहिए।

विशेष :—यह दोहा इसके पूर्ववर्ती दोहे का प्रत्युत्तर है।

रतिरुजमे सुख समुझ मन, पै कहि सके न बाक।
कटुताई में मिष्टता, जैसि करेला साक ॥८६॥

शब्दार्थ :—रतिरुज—प्रेम पीड़ा, बाक—वाक्, वाणी।

अर्थ :—प्रेम-पीड़ा में सुख है; उस सुख का मन अनुभव करता है पर वाणी उसे कह नहीं सकती। प्रेम-पीड़ा में आनन्द उसी प्रकार निहित रहता है जिस प्रकार करेले के शाक की कटुता में उसकी मिष्टता।

विशेष :—बिहारी ने 'सूरन लौं मुँह लाग' कह कर रति में अपरिपक्वता की मुँहलगने वाले सूरन (जमीकंद) से उपमा दी है।

प्यारे मोकों तीर दिहु, पै जिन देहु कमांन।
कमांन लागत तीर सम, तीर लगत प्रियप्रांन[4] ॥८७॥

शब्दार्थ :—तीर—वाण (२) निकटता; कमान—धनुष, (२) अपमान।

अवतरण :—नायक मृगया खेलकर नायिका (एक रानी) के द्वार पर पहुँचा। अश्व से उतरने से पूर्व उसने नायिका से कहा 'लो यह कमान।' (स्वकीया वाक्‌विदग्धा) नायिका ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया—

अर्थ :—प्रिय देना ही है तो तुम मुझे तीर (निकटता) दो; कमान (अपमान) मुझे न दो। यदि आपने मुझे कमान (अपमान) दिया तो वह बाण के सदृश मुझे चुभेगा और यदि तुम मुझे तीर (निकट रहने का अवसर) दोगे तो वह मेरे प्राणों को अत्यंत प्रिय लगेगा।

---

१. बिखई २. बिख ३. बिगारत ४. मोय मान

विशेष :—'कमान' और 'तीर' में श्लेष रखकर कवि ने वाक्विदग्धा नायिका के वाक्चातुर्य का परिचय दिया है।

फूलूं हों लखि लालको, पिघरैं घेना गात।
सो हितु क्यों वे दूर जब, दुहूंको उलटी बात ॥८८॥ ✓

शब्दार्थ :—पिघरैं—पिघलें छोटा या दुबला होगा; घेना—गहना।

अवतरण :—नायिका अपनी सखी से कहती है—

अर्थ :—हे सखि, मैं प्रियतम को देखकर फूल जाती हूँ। पर मेरे इन गहनों का शरीर न जाने क्यों उस समय दुबला हो जाता है। और जब वे दूर रहते हैं तब उलटी ही बात होती है। मेरा शरीर दुबला हो जाता है। और गहनों का शरीर फूल जाता है।

विशेष :—नायिका को अभी सयोग एवं वियोग के कारण शरीर पर होने वाली प्रतिक्रिया का भान नहीं है। वह समझती है गहने छोटे या बड़े होते हैं पर प्रतिक्रिया वस्तुतः उसके शरीर पर होती है।

सहज संवारत सरस छब[1], अलि सो का सुच होत।
सुनि सुख तो लखि लाल मो, मुद मोहन चित पोत ॥८६॥

शब्दार्थ :—सुच—शांति, सुख; चित पोत—चित्त पिरोना, एक टक देखना।

प्रसंग :—दोहे की प्रथम पंक्ति में नायिका की सहेली उससे प्रश्न करती है। दूसरी पंक्ति में नायिका उसका उत्तर देती है।

अर्थ :—हे सखि, तू अत्यंत सुन्दर होने पर भी बारंबार शृंगार करती है। ऐसा करने मे तुझे क्या सुख मिलता है? (उत्तर में नायिका कहती है) सुन सुख तो मुझे लाल को देखकर होता है क्योंकि (शृंगार करने पर) वे मुदित होकर मुझे निहारते हैं।

मो मन को तुम मन प्रियें, मो तन तुम तन चाहि।
निरास कीजें ताहि कों, प्रीतम जो प्रिय नाहि ॥९०॥

शब्दार्थ :—तुम—(सं० तव) तेरा।

अवतरण :—एक चतुर परकीया वाग्विदग्धा नायिका नायक से

१. सहज सरस छब संवारत (मूल)

कहती है :—

अर्थ :—मेरे मन को तुम्हारा मन प्रिय है और मेरे तन को तुम्हारा तन। इन दोनो मे से आपको जो प्रिय न हो उसे आप निराश कर दीजिए।

विशेष :—वाक् चातुर्य से इस प्रकार उस नायिका ने सब कुछ मांग लिया है।

मन-रस रस-गंधक मिल्यो, चपल अचलता पाय।
और जतन बहु बुट्टि तें, ज्यो कबु गह्यो न जाय ॥६१॥

शब्दार्थ :—मन रस—प्रेम (२) पारा; बुट्टि—जडी-बूटी।

अर्थ :—मन रूपी चंचल पारा जो अनेक प्रयत्नो और जडी-बूटियो से काबू में नही आता, प्रेम रूपी गंधक के संयोग से स्थिर हो जाता है।

विशेष :—एक मन और दूसरा पारा ये दोनो अत्यन्त चपल होते है। अनेक प्रयत्न करने पर भी मन, और कई जडी-बूटियो का प्रयोग करने पर भी पारा वस मे नही होता। पर जिस प्रकार तनिक से गंधक का प्रयोग करने पर पारा चंचलता त्याग कर स्थिर हो जाता है उसी प्रकार प्रेम के सयोग से अस्थिर मन भी स्थिर हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि मन रूपी 'पारा' प्रेम की गंधक से ही काबू में आता है।

नहि प्रमान हित होनको, रूप बरन गुन कोइ।
कहां अमर इंधन धुंआ[1], मृगमदसो मति पोइ ॥६२॥

शब्दार्थ :—प्रमान—निश्चित आधार, मर्यादा, हित—हेत (?) प्रेम, अमर—एक वृक्ष जिसकी लकडी के धुएँ के सम्बन्ध मे यह मान्यता है कि वह सदा उसी दिशा में जाती है जिस दिशा मे कस्तूरी होती है, अमर ईंधन धुँआ—देवदारू-धूम्र; मृगमद—कस्तूरी; मतिपोइ—मन लगाया।

अर्थ :—प्रेम होने के लिए रूप, जाति या गुण का कोई निश्चित आधार नही। देखिए देवदारू-धूम्र ने कस्तूरी से कहाँ जाकर प्रेम सम्बन्ध बाँधा।

प्रेम प्रभूहतें प्रथू, बिबुध बिचारो लेहु।
कपि सकंध रघुनाथ लिय, सीस चढाय सनेहु ॥६३॥

शब्दार्थ :—प्रथू—प्रथु, विस्तृत, व्याप्त, बडा, बिबुध—ज्ञानी, पंडित,

१. ईंधन धुआँ

सकंध—स्कंध, कंधा; कपि—हनुमान; सनेह—तेल (२) प्रेम ।

अर्थ :—प्रेम प्रभु से भी बड़ा है, ज्ञानी यह स्वयं विचार देखें। हनुमान ने श्रीरामचन्द्र को कंधे पर विठाया पर स्नेह (तेल) को मस्तक पर चढाया ।

विशेष :—पौराणिक मतानुसार हनुमान के लिए राम से बढकर कुछ नही हैं। किन्तु हनुमान के मस्तक पर तेल चढ़ाने की प्रथा है। इसका सहारा लेकर कवि ने स्नेह (प्रेम) की महत्ता का अत्यन्त मौलिक ढंग से प्रतिपादन किया है। कवि की इस प्रकार की उक्तियों की तुलना रहीम की सूक्तियों से की जा सकती है।

प्रेमामृत को स्वाद कस, को कबु कह्यों न जांइ ।
अनुभविकों हिय जान ही, मुक मिसरी की नाइ ॥९४॥

अर्थ :—प्रेमामृत का स्वाद कैसा है, यह किसी से कभी भी कहा नही जा सकता। इसको तो अनुभवी का हृदय ही गूंगे के मिसरी के स्वाद की भाँति जानता है।

विशेष :—प्रेमानन्द का अनुभव का विषय है उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता।

पीतांबर परिधांन प्रभु, राधा नोल निचोल ।
अंग रंग संग परस्पर[१], यों सब हारद तोल ॥९५॥

शब्दार्थ :—निचोल—स्त्रियों की ओढनी, चादर; हारद—हार्दिक ।

अर्थ :—प्रभु पीताम्बर धारण करते हैं और राधा नीली ओढनी पहनती है। इसका हारद तोल (हार्दिक भाव का रहस्य मर्म) यह है कि ऐसा करने से दोनों को (प्रिय के) अंग रंग के संग होने की प्रतीति होती है।

विशेष :—प्रभु ने अपनी प्रिया के वर्ण का (पीला) पीताम्बर धारण किया है और राधा ने अपने प्रियतम के वर्ण का नील-परिधान पहना है। कवि ने प्रिय के वर्ण के प्रति आकर्षण का सुन्दर प्रतिपादन किया है।

विहारी ने—"जा तन की झाँई परे श्याम हरित द्युति होय"—कहकर राधा और कृष्ण के पीत तथा नील वर्णों की तथा उनके सम्मिलन से हरे रंग के उत्पन्न होने की सुन्दर कल्पना की है।

---

१. परसपर

रहैं पलक ना प्रथक दुहु[1], जिमि सीतलता अबु ।
अलग अग बातें करत तहु मिलि रह प्रतिबिंबु ॥६६॥

शब्दार्थ —पलक—क्षण, अबु—जल ।

अवतरण —नायक नायिका के मिलन को देखकर एक सखी दूसरी से कह रही है ।

अर्थ —पल भर के लिए भी ये दोनो पृथक नही रह सकते जैसे कि जल और शीतलता । यद्यपि शारीरिक रूप से ये अलग रहकर बातें करते हैं फिर भी इनके प्रतिबिंब मिले हुए से दिखाई पडते हैं ।

विशेष —दूर रहने पर भी छाया अथवा जल-प्रतिबिंब में आकृतियाँ आलिंगन बद्ध-सी दिखाई पडती हैं ।

योग यज्ञ जप तप तिरिथ, ग्यान[2] धरम व्रत नेम ।
बिहिन वल्लवी वल्लभा, करि हरि इक बल प्रेम ॥६७॥

शब्दार्थ —वल्लवी—(वल्लभी) गोपियाँ, वल्लभा करि—प्रिय बना लिया नेम—नियम ।

भावार्थ —योग यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, ज्ञान, धम, व्रत और नियम विहीन होने पर भी श्रीकृष्ण ने गोपिया को केवल प्रेम के बल पर ही अपना प्रिय बना लिया ।

विशेष —प्रेम उपर्युक्त नौ बातो (योग, यज्ञ, जप, तप, तीर्थ, ज्ञान, धम, व्रत, नियम) से अधिक महत्वपूण है ।

बानिक नटवरलाल कि न[3], लिखत तोष दिन रैंन ।
पान करें प्यासें मरें, बनचर ज्यो मम नैंन ॥६८॥

शब्दार्थ —बानिक—शोभा लिखत—(लखत) देखता हूँ तोष—सतोष, तृप्ति, बनचर—(बन = जल) बन में विचरनेवाली, मछली ।

अर्थ —मेरे नेत्र दिन रैंन श्रीकृष्ण की शोभा का पान किया करते हैं फिर भी तृप्त नहीं होते । मछली की तरह वे पान करने पर भी सदा प्यासे रहते हैं ।

---

१ रहैं पलक न प्रथक दुहू
२ ज्ञान
३ नटवर लाल की

गल बांही दुहु तहु रटैं, कित प्यारी पिउ कीत।
मिलत परे न प्रतीत यह, प्रीति रीति विप्रीत ॥६६॥

शब्दार्थ :—मिलत परे न प्रतीति—मिले हैं इसका विश्वास नहीं होता, विप्रीत—विपरीत, विलोम, एक अलंकार जिसमें साधन का ही सिद्धि में बाधक होना कहा जाता है।

अर्थ :—दोनों ने गले में बाँहें डाल रखी है फिर भी 'मेरी प्रिया कहाँ है?' 'मेरा प्रियतम कहाँ है?' की रट लगाये हुए हैं। प्रेम की यह रीति विपरीत है कि मिलने पर भी प्रतीति नहीं होती।

विशेष :—तुलनीय है—'जो मजा इन्तज़ारी में है वह मुश्केयारी में कहाँ।'

मुकर मुकर सब वस्तु भई, नयन अयन किय लाल।
दृग पसारं जित-जित अली, तित-तित लखूं गुपाल ॥१००॥

शब्दार्थ :—मुकर—दर्पण; अयन—घर, मुकाम।

अर्थ :—जब से लाल ने नयनों में निवास किया है। सब वस्तुएँ जैसे दर्पण की हो गयी हैं। क्योंकि मैं दृष्टि उठाकर जिधर देखती हूँ उधर गोपाल ही गोपाल दिखाई देते हैं।

विशेष :—तुलना कीजिए—'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल',
—कबीर

कबीर के लाल समस्त संसार में व्याप्त हैं। दयाराम के गुपाल आँखों में समाये हुए हैं। दर्पण रूपी वस्तुओं में, नयनों में समाये हुए लाल का प्रतिबिंब सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

सोरठा :—जाहि जाहि पें प्यार, ताको सब प्यारों लगें।
समुझ न सब संसार, बीती सोहीं जान ही ॥१०१॥

अर्थ :—जिसका जिसके प्रति प्यार होता है उसे उस (प्रिय) की सब बातें प्यारी लगती हैं। सब संसार इसे नहीं समझ सकता, भुक्त भोगी ही इसे समझ सकता है।

दोहा :—प्यारों जैसों प्यार प्रिय, तस प्रिय नंदकुमार।
ता पद पंकज रज सदा, हुजें मम प्रान अधार ॥१०२॥

१. जान

शब्दार्थ —हुउ—होउ—हो।

अर्थ —प्रिया को प्रियतम जितना प्यारा होता है उतना जिसे नदकुमार प्रिय हो उसके पद-पकजो की रज मेरे प्राणो का आधार बने।

रूप द्रव्य गुन उदय रति, पोषक सेवा सत्य।
लय परलगन कितव कुवच, जद्यपि भैं द्रढ अत्य॥१०३॥

शब्दार्थ—उदय रति—प्रेम उत्पन्न करनेवाले, लय—नाशक परलगन—दूसरे से प्रेम, कितव—छल, कपट, कुवच—अपशब्द, अत्य—अत्यधिक।

अर्थ —रूप, द्रव्य और गुण से प्रेम का उदय होता है। सेवा और सत्य उसके पोषक हैं। पर-प्रेम, छल और अपशब्द ये प्रेम का नाश करनेवाले हैं। अत्यन्त दृढ प्रेम को भी ये नष्ट कर देते हैं।

विशेष—कवि ने प्रेम के उदय, विकास एव अन्त के कारणो का सुदर ढग से निर्देश किया है।

ज्ञानी तपसि अनत पैं, शुद्ध प्रेमि कहुँ एक।
जैसें करि हरि ज्यूह त्यों, सिंह न होहिं अनेक॥१०४॥

शब्दार्थ —करि—हाथी, हरि—घोडा, ज्यूह—यूथ, समूह।

अर्थ —ज्ञानी और तपस्वी तो अनत हैं पर सच्चा प्रेमी कोई विरला ही होता है। जैसे हाथी घोडो के समूह तो अनेक होते है पर सिंह अनेक नहीं होत।

विशेष —तुलना कीजिए— सिंहो के लहडे नही, हसो की नहिं पांत।'

रति आरति जानत न तुम, मेरी हे प्रिय प्रान।
जस मो तुम, तसि को तुमे, लगिहे हुइ तब ग्यान॥१०५॥

शब्दार्थ —रति आरति—प्रेम-पीडा, आरति = पीडा।

अवतरण —नायिका-वचन नायक प्रति।

अर्थ —हे प्राणप्रिय, तुम मेरे प्रेम की पीडा को नही जानते। जैसे तुम मुझे (प्रिय) लगते हो वैसे तुम्हें भी कोई (प्रिय) लगने लगेगा तब तुमको (मेरी पीडा का) ज्ञान होगा।

ग्रीष्म घामसी हो तुमे, शिशिरातप तुम मोहिं।
दै छुटकार निभाव कित, यह प्रीती को होहि॥१०६॥

शब्दार्थ —ग्रीष्मघाम—गरमी की धूप, हो—हौं,मैं, शिशिरातप—सर्दी की धूप।

अन्वय —"यह प्रीतीको छुटकार, निभाव कित (कत ?) हो हि ।"

अवतरण —नायिका-वचन नायक प्रति ।

अर्थ —मैं तुम्हें ग्रीष्म की धूप के समान (अप्रिय) लगती हूँ और तुम मुझे शिशिर की धूप के समान (प्रिय) लगते हो । इस प्रेम का छुटकारा या निर्वाह अब कैसे होगा ?

विशेष —ग्रीष्मघाम और शिशिरताप की कल्पना मौलिक एव व्यजक है ।

सहि न परे रुझ बिबि दई, मिलन कठिन अति नेहु ।
मिति मिलाप निति सुगम दें नातर प्रीती लेहु ॥१०७॥

शब्दार्थ —रुझ—रुज्, व्याधि, पीडा, बिबि—दो, दई—दैव, विधाता, मिति—मीत, मित्र (२) तिथि, निति—नित्य, नातर—नही तो ।

अर्थ —(प्रियतम से) मिलन अत्यत कठिन है और प्रेम अत्यधिक है । ये दो पीडाएँ (एक) साथ सही नही जाती । इसलिए हे विधाता, या तो नित्य ही सुगमतापूर्वक मित्र मिलाप दे, नही तो यह प्रेम (वापस) ले ले ।

समता सब बिधि नेह अति, तृप्ति न, अचल मिलाप ।
दुहुकों निर्भय यह रहरें, पैयें दें हरि आप ॥१०८॥

शब्दार्थ —तृप्ति न—अतृप्ति, रहरें पैयें—(तवं पैयें) तभी प्राप्त हो ।

अर्थ —दोनों मे (गुण, कर्म और स्वभावादि) सब प्रकार की समता, परस्पर अत्यधिक स्नेह, मिलने की आतुरता (अतृप्ति) और निर्भय चिर-मिलन ये (चार बातें) तो तभी सभव है जब हे हरि ! आप दें ।

विशेष —भगवान के अनुग्रह के बिना नायक-नायिका को समता, नेह, आतुरता और मिलाप प्राप्त नही होते ।

फिरि फिरि के वेहो कहें, अरुच न हुई रतिबात ।
नां निबटें नूतन लगें, अनुभों जानी जात ॥१०९॥

शब्दार्थ —रतिबात—प्रेम की बात, ना निबटें—न निबटें, पूरी न हो, अनुभो—अनुभव ।

अर्थ —बारबार वही बातें करते है पर (प्रेमियों को) प्रेम की बात अरुचिकर नही होती । वह पूरी भी नहीं होती और सदा नई मालूम होती है । अनुभव से ही (इस कथन की) सचाई का पता लग सकता है ।

शशि चकोर अरविंद अलि, दिप पतग मृग राग ।
जिन बिन चल्यों न क्यो तजें, जदपि एक अनुराग ॥११०॥

शब्दार्थ —एक अनुराग—एकागी प्रेम, जदपि—यद्यपि ।

अर्थ —चकोर-चन्द्र, अलि अरबिंद, पतग-दीपक, मृग राग का प्रेम यद्यपि एकागी है किन्तु जिनके बिना चल हो नही सकता उन्हें कैसे छोड़ा जा सकता है ?

विशेष —एकागी प्रेम यद्यपि उचित नही है, पर प्रेमी प्रेम पात्र के बिना रह ही नहीं सकता अतएव वह प्रिय की ओर आकृष्ट होता है। चकोर, भ्रमर आदि जानते हैं कि शशि, अरविंद आदि उनके प्रणय का प्रतिदान नही देते। पर वे उनके बिना रह ही नही सकते। यही एकागी प्रेम है। मथुरागमन के पश्चात् कृष्ण के प्रति गोपिया का प्रेम ऐसा ही था ।

कारन कछु रति होन[१] धर, चहि फिर रहु या जाव ।
बेली जब मडप छहो, व्होंर न काम लगाव ॥१११॥

शब्दार्थ —धर—धरि, पकड कर, आधार, छहो—छई, छा गई, व्होरन—बहुरिन, लगाव—लगी, सहारा ।

अर्थ —प्रेम होने के लिए कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। (प्रेम हो जाने के बाद) फिर वह आधार रहे चाहे जाय। जैसे कि मडप पर छा जाने के बाद बेल को सहारे (लगाव) की आवश्यकता नही रहती ।

विशेष —प्रेम होने के बाद निमित्त या कारण की आवश्यकता नही रहती। 'तुलनीय—

'कालबूत दूती बिना, जुरै न और उपाइ'—बिहारी

रति सुख दुख जानें नको बिन इक अनुभोकारि ।
बिदित न पीर प्रसूति जिमि, बध्या नागरि नारि[२] ॥११२॥

शब्दार्थ —अनुभोकारि—अनुभवी, नागरि—चतुर ।

अर्थ —अनुभव किये बिना प्रेम के सुख-दुख को कोई नही जान सकता जैसे कि, चतुर वध्या स्त्री भी प्रसूति की पीडा को नही जान सकती ।

विशेष —"नही वध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्"

१ होय, २ बिदित न पीर प्रसूति की बध्या नागरि नरि

सब मीठो माशूक कों, विज्ञानी कहि साच ।
सकल मनोहर लखि लगें, सस्रदस्त ज्यों काच ॥११३॥

शब्दार्थ —विज्ञानी—विशिष्ट ज्ञानी, अनुभवी, सस्रदस्त काच (सहल दास्तान = हजार दास्तान) एक प्रकार का दर्पण जिसमें प्रत्येक वस्तु सुन्दर दिखाई देती है । लखि लगें—दीखने लगे ।

अर्थ —अनुभवी लोगो का यह कहना बिलकुल सच है कि प्रेमी को प्रेमिका की हर बात मीठी लगती है । उसी प्रकार जैसे 'सस्रदस्त' शीशे में प्रत्येक वस्तु मनोहर दीखने लगती है ।

विशेष —आशिक की नजर सस्रदस्त 'शीशे' के जैसी होती है जिसमें आकर माशूक की खामियाँ भी खूबियाँ बन जाती है ।

ज्याबिन असु न रहे सु बड, और ऊँच तहु हीन ।
पय पानी तें मधुर पें, त्हा परि जिअें न मीन ॥११४॥

शब्दार्थ —असु-प्राण ।

अर्थ —जिसके बिना प्राण न रहे, वही (उसके लिए) बडा है । दूसरे बडे होते हुए भी (उसके लिए) हीन है । दूध पानी से मधुर होता है पर उसमें मछली जीवित नहीं रह सकती ।

विशेष —रहीम की इस उक्ति से मिलाइये—

धनि रहीम यह पंकजल, लघु जिव पियत अघाय ।
उदधि बडाई को करे, जगत पियासो जाय ॥

होत प्रीति नीकी लगें, फिरि अरिल्यों लें प्रान ।
कुम्भिनि निगलत जष[1] न दुख, पाछे ज्यों जिय ज्यान ॥११५॥

शब्दार्थ —अरि—दुश्मन, कुम्भिनि—मछली पकडने के काँटे पर लगा खाद्य, जष—झष, मछली ।

अर्थ —प्रीति होती है तब तो भली मालूम होती है पर फिर वह दुश्मन की तरह प्राण लेती है । जैसे कि कुंभिनि को निगलते समय मछली को दुःख नहीं होता पर पीछे उसका जी जाने-जैसा हो जाता है ।

विशेष —प्रेम के प्रारंभ एवं परिणाम को कवि ने बहुत ही सुन्दर ढंग से से स्पष्ट किया है ।

---

१. झष

देखि जिएँ परसि न छुटैं, माशुक आशक धन्य।
जैसें लोह चमक लगी, टरे न लखि चैतंय ॥११६॥

शब्दार्थ :—चमक—चुम्बक-पत्थर।

अर्थ :—जो देखकर जीयें, मिलकर अलग न हो, ऐसे आशिक, माशूक धन्य हैं। जैसे कि लोहा चकमक-स्पर्श होने पर वियुक्त नहीं होता और चैतन्य हो जाता है।

विशेष :—प्रेम-चकमक के संस्पर्श से देह-लोहा चैतन्य हो जाता है।

सुख पावें की दुख सहे, लगी डगें नहीं प्रीति।
लपटि वृक्ष[1] जिमि वल्लरी, छुटी न कबु यह रीति ॥११७॥

अर्थ :—सुख मिले चाहे दुःख, लगी प्रीति छूटती नहीं जैसे कि वृक्ष से लिपट जाने पर वल्लरी फिर कभी उससे अलग नहीं होती।

व्रिड सुधि बुधि बल लखतही, माशुक आशुक जाय।
अलि कठोर ज्यो बस कट, मृदु सरोज मुरझाय ॥११८॥

शब्दार्थ :—व्रिड—व्रीडा, लज्जा, सुधि—होश; बुद्धि—बुद्धि; बंसकट—बाँस को काटने वाला; मुरझाय—शक्तिहीन हो जाता है।

अर्थ :—प्रिया को देखते ही प्रियतम की लज्जा, सुधि, बुद्धि और शक्ति वैसे हो तिरोहित हो जाती है जैसे कठोर बाँस को काटने वाले भौंरे की शक्ति कोमल कमल के सामने फीकी पड जाती है।

विशेष :—इसका अन्वय इस प्रकार भी किया जा सकता है . "माशूक व्रिड लखत ही आशिक सुधि बुधि बल जाय।"

सोइ नेह नदलाल में, प्रकटि न पावें जांन।
जस असि सूराचित्रकों, खेंच्यो होइ न म्यांन ॥११९॥

शब्दार्थ :—न पावें जान—जाने न पावे, लुप्त न हो; असि—तलवार; ऐंच्यो—खींचा हुआ।

अर्थ :—जिस प्रकार तलवार तानकर खड़े शूरवीर के चित्र में तलवार सदैव तनी ही रहती है और म्यान में वापस नहीं जाती। उसी प्रकार का प्रेम

---

१ अध

नदलाल के प्रति होना चाहिय कि एक बार प्रकट होन पर पुन कम न होन पावे।

रसिक नैन नाराचकी अजब अनोखी रीत।
दुसमन को परसे नहीं, मारें अपनों मीत ॥१२०॥

शब्दार्थ —नाराच—बाण

अर्थ —रसिको के नयन बाणो को भी अनोखी रीत है। दुश्मन का तो स्पश तक नही करते और अपन मित्र को मारत है।

विशेष —अत्यत सुन्दर उक्ति है। रसलीन के, अमि हलाहल मद भर, मे तुलना कीजिये।

रूप भूप के राज मे यह महान अन्याय।
नाम न लें कों मूढ कों च्यातुर मारे जाय ॥१२१॥

शब्दार्थ —को—कोई का

अर्थ —सुदरता के राजा के राज्य में यह महान अन्याय है कि मूख का तो वहाँ कोई नाम भी नही लेता और चतुर आदमी मार जात है।

विशेष —सौदय का प्रभाव सयान मनुष्यो पर ही होता है।

तुलना कीजिय— मारचो फिरि फिरि मारियै खूनी फिरै खुस्याल'

—बिहारी

ऐंचत तन आगार दिस चित्त रावरी ओर।
क्यो न सकें छुटि दडतें[1] धुजा पवन के जोर ॥१२२॥

शब्दार्थ —ऐंचत—खीचता है आगार दिस—घर की ओर रावरी—आपकी धुजा—ध्वजा पताका।

प्रसग —नायिका-वचन नायक प्रति

अर्थ —मुझ शरीर घर की ओर खीच रहा है और (मेरा) चित्त आप में अटका हुआ है। (अत मेरी हालत इस समय उस पताका के जैसी हो रही है) जो हवा के प्रवल वग में (फहराते हुए) भी डड से छूट नही पाती और अटकी रहती है।

विशेष —कवि की यह उक्ति मार्मिक है। गृह एव लोकमर्यादा रूपी दड नायिका का तन है। उसमें बधे हुए पताका रूपी मन को प्रमरूपी पवन

१ डडते

नायक की ओर खींचता है। तन और मन इस प्रकार विपरीत शक्तियो के अधीन हैं। नायिका की विवश स्थिति का सुन्दर चित्रण है।

प्रीत निभाई द्वै सकें, इकसु न निवहनहारि।
देखी सुनि न कहू बजी, एक हाथ सू तारि ॥१२३॥

अर्थ —एक के निभाये प्रीत नही निभती, दोनो के निभाये ही वह निभती है। जैसे कि एक हाथ से कभी ताली बजी हो ऐसा देखने सुनने में नहीं आया।

विशेष —दोहा न० ११० में कवि ने उच्च कोटि के एकागी प्रेम के विषय में कहा है। यहाँ वह सभवत उभयागी प्रेम (सासारिक प्रेम) के सबध में कह रहा है जिसके लिए दो का होना आवश्यक है।

प्रीति जोरबो सरल पै, करिबो कठिन निभाव।
जैवो जलधी पार परि, बैठी कागद नाव ॥१२४॥

शब्दार्थ —परि—ऊपर, पर (नाव परि बैठो) (२) पड कर (जलधी परि)।

अर्थ —प्रीति जोडना सरल है पर उसका निर्वाह करना (वैसा ही) कठिन है जैसा कि कागज की नाव मे बैठ कर समुद्र के पार जाना।

विशेष —यहाँ 'परि' का प्रयोग अस्पष्ट है 'कागद नाव परि बैठी जलधी पार जैबो' दूसरा 'जलधि परि पार जैवों' एव अर्थ 'पार-परि' मुहावरे के रूप में भी किया जा सकता है। तीसरे अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में दूरान्वय दोष है।

शकर समुझि सनेहपितु, तिल तातें लिय सीस।
त्योही निति नौनित धर्यो, कर किसोर ब्रज ईस ॥१२५॥

शब्दार्थ —शकर—महादेव, स्नेहपितु—तेलका पिता, प्रेम का मूल, नौनित—नवनीत, मक्खन, कर—हाथ, किसोर ब्रज ईश—किशोर ब्रजेश।

अर्थ —शकर ने तिल को स्नेह (तेल) का पिता समझकर मस्तक पर धारण किया। इसी प्रकार ब्रजेश ने स्नेह (घृत) का पिता मानकर नवनीत को हाथ में धारण किया है।

विशेष :—स्नेह के कारण ही पदार्थ सम्मानित होते हैं जैसे तिल एवं नवनीत।

जिहिं कन्याप्रिय वसत वहिं, धसत लिसत नहिं नैन।
प्राची ओर चकोर जिमि, तकियत हे दिनरैन ॥१२६॥

शब्दार्थ :—कन्या—दिशा के पास (देखिये · कन्या, काष्ठा, कुकुभ, दिशा, गेह, आशा, दिग्, ओर—भगवद्‌गो मंडल)।

अर्थ :—जिस दिशा में प्रिय बसता है उस दिशा की ओर प्रेमी के नेत्र टकटकी लगाकर देखा करते हैं। जैसे कि चकोर रात-दिन पूर्व दिशा की ओर ताका करता है।

दुग्ध नीर निज सम कियौं, आदि बयौं वन लागि।
उछरी पय पावक परी, बुझ यों धनि अनुरागि ॥१२७॥

शब्दार्थ :—वन—पानी।

अर्थ :—दूध ने पानी को अपने जैसा बना लिया। प्रारंभ में वह पानी के लिए छीजने लगा। फिर उफनकर आग पर गिर कर (उसने पावक को) बुझाया ऐसा अनुराग धन्य है।

मेरे रति उलटी भई, कै रति आरति नाम।
मागी रति मे केलि लहि, दै दै रति रुझ धाम ॥१२८॥

शब्दार्थ :—रति उलटी भई—'रति' का उलटा 'तीर'; आरति—आर्ति = पीड़ा, केलि लहि—खेल समझ कर दै, दै—दई दई, विधाता ने दी, रुझधाम—पीड़ा का घर।

प्रसग :—एक गोपिका श्री कृष्ण से कहती है।

अर्थ :—मेरे लिए ही यह 'रति' उलटी (तीर) हो गई है अथवा रति आरति का ही दूसरा नाम है। मैंने तो खेल समझकर 'रति' की याचना की थी किन्तु विधाता ने रति देते पीड़ा का धाम दे दिया।

यह कौतिक इक मे विलयौं, रति आरति ही रूप।
तामे होत प्रतीति सुख, मिथुन रंक का भूप ॥१२९॥

शब्दार्थ :—कौतिक—कौतुक, आश्चर्य; आरति—पीड़ा, निपुन—चतुर।

अर्थ :—प्रेम पीड़ा का ही दूसरा रूप है। (किन्तु) आश्चर्य की बात यह देखी कि इसमें निपुण, रंक और भूप—सबको सुख की प्रतीति होती है।

अटपटि पटि अति रति गती, यति सति मति हति जाय।[1]
फसे न निकसे को चतुर, सब रागी मुख हाय ॥१३०॥

शब्दार्थ :—हति जाय—नष्ट हो जाय; रागी—प्रेमी।

अर्थ :—प्रेम की गति अत्यधिक अटपटी है। क्योंकि इसके वशीभूत होकर योगियों का योग और सतियों का सतीत्व भी डिग जाता है चतुर भी एक बार इसमें फँसने पर नहीं निकल पाते। सभी प्रेमियों के मुँह से 'हाय' निकलती है।

प्रेम नेम यह वह लहें, दहें मन निति देह।
बरें बिना दीपहु न ज्यों, पावत पियन सनेह ॥१३१॥

अर्थ :—प्रेम का यह नियम है कि जो तन-मन को नित्य प्रति जलाने को तैयार हो वही प्रेम रस का पान कर सकता है। जैसे कि जले बिना दीपक स्नेह (तेल) का पान नहीं कर सकता है।

विशेष :—जले बिना स्नेह प्राप्त नहीं होता। प्रेम का यही नियम है।

यार चामिकर मन मनी, मैनभाय तुछ लाख।
ता बिन[2] जमत न स्वाद श्री, भूषन रति वे खाख ॥१३२॥

शब्दार्थ :—यार—प्रेमी, प्रिय, चामिकर—चामीकर, सोना, मनी—मणी; मैनभाय—कामभाव, तुछ—तुच्छ, लाख—एक पदार्थ, स्वाद—आनन्द, श्री—शोभा।

अर्थ :—प्रिय स्वर्ण है, मन मणि है, कामभाव तुच्छ लाख है। किन्तु इस लाख के बिना, जो बाद में जलकर भस्म हो जाती है, प्रेमा भूषणों मे आनन्द और शोभा की वृद्धि नहीं होती।

विशेष :—प्रेमी रूपी स्वर्णभूषणों में मनमणि को जड़ने के लिए कामरूपी लाख आवश्यक है। कवि ने काम को तुच्छ बताते हुए भी प्रेम में उसकी सार्थकता प्रतिपादित की है।

१—अटपटि पति अनि रतिगती, रति सति मति हति जाय

२—ताबिन जपत स्वाद श्री

मोहि मोह तुम मोहको, मोह न मो कहुं धारि[1]।
मोहन मोह न वारियें मोहनि मोह निवारि[2] ॥१३३॥

शब्दार्थ :—वारियें—वदलना, मो + हनि—मुझे मारकर, निवारि-निवार कर।

अर्थ —मुझे केवल आपके मोहका मोह हैं, मेरे मोह को आप अपने अतिरिक्त और कही केन्द्रित न करिये। हे मोहन, आप इसका निवारण भी न करिये। यदि करना हो हो तो मेरे प्राणों का अंत कर के (मो + हनि) फिर ऐसा कीजिए।

सोरठा .—वेंलाए च्यातूर,[3] सब सठ छाडि सनेह बलि।
तोमे पीर प्रचूर, सुख प्रतीति बड अचभों ॥१३४॥

शब्दार्थ —वेंलाए—बेल डाला, चौपट या नष्ट कर दिया, वलि—वलिहारी (२) वली।

अर्थ ·—हे प्रेम, तेरी वलिहारी हैं, तूनें सब मूर्खों को अछूता छोड दिया और जितने भी चतुर हैं उन सबको वेल डाला। तेरे में प्रचुर पीडा है फिर भी (लोगो को तुममें) आनन्द की प्रतीति होती हैं, यही वडा आश्चर्य है।

दोहा .—द्रगन लगन मन मग न परि, अगन गगनलों,लागि।[4]
भगन भगनफल, जगन सहि, हरि सों सो बड भागि ॥ १३५॥

शब्दार्थ ·—मगन परि—(१) मग न परि, मार्ग में न पड(२) मगन—मग्न होकर। अगन—(१) अग्नि (२) अग न, आग नही। भगन—(१) भग्न (२) भंग नही। भगनफल—आठ गणों में एक गण 'भगण' जिसका फल यश माना गया है। जगन सहि—(१) जगण का फल (पीडा) सहन कर (२) जग नसह—संसार का वधन कट जाता है। हरिसोंसो—(१)ईश्वरप्राप्ति मे सोसो, सशय(२) हरि से (प्रेम) है वह। वडभागि—(१) वडप्पन भाग जाता है। (२) वडभागी है।

अर्थ :—(हे मन, तू) दृग लगने (प्रेम) के मार्ग में न पड। प्रेम की आग गगन तक पहुँचती है। इसमे भगनफल (यश) नष्ट होता है, जगनफल (कष्ट) सहना पडता है। हरि-प्राप्ति में संशय उत्पन्न हो जाता है और वड़प्पन जाता रहता है।

१—धारि २—निवार ३—चातुर ४—जागि

(२) हे मन, तू मग्न होकर (हरि से) प्रेम कर। हरि से प्रेम करनेवालो को प्रेम की आग नहीं जलाती, कीर्ति भी भग्न नही होती, सासारिक बंधन कट जाते हैं। जिनका हरि से (प्रेम) हैं वे बड़भागी हैं।

प्रीती सो सहराइयें, असु अनन्य द्वै अंग।
गति इक की सों औरकी जिमि कारंड विहंग ॥१३६॥

शब्दार्थ :—सहराइये—सराहना करिये, असु—प्राण; अनन्य—जो अन्य न हो, अभिन्न; कारंड विहंग—कारंडव, एक प्रकार का पक्षी जो सदैव जोडे के साथ उड़ता है किन्तु जमीन पर उतरते समय अलग हो जाता है।

. अर्थ :—प्रेम वही सराहनीय है जिसमें अंग दो होते हुए भी प्राण एक हो, *एक की गति हो वही दूसरे की हो, कारंड विहंग की भाँति।*

विवाद अर्थ समंधता, तिय रह जल्प परोक्ष।
बढ़ियों और सनेह कित, प्रथम होइ सब मोक्ष ॥१३७॥

शब्दार्थ :—विवाद—वादविवाद; अर्थसमंधता—आर्थिक व्यवहार; रहस्—एकान्त, जल्प—अस्पष्ट वार्तालाप; मोक्ष—छुटकारा, समाप्ति।

अन्वय :—परोक्ष रह तिय जल्प—पति के परोक्ष में एकात में उसकी पत्नी से वार्तालाप।

. अर्थ :—वादविवाद, लेन-देन और परस्त्री से किया गया एकात में वार्तालाप (ये) तीनो ऐसे हैं (कि) जिनसे स्नेह के बढने की तो बात हो क्या प्रारंभ में ही (इनसे) सब कुछ समाप्त हो जाता है।

विशेष :—जिससे मैत्री रखनी हो उसके प्रति उपर्युक्त तीन बातो में सावधानी रखनी चाहिए।

मिलतहु दुख बिछुरतहु दुख, सुख प्रिय अचल मिलाप।
सुन पतंग सारिंग ज्यो, कहा जुड़ाव निति ताप ॥१३८॥

शब्दार्थ :—पतग—(१) पतगा (२) सूर्य, सारिंग—(१) दीपक (२) उच्चैश्रवा (सूर्य के घोड़े का नाम), जुड़ाव—(१) मिलन (२) ठंडक (जूड़ी),।

अर्थ :—मिलने में भी दुःख है और बिछुड़ने में भी; सुख तो केवल प्रिय से अचल मिलाप में है। देखिए, पतंग और सारंग का शातिदायी मिलन कहाँ हो पाता है ? उन्हें तो नित्य ताप ही सहन करना पड़ता है।

विशेष —सारग शब्द के १०८ अर्थ होते है। यहाँ पतग के साथ प्रयुक्त होने से दीपक अर्थ ग्रहण किया गया है। 'पतग—सारग' का एक अर्थ सूर्य और उसका उच्चैश्रवा नामक अश्व भी हो सकता है।

सोई भाजन प्रेमरस, प्रकट कृष्ण के गात्र।
पय पुडरिकनी को न जो, रहि बिन कचन पात्र ॥१३९॥

शब्दार्थ —भाजन—पात्र, पुडरिकनी—सिंहनी।

अर्थ —वही प्रेम-रस का पात्र है जो श्रीकृष्ण के गात्र से उत्पन्न हो (अर्थात् पुष्टिमार्गी हो ?)। सिंहनी का दूध कचन के पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्र में नही रह सकता।

विशेष —कचन पात्र के जैसे पुष्टिभक्त ही पुडरीक-पयसदृश प्रेम रस के अधिकारी हैं। कवि की एक गुजराती गरबी की पक्ति से तुलना कीजिए।

"जे कोई प्रेम अश अवतरे, प्रेम रस तेना उरमा ठरे।"

मुरझें मन पछ्तात निति, अब न कहें सों खाय।—दयाराम
अहो प्रेम बल प्रज्ञहू, भौंरे लो भूल जाय ॥१४०॥

शब्दार्थ —सो खाय—सौगध खाकर, बल—(१) शक्ति (२) बलिहारी,

अर्थ —मन में मुर्झाते हैं, नित्य पछताते है और सोगध खाकर कहते हैं कि अब ऐसा नहीं करेंगे, पर प्रेमवश होकर बुद्धिमान भी भ्रमर की भाँति भूल कर बैठते है।

• **विशेष** —भ्रमर कमल में बदी होकर पछताता है पर दूसरे दिन भूल कर फिर उसी में बदी होने चला जाता है।

सबैं[1] प्रति प्रिय जीउ निज, ताकों जिहा लगन्न।
को काकों अँसान कर, यहा मन होइ मगन्न ॥१४१॥

शब्दार्थ —लगन्न लगन, अँसान—एहसान।

अर्थ —सबको अपना जीव अतिशय प्यारा होता है। वह जहाँ लगना हो लग जाता है। ऐसा करके कोई (प्रेमी) किसी (प्रेमपात्र) पर एहसान नहीं करता वहाँ उसका मन मग्न होता है।

१—सेरे

विशेष —प्रेम करके कोई किसी पर एहसान नहीं करता। सब अपने आनन्द के लिए ऐसा करते हैं।

प्रीती ह्वा नीती नहीं, नीती ह्वा नहिं प्रीत।
स्यानप अरु मदछाक जिमि, नहि इकत्र कहुरीत ॥१४२॥

शब्दार्थ :—स्यानप—सयानापन, चतुराई, मदछाक—मदिरा का नशा।

अर्थ :—प्रीति होती है, वहाँ नीति नहीं ठहरती और जहाँ नीति होती है वहाँ प्रीति नहीं रहती। ये दोनों वस्तुएँ उसी प्रकार एकत्र नहीं हो सकती जिस प्रकार मदिरा की मस्ती और चतुराई।

कछु न अधिक प्रियप्रान सों, सो तुमसों नहिं प्रान।
तुम प्यारे इक तुमहि से, नां पटतर सम आन ॥१४३॥

शब्दार्थ —पटतर—समान, बराबरी का, आन—अन्य।

अवतरण —नायिकावचन नायक प्रति।

अर्थ — प्रिय प्राण से बढ़कर कोई पदार्थ अधिक प्यारा नहीं होता। वह प्राण भी मुझे तुम सा प्यारा नहीं। तुम मुझे तुम्हीं-से प्यारे हो। दूसरा कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता।

राज रूप-रसपान सुख, समुझतहैं मों नैन।
पै न बैन हैं नैनकों, नैन नहीं हैं बैन ॥१४४॥

शब्दार्थ —राज—प्रिय के लिए सबोधन।

अवतरण —नायिका नायक के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहती है —

अर्थ —हे राज! आपकी रूपमाधुरी के रसपान का आनंद मेरे नेत्र अनुभव करते हैं पर (उसका बखान नहीं कर सकते क्योंकि) नेत्रों के वाणी नहीं है और वाणी के नेत्र नहीं हैं।

विशेष —तुलना कीजिए —(१) गिरा अनयन नयन बिनु बानी—तुलसी (२) बयाँ जो दर्दे मुहब्बत हो तो हो क्योंकर। न दिल जुबां के लिए है, न जुबां दिल के लिए—अज्ञात।

शब्दार्थ :—दै दै—दई (विधाता) ने दी होती; बानि—वाणी; हीय—हृदय।

अवतरण :—नायिकावचन नायक प्रति।

अर्थ :—हे प्रिय, तुम मुझे कितने प्यारे लगते हो, यह मैं कह नहीं सकती। यदि विधाता ने हृदय को वाणी दी होती तो अवश्य ही कह कर बता देती।

विशेष :—द्वितीय पंक्ति का अन्वय इस प्रकार होगा :—'दै जो हीय बानि दै होती, कहैं दिखावत'।

सो हरिरूप समुद्र में, मिल्यो ललन चित लोन।
अबसों भिन्न न होहि कबु, जैसें आभा भोन ॥१४६॥

शब्दार्थ —ललन—(यहाँ) ललना, गोपिका, लोन—नमक, आभा—प्रकाश; भोन—भान, सूर्य।

प्रसंग :—गोपियाँ कृष्ण के रूप पर आसक्त होकर घर को सुधबुध खो बैठी हैं। इससे उनके घरवाले बड़े कुपित हैं। वे कहते हैं—

अर्थ :—हरि-रूपी समुद्र में इन ललनाओं का चित्तरूपी नमक घुल गया है। अब वह कभी भिन्न नहीं हो सकता। वह सूर्य और प्रकाश की भांति अभिन्न हो गया है।

अनल भखे शशिरति हित्, चकोर गिनत न ताप।
भस्म होइ भवभाल लगु, हुइ कबु मित्त मिलाप ॥१४७॥

शब्दार्थ :—ताप—उष्णता; भवभाल—शिवजी का ललाट।

अर्थ :—चकोर ताप की परवाह न करके अंगारे खाता है। वह चाहता है कि भस्म होकर ही वह (अपने प्रिय के निकट) शिव के ललाट तक पहुँच जाय और शायद इसी बहाने प्रिय से मिलाप हो जाय।

झां मन बेलीं ह्वां न श्रम, व्रिड प्रमाद अघ भीति।
पन तन जीवन सहज दें, भै चित प्रीति प्रतीति ॥१४८॥

शब्दार्थ :—झा—जहाँ; बेली—सहयोगी, साथी (२) बेल, व्रिड—लज्जा; प्रमाद—आलस्य, अघभीति—पापका भय, प्रतीति—विश्वास।

अर्थ :—जिस वस्तु पर चित्त में प्रीति और प्रतीति दृढ़ हो जाय, और मन बेली हो जाय उसके लिए प्रयत्न करने में श्रम, लज्जा, आलस्य और पाप का अनुभव

नही होता। प्रेमपात्र के प्रति प्रेमी, तन, धन और जीवन भी सहज ही अर्पित करने के लिए तत्पर रहता है। ऐसा है प्रेम।

और प्ररिस्या विरह दुख, हिलग अग बड दोइ।
सिखी धूम्र औ ताप बिन, जिमि कहु कदा न होइ ॥१४६॥

शब्दार्थ :—प्ररिस्या—ईर्ष्या, हिलग—लगन, प्रेम, सिखी—अग्नि।

अर्थ —औरों (अपने प्रेमपात्र से प्रेम करनेवालो) के प्रति ईर्ष्या और प्रिय के विरह की पीडा—ये प्रेम के दो प्रधान अग है। जैसे अग्नि धुम्रों और ताप विहीन नहीं हो सकती (उसी प्रकार ईर्ष्या और विरह विहीन प्रेम भी दुर्लभ है)।

औगुन बल्लभ को कबू, टिकें नहीं उर आय।
ज्यों सब सागर पेट मे, रहै न निकसी जाय ॥१५०॥

शब्दार्थ —बल्लभ—प्रिय, सब—शव।

अर्थ —अपने प्रिय के अवगुण या तो हृदय मे पहुँचते ही नही और अगर पहुँचते हैं तो टिकते नही। उसी प्रकार जैसे सागर के पेट में शव रह नही सकते, निकल जाते हैं।

विशेष —कवि की यह सूझ बडी मौलिक है। अवगुणो के लिए शव की और प्रेमी के हृदय के लिए सागर की कल्पना मार्मिक है। शव फूल कर सागर की सतह पर आ जाता है और तरगें उसे कहीं दूर तट पर फेंक देती है। यथा —'उठा लेती है लहरें तहनशी होता है जब कोई।'

झा जाही कों मन मन्यों, सो ताकों सुखदाय।
जियें न गिरकिट सरकरा, दधिजलि सरि मरि जाय ॥१५१॥

शब्दार्थ —झां—जहाँ, मन मान्यो—मन मान गया, लग गया, गरकिट—विष का कीडा, सरकरा—शकरा, दधि जखि—समुद्र की मछली, सरि—सरिता।

अर्थ —जिससे जिसका दिल लग गया, वही उसके लिए सुखदायी है। जैसे कि विष के कीडे (विष खाते हैं) शक्कर में प्राण त्याग देते है और समुद्र की मछलियाँ (खारे पानी में जीती हैं) सरिता जल में प्राण त्याग देती है।

प्रीतप्रान सम सब बदें, मेरे मन अस नाहि।
प्रियकी पीर न सहि परें, असु रुज सोसो जाहि ॥१५२॥

शब्दार्थ :—असु रुज—प्राणो की पीडा, सोसना—समाना, सहन करना,

अवतरण :—प्रेमगर्विता नायिकावचन ।

अर्थ :—सब प्रिय को प्राणो के समान बताते हैं पर मैं अपने अनुभव के आधार पर कहती हूँ कि ऐसा नही है। क्योकि प्राणो की पीडा तो सहन की जा सकती है पर प्रिय की पीडा सहन नही होती ।

कित दुलखें हम किय कहा, जो तो लगी अनीति ।
यातें दूनो याहि ढब, करि तु हमे ठरि जीति ॥१५३॥

शब्दार्थ :—दुलखना—बारबार कहना, याहि ढब—इसी रीति से, हमें ठरि जीत—हमें जीत ले ।

अवतरण :—नायक ने एकात में नायिका को आलिंगन बद्ध किया। नायिका ने स्त्रीसुलभ लज्जा दर्शाते हुए नायक को डाँटा। उत्तर में नायक ने कहा :—

अर्थ :—क्यो बुरा-भला कहती हो ? हमने किया ही क्या है जो तुम्हें अनुचित प्रतीत हुआ ? और यदि अनुचित प्रतीन हुआ है तो जैसा व्यवहार मैंने तुम्हारे साथ किया है वैसा ही उससे दुगुना तुम मेरे साथ करके विजयी हो जाओ ।

गारि मत्र बूका सुरज, मोहनि मूठि हरी जु ।
जुल्मि[1] तहू घटि सार्ध त्रय, सो नहि लगत मरी जु ॥१५४॥

शब्दार्थ :—बुका—अबीर, मूठि—मूठ, जादू, जुल्मि—घातक, घटि—सार्धत्रय—साढे तीन छठी ।

प्रसग :—एक गोपिका श्रीकृष्ण के साथ होली खेलकर आयी है और अपना अनुभव अपनी एक सहेली को सुना रही है ।

जब किसी पर मूठ चलानी होती है तो मुट्ठी में रज लेकर उसे अभिमन्त्रित करके फेंका जाता है। यदि मूठ घातक हुई तो साढे तीन घडी में ही प्राण हर लेती है ।

अर्थ :—अबीर की रज को गालियो से अभिमंत्रित करके हरि ने मेरी ओर फेंका। घातक मूठ का प्रभाव साढे तीन घडी में होता है किन्तु नहि, मैं तो लगते ही मर गई इस मोहिनी मूठ से ।

१—जुल्मि

रति चहलें मातग मन, फस्यो न निकसन पाय।
बल करि निकस्यो चहत है, त्यों-त्यों धसत हि जाय ॥१५५॥

शब्दार्थ —चहलें—(चह-बच्चा) चहल, कीचड से भरा गड्ढा या हौज, मातग—हाथी।

अर्थ —प्रेम-रूपी गड्ढे में मन रूपी हाथी यदि फँस जाय तो निकल नही पाता। बल लगाकर वह ज्यों-ज्यों निकलने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यो वह (कीचड में) गहरा धँसता ही जाता है।

विशेष —को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरग अकुलात।
ज्यो ज्यो सुरझि भज्यो चहत, त्यो-त्यो उरझत जात ॥—बिहारी

सखि पिय सुरत सुरत सुरत, सुरत सुर तन पीर।
सुर तन हिन सुर तन नहीं, सुर तनया सरि नीर[1] ॥१५६॥

शब्दार्थ —पिय सुरत—प्रियतम की सूरत सुरत—रति-क्रीडा (२) स्मरण, सूर—शूल, सुर तन हिन—कामदेव, सुर तन नही—जैसे शरीर में देवता (प्राण) न हो अर्थात् निष्प्राण सुरतनया—यमुना।

अवतरण —इसमें एक गोपिका की मनोदशा का चित्र है जिसे चद्रदर्शन स श्रीकृष्ण का स्मरण हो जाता है।

अर्थ —जमुना के जल में चद्र प्रतिविम्ब के दर्शन से सुरति समय के देखी हुई प्रिय की सूरत का एव सहवास का स्मरण हो आया। वह मधुर स्मृति शूल बन कर तन में चुभने लगी। काम जागृत हो उठा जिससे गोपिका का शरीर शिथिल हो गया जैसे उसमें प्राण ही न हो।

प्रोषितभर्तृका नायिका

बारी बारी बारियें, बारी लो दें बारि।
फिरि बारी दै बारि जनु, बारिद लो बनवारि ॥१५७॥

शब्दार्थ —बारी बारी—नन्ही-नन्ही, बारियें—बालाएँ बारी लो—बाडी, कुज सदृश, दें बारि—पानी देकर, फिरि बारी—फिर जला दिया, दै बारि जनु—पानी न देकर, बारिद—मेघ।

अवतरण —उद्धव से गोपियाँ कहती हैं—

---

१ नीर (मूल)

अर्थ —हम नन्ही-नन्ही (बाडी जैसी) बालाओ को पहले तो वनवारी ने स्नेह-जल से सीचकर हरा-भरा किया फिर उन्होने मेघ की भाँति अन्यत्र गमन कर के बरसना बद कर दिया और हमें जलाया ।

क्रियाविदग्धा नायिका

> वोउ अटारी पीठ दें, किये दरस आदर्य ।[1]
> मिलि कर नइ दइ चुटकि त्रय, पिय तिय उदयो हर्य[2] ॥१५८॥

शब्दार्थ —दरस—देखने योग्य, आदर्प—दर्पण मिलिकर—हाथ जोडकर नइ—नमन करके ।

अवतरण —मिलनातुर गोपिका और उसके हृदय की वात जाननेवाले श्रीकृष्ण दोनो अपनी-अपनी अटारियो पर लोकलाज के भय से एक दूसरे की ओर पीठ किये और हाथ में दर्पण लिये हुए बैठे है और संकेतो से बातें कर रहे हैं ।

अर्थ —दोनो अपनी अटारियो पर पीठ देकर दर्पणो को साधे बैठे है । इस समय गोपिका हाथ जोड कर नमन करती है जिसका उत्तर श्रीकृष्ण तीन चुटकियाँ वजाकर देते है । (इस सांकेतिक प्रश्नोत्तर से) प्रियतम और प्रिया दोनो के हृदय में अपार हर्ष उमडता है ।

विशेष —बायें हाथ को दायें हाथ से मिलाने या जोडने का भाव यह कि वामाग (गोपिका) दाहिने अग (कृष्ण) से मिलने के लिए व्याकुल है । नमन करने में आत्मसमर्पण का भाव है । तीन चुटकियाँ बजाकर उत्तर देने में तीन प्रहर बाद (मध्य रात्रि में) या अविलव मिलने का भाव है ।

> जाको अज इस अहिस मा, वाछे पद रज कन्न ।
> सो तुव पाय पल्होटिवो, लहि फूलें अलि मन्न ॥१५९॥

शब्दार्थ —अज—ब्रह्मा, इस—ईश, महादेव, अहिस—शेप, मा—लक्ष्मी, वाछे—चाहते है, कन्न—कण, पाय पल्होटिवो—पैर दबाना, अलि—सखी ।

प्रसग —राधा को मान किये देखकर उसकी सखी उसे समझाती है ।

अर्थ —हे सखि ! जिसके चरण कमलों के रजकण के लिए ब्रह्मा, महेश, शेप और लक्ष्मी जी तरसती रहती है, हे आली, वे तेरे पाँव दबाने में फूले नही

[1] आदर्स, [2] हर्स

समाते अर्थात् गौरव अनुभव करते हैं। इसलिये तुझे मान नहीं करना चाहिए।

घटी घटी घटि क्व भई, अव आये प्रिय प्रान[1]।
यत्न सपत्नी करि हरी[2], धरी धरी धरि ल्हान ॥१६०॥

शब्दार्थ :—घटी—घडी, घटिका (२) घडियाल का बजना (३) कम हो गई, सपत्नी—सौत, हरी—हर ली, चुरा ली, ल्हान—छोटी।

प्रसग —श्रीकृष्ण रात्रि में एक गोपिका के घर पधारे हैं। घडियाल ने बजकर एक घडी बीत जाने की सूचना दी, जिसकी ओर श्रीकृष्ण ने गोपिका का ध्यान आकर्षित किया। इसके उत्तर में गोपिका कहती है —

अर्थ :—हे प्राणप्रिय, आप तो अभी आये हैं। आपको आये घडी कैसे हो सकती है! मेरा अनुमान है कि मेरी सौत ने ईर्ष्यावश बडी घडी चुराकर उसके स्थान पर छोटी घडी रख दी है। इसीलिए घडियाँ छोटी हो रही हैं और घडियाल जल्दी-जल्दी बज रहा है।

करी परी ह्री कहत मो, सद्म आये बलवीर।
बात तात वधु विधुमनो, थिर रहियें अति चीर ॥१६१॥

शब्दार्थ —करी परी—दूर कर के, ह्री—लज्जा, मो सद्म—(स० सद्मन्) मेरे सदन पर, घर पर, तात वधु—पुत्र वधु, विधु—चन्द्र, चीर—चिर, दीर्घ काल तक।

प्रसग :—किसी गोपिका के घर श्रीकृष्ण आये हैं। शुक्लपक्ष की रात्रि है। गोपिका को इस बात का डर है कि रात जल्दी न बीत जाय, इसलिए वह छत पर जाकर चंद्रमा से प्रार्थना करती है।

अर्थ —हे चद्रदेव, लज्जा का त्याग करके आपसे कहती हूँ कि मेरे घर श्रीकृष्ण पधारे हैं। अपनी पुत्रवधू की बात मानकर आप चिरकाल तक इसी भाँति स्थिर रहिये (भोर न होने दीजिए)।

नोट—यदुराज श्री कृष्ण चद्रवशी थे, इसको लक्ष्य करके गोपिका ने चद्रमा को श्वसुर माना है।

---

1 प्रिय पान, २ यत्न सपत्नि करी हरी।

निज इष्टा प्रतिबध का, पैं जनि रख्यों व्रजेस[1] ।
ज्यों-ज्यों मेंघी चीज जो, त्यों-त्यों मिष्ट विसेस ॥१६२॥

शब्दार्थ :—इष्टा—प्रिया, का पैं—क्यों, किस लिए, जनि रख्यो—(जानि रख्यो) जान-बूझकर रखा; मेंघी—मेंहगी, मिष्ट—मीठी ।

अर्थ :—अपनी प्रेयसियों (गोपियों) पर व्रजेश ने जान-बूझकर (गुरुजनों, लोक-निंदा का और लज्जा का) प्रतिबंध रखा है, क्योंकि जितनी प्रतिबंधित मेंहगी वस्तु होती है वह उतनी ही अधिक मीठी लगती है ।

रस, नायक नहि नायका, दुति हु न मिलि त्रीसंग ।
जैसें चूना पांन अरु, खेरसार सह रंग ॥१६३॥

शब्दार्थ :—दुति—दूती, प्रेमी और प्रेमिका को मिलानेवाली स्त्री, दूतिका; जैसें—जैसे, खेरसार—कत्था, सह—साथ, संयोग ।

अर्थ :—रस न नायक में होता है, न नायिका में और न दूती में । प्रेम रस तो इन तीनो के संयोग से उत्पन्न होता है । वैसे ही जैसे पान का लाल रंग न चूने में होता है, न पान में और न कत्थे में, वह इन तीनो के संयोग से उत्पन्न होता है ।

ज्यामें अपनी प्रीति हैं, सो अधीन जिहि नीत ।
तामें हित चित दीजियें, तब पैयें वह मीत ॥१६४॥

शब्दार्थ :—अधीन जिहि नीत—(१) जिसके नित्य अधीन हैं (२) जिस नीति के अधीन है ।

अर्थ :—हमारा प्रेमपात्र (१) जिसके सदैव अधीन रहता हो हमें उसी का हित-चिंतन करना चाहिए अर्थात् उस से प्रेम करना चाहिए । (२) वह जिस नीति के अधीन हो हमें भी उसी में अपना हित समझना चाहिए और उसी का अनुसरण करना चाहिए—तभी वह मिलता है ! प्रिय को प्राप्त करने की यही रीति है ।

जिमि आरति तिमि रति बढ़ें, प्रति यह हिलग अनूप ।
ज्यों तचाइयें त्यों अधिक, ज्यों अष्टापद रूप ॥१६५॥

[1] व्रजेश (मूल) ।

शब्दार्थ —प्रारति—पीडा रति—प्रेम हिलग—प्रेम लगाव तचाइये—तपाइये प्रष्टापद—स्वर्ण ।

अर्थ —ज्यो-ज्यो पीडा बढ़े त्यो-त्या बढनवाला प्रेम ही अनुपम ह । जैसे कि सोने को ज्यो-ज्या तपाते हैं, त्यो-त्या उसका रूप निखरता जाता है ।

विशेष —तात्पय यह है कि दु खो मुसीबतो में पडकर घटन के बजाय बढ़ने वाला प्रेम ही सच्चा प्रेम है ।

सोरठा—रति प्रारति प्रागार, रति पति पितु बिन जिहि भई ।
पै रति प्रति हि प्रसार, प्यार रतिहु कहा कृष्ण सों ॥१६६॥

शब्दार्थ —रतिपतिपितु—कामदेव (प्रद्युम्न) क पिता श्रीकृष्ण, रति—(१) प्रीति (२) रत्ती मात्र ।

अर्थ —श्रीकृष्ण को छोड कर अन्य किसी स होन वाला प्यार पीडा का भडार है । पर रति है ही ऐसी असार वस्तु कि कृष्ण से रत्तीभर भी नहीं होती ।

दोहा—वल्लभ वस्तु न खटक दै, ग्लानि न भखत उचिष्ट ।
क्योंहु न रोस[1] प्रियप्रान तें, जल जपि[2] प्रवर सुइष्ट ॥१६७॥

शब्दार्थ —वल्लभ वस्तु = प्रिय वस्तु न खटक दै—देत हुए दु ख न हो उचिष्ट—उच्छिष्ठ, जूठा रोस—क्रोध जल जपि—पानी और मछली इष्ट—प्रिय ।

अर्थ —अपनी प्रिय वस्तु जिसे देते दु ख न हो, जिसका जूठा खाने में ग्लानि न हो, जिस पर कभी क्रोध न आय, जो प्राणो से भी प्यारा लगे, उस मित्र की मैत्री जल मीन सवध से भी प्रियतर समझनी चाहिए ।

बन बिहीन ज्यों मीन प्रसु रहित होय दरसाय ।
बिन प्रय हु लखिलेहु त्यों, क कुरूप हो जाय ॥१६८॥

शब्दार्थ —बन—जल प्रसु—प्राण क—जल ।

प्रसग —लोग कहते हैं कि मछली का जल के प्रति जो प्रेम है वह एकागी है, पर यह भूल है ।

अर्थ —जल के बिना जैसे मछली प्राण विहीन होती दिखाई देती है वैसे ही जल भी उसके बिना मलिन हो जाता है ।

---

१ गस, २ जषी (मूल)

मित चित जांन्यो अनत दु ख, दुसह न छूटें ख्याल।
मन गति ह्वा बरज्यों न रहि, ज्यो रसना मुख साल ॥१६६॥

शब्दार्थ —अनत—अन्यत्र, वरज्यो न रहि—मना करने पर भी नही रहता, रसना—जीभ, साल—कसक, वेदना।

अर्थ —अपने प्रिय के मन को अन्य किसी पर आसक्त जानकर दुसह दु,ख होता है।और प्रयत्न करने पर भी उसकी स्मृति नही छूटती। जैसे मुख के अन्दर के भाग में यदि कही कसक या वेदना हो तो जीभ बरवस उस ओर चली जाती है, वैसे ही मन भी बार-बार उसी वात की ओर चला जाता है।

श्रुति लोचन लौ मीत ह्वैं, अपर आत्म दो देह।
सब भाती सों ऐक्यता, ऐसो दुर्लभ नेह ॥१७०॥

शब्दार्थ —श्रुति—कान, लोचन—आंख, अपर—अ+पर, अभिन, जो पराया न हो।

अर्थ —जैसे कान दो होते हुए एक-सा सुनते है, आँखें दो होते हुए भी एकसा देखती हैं वैसे ही शरीर दो होते हुए भी मित्रो की आत्मा तथा अन्य सब व्यवहारो में ऐक्य हो ऐसा स्नेह दुर्लभ है।

क्रियाविदग्धा सह वाक्विदग्धा नायिका —

खरक सवारों कर भरे, गोबर छुट उर छोर।
ऐंहे बड को बाल तुम, ढांपिय नद किशोर ॥१७१॥

शब्दार्थ —खरक—गोशाला।

अवतरण —खरक संवारती गोपिका नन्दकिशोर के स्पर्श-सुख की कामना से कहती है

अर्थ —मैं गोशाला की सफाई कर रही हूँ, मेरे हाथ गोबर में सने हुए हैं, मेरे उर का आंचल जरा खिसक गया है। अभी कोई बड़ा इधर से आ निकला तो ? तुम तो अभी बालक हो। हे नन्दकिशोर इसे जरा ढंक दीजिए।

वाक्विदग्धा नायिका

बीर चलेंगी तू चलें, हम सब भान सुभौंन।
टेर सुनाई सखिन मिस, सुनि कल परि पियकौं न ॥१७२॥

शब्दार्थ —बीर—सखा, सखी, भान सुभोन—सूर्य-मंदिर, टेर सुनाई—पुकारा।

प्रसग :—गोपिका श्रीकृष्ण को लेकर एकात में क्रीडा करना चाहती है। पर सब को उपस्थिति मे उनके निकट पहुँच नहीं सकती। इसलिए अपनी एक सखी को सबोधित कर के मिलन-स्थल का सकेत करती है।

अर्थ —हे सखि! तू भी चलेगी? हम सब सूर्य-मदिर की ओर जा रही है। सखी के बहाने गोपिका ने (अपने प्रिय को) यह बात सुनाई। सुनकर प्रियतम का मन भी मिलने के लिए आतुर हो गया।

क्रियाविदग्धा नायिका

रपट्यो पग ढिग को नहीं, सुनिये गोकुलनाथ।
साच कहूँ समजो समय, एच लेहु दे[१] हाथ ॥१७३॥

शब्दार्थ —रपट्यो पग—पैर फिसल गया (२) मैं तुम पर अनुरक्त हूँ, ढिग को नहीं—कोई (दूतिका) मेरे पास नही है (२) एकात है, गोकुलनाथ—श्रीकृष्ण (२) सकल इन्द्रिया के स्वामी, समजो समय—मेरी परिस्थिति को समझिये (२) यही उचित समय है, एकात है (३) मैं इस समय षोडसी हूँ, ऐंच लेहु दे हाथ—मुझे सहारा दीजिए (२) मेरा पाणि-ग्रहण कीजिए।

अवतरण —एक गोपिका पनघट से पानी भरकर लौट रही है। उसी समय श्रीकृष्ण को एकात में देखकर स्पर्शसुख की कामना से कहती है—

अर्थ —(१) मेरा पैर फिसल रहा है, सहायता के लिए कोई पास में नही है। हे गोकुलनाथ सुनिये, मैं सत्य कह रही हूँ मेरी परिस्थिति को समझिये, मुझे सहारा दीजिए।

(२) मै तुम पर अनुरक्त हूँ। इस समय एकात है। आप मेरी सकल इन्द्रियो के स्वामी हैं। मैं सत्य कह रही हूँ इस समय को समझिये अर्थात् मै पूर्ण यौवना षोडसी हूँ। आप मेरा पाणिग्रहण कीजिये।

मज्जत मोहन जमुन जल, लखि सयूय चलि बाम।
मिस कर मेली कर नई, जय कृष्णा कहि नाम ॥१७४॥

शब्दार्थ —मज्जत—स्नान करते है, सयूथ—सखियों के समूह के साथ,

१ दई

बाम—सुन्दरी, मेली कर—हाथ जोडकर; नई—नमन किया, झुको; कृष्णा—(१) कृष्ण (२) यमुना।

अर्थ :—सखियों के साथ जाती वामा ने मोहन को यमुना में स्नान करते देखा। यमुना को प्रणाम करने के मिस उसने हाथ जोडकर 'जय कृष्णा!' कह कर नमन किया।

चपला चमक सघन गरज, सुनि डरि प्यारी जानि।
लाल लायलई हिय कसी, बनी शक सुख खानि ॥१७५॥

शब्दार्थ :—लायलई—लगा ली, शंक—भय, डर।

अर्थ :—बिजली की चमक और बादलो की गरज से प्रिया (राधा को) भयभीत जानकर लाल (श्रीकृष्ण) ने उसे अपने हृदय से कसकर लगा लिया। इस प्रकार प्रिया का भय सुख की खान बन गया।

सरके डर दुरिजन्न तें, ईठ रहे मो पीठ।
जक न परी बिन लखन मुख, मुकर मीस दै वीठ ॥१७६॥

शब्दार्थ :—ईठ—प्रिय, जक न परी—चैन नहीं पडा।

अवतरण :—नायिका अपनी सखी से कह रही है।

अर्थ :—दुर्जनो के भय से मेरे इष्ट (प्रियतम) सरककर पीठ पीछे खडे रहे। उनका मुख देखे बिना मुझे कल न पडी। अतएव (कंठे में जडे) दर्पण में अपना मुख देखने के बहाने मैंने (पीठ के पीछे छिपे हुए) प्रिय पर दर्पण में दृष्टि केन्द्रित करके वह समय व्यतीत किया।

विशेष :—तुलना कीजिये "राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।"—तुलसीदास।

खंडिता विदग्धा नायिका

बँधि गुन भुज इत्तन हतो, दिहु दुज सनसि लगाय।
कै उर सुगइ[१] चढाय मो, धिज हर सिर कर ल्याय ॥१७७॥

शब्दार्थ :—बँधि—बाँध लो, गुन—डोरी, इत्तन—कटाच, दुज—दाँत;

१. सुघर

सनसी—पकड़, साणसी (सँडसी) सुघड—सुगढ सुन्दर किला घिज—विश्वास, हर सिर—शिव पिंड (कुच)।

अवतरण —नायक परकीया के यहाँ रात्रि बिताकर लौटा है। नायिका को इससे बड़ा दुःख होता है और वह मान करती है। उसे प्रसन्न करने के लिए नायक कहता है—

अर्थ —(बाँधना चाहो तो) अपनी भुजाओं की डोरी से बांध लो, (मारना चाहो तो) नेत्रों के तीक्ष्ण बाणों से मारो, (जकडना चाहो तो) अपनी दाँत-रूपी सानसी (सँडसी) से मेरे होठों को जकड लो (क़ैद करना चाहो तो) उर रूपी गढ में कैद कर लो। (सत्य की प्रतीति करना चाहो तो) शिव पिंडों (कुचों) पर हाथ रखने दो। नायक के ऐसे वचन सुनकर नायिका का मान भंग हो गया।

स्वय दूतिका नायिका (वाक्विदग्धा)

जेठ दुपेरी दुसह तप, सुनहु बटाऊ छैल।
पुर तें पर बन सघन मे, घटि[1] टकि गहियो गैल ॥१७८॥

शब्दार्थ —तप—ताप, गर्मी, बटाऊ—राहगीर, पुर तें पर—शहर के आगे, टकि—विश्राम करके, टिककर।

अवतरण —नायिका पानी भरकर लौट रही है और नायक को जाते देखती है। आसक्त होकर एक मिलन-स्थल का लाक्षणिक रूप से संकेत करती है और वहाँ ठहरने के लिए कहती है।

अर्थ —हे बटाऊ छैल, सुनिये यह जेठ की दुस्सह दुपहरी है। नगर से जरा दूरी पर एक सघन वन है, वहाँ घडी भर विश्राम करके फिर आप आगे बढ़िए।

अनुसूया नायिका

तूटयो सदन सवारि को, सतन कियो निवास।
सुच मान्यों सब सुन लियो, ललना काढ़ उसास ॥१७९॥

शब्दार्थ —सुच—सुख उसास—निश्वास।

अर्थ —खंडहर की मरम्मत करके उसमें कोई सत निवास करने लगे।

---

१ घरि

सब ने यह बात सुनी तो प्रसन्न हुए (कि चलो सत्संग का लाभ मिलेगा), नायिका ने (न जाने क्यों) निश्वास छोड़ा (क्योंकि वह स्थान नायक से मिलने का संकेत-स्थल था)।

खंडिता अधीरा नायिका

पौंरन पर पलकान किय, अलिक सौंह कित खात।
पेखौं पगि पल पीक निक, साँचि कहौं कछु प्रात ॥१८०॥

शब्दार्थ—पौंरन—पौढ़न, विश्राम, शयन, पर पलकान—दूसरे की शैया पर, अलिक सोह—झूठी सौगन्ध, पेखो—देखो।

अवतरण—नायक किसी अन्य स्त्री के यहाँ रात बिताकर प्रातः लौटा है। यह देखकर नायिका कहती है।

अर्थ—पर-शैया पर शयन करके लौटे हो। झूठी सौगन्ध क्यों खा रहे हो? जरा दर्पण में अपनी सूरत तो देखो। उनींदी पलकें पान के पीक के जैसी लाल हो रही हैं। प्रातःकाल के समय तो कम के कम सच बोलो।

खंडिता नायिका

सब ठा गुनिके सगतें, पावें सब सनमान।
अगुन वती उर पें धरी, क्यों न होइ अपमान ॥१८१॥

शब्दार्थ—सब ठा—सब अवसरों पर, अगुन वती—(१) बिना गुण वाली, मूर्ख (२) बिना डोरी वाली।

अवतरण—नायक किसी अन्य स्त्री के साथ रमण करके आया है। स्त्री के हार का चिह्न नायक के वक्षस्थल पर अंकित हो गया है। उसे देखकर नायिका कुपित होकर नायक का अपमान करती है।

अर्थ—गुनियों का साथ करने से सब सदैव सम्मानित होते हैं। (१) हे प्रिय, तुम्हारे हृदय में तो वह अगुनवती बसती है इसलिए तुम्हारा अपमान क्यों न हो? (२) तुम्हारे वक्ष पर बिना डोरी की माला अंकित है (जो तुम्हारे करतूतों का सबूत है), फिर तुम्हारा अपमान क्यों न किया जाय?

मिह्य भरे प्रति अँग पिय, मिह्य सौंह कित खात।
निपट मिह्य का मो गिनो, प्रकट दुरैयत बात ॥१८२॥

शब्दार्थ —भिद्य—(१) आलस्य (२) झूठ (३) नादान ।

अवतरण —नायक किसी अन्य स्त्री के साथ क्रीडा करके आया है। नायिका के पूछने पर वह अपना दोष स्वीकार नहीं करता, अत नायिका कहती है।

अर्थ —प्रिय, तुम्हारा प्रत्येक अग आलस्य से भरा हुआ है, फिर झूठी सौगध क्यो खाते हो ? क्या तुमने मुझे बिलकुल ही नादान समझ लिया है जो मुझसे इतनी साफ बात भी छुपाते हो ।

खडिता धीराधीरा

तोषी मेरी सौत पिय, मो पै की यह एसान ।
प्रत्युपकार करों कहा, भेंट करोगी प्रान ॥१८३॥

शब्दार्थ —तोषी—सतुष्ट किया ।

अवतरण —नायक को सौत के यहाँ से आया जानकर नायिका दुखी होकर व्यग करती है ।

अर्थ —प्रियतम, तुमने मेरी सौत को सतुष्ट किया है यह सचमुच तुमने मुझ पर बडा एहसान किया है। इस उपकार के बदले में मै क्या प्रत्युपकार करूँ ? मै अपने प्राण भेंट करूँगी । (अन्य सभोग दुखिता नायिका) ।

खडिता धीरा

लाल लखी छबि आजकी, अनद उर न समाय ।
पै रति अति कम तासु अब, जानि जियो नहि जाय ॥१८४॥

शब्दार्थ —रति— सौभाग्य, रति अति कम—(१) बडी कमनसीब हूँ (२) आपका मुझ पर प्रेम कम है ।

अवतरण —नायक अन्य स्त्री से रमण करके आया है। नायिका यह देखकर दुखी होती है, पर अपने मन की बात मन में ही रखकर वह वक्रोक्ति द्वारा कहती है ।

अर्थ —हे लाल, आजकी आपकी शोभा देखकर मेरे हृदय में आनन्द नहीं समाता । पर मै बडी कमनसीब हूँ (अथवा आपका मुझ पर प्रेम कम हो गया है)-यह जानकर अब अधिक नहीं जी सकूँगी ।

कलहांतरिता नायिका

हा हा कर हारे हरी, मैं न मनी परि पाय।
मो लायें अब लाय दें, को दें लाय ललाय ॥१८५॥

शब्दार्थ —हा हा कर—दीनता प्रदर्शित करके मो लायें अब लाय दें—मेरी (लाय) विरहाग्नि को (लाय दे) जला दे, नष्ट कर दे दें लाय—ला दे।

अवतरण —राधिकाजी ने एक बार मान किया। श्रीकृष्ण ने उन्हें बहुत मनाया, उनके पैरों भी पड पर व न मानी। श्रीकृष्ण के चले जान पर फिर उन्होंन पश्चात्ताप किया।

अर्थ —श्रीकृष्ण ने कितना दैन्य प्रदर्शित किया व पांवा भी पड पर मैं न मानी मेरी विरहाग्नि को जलाकर नष्ट करने वाले लाल को अब कौन बुलाकर लायेगा? (अथवा कोई बुलाकर ला द।)

उत्कंठिता नायिका

छाहि चाहि तन छाहि[१] पिय, अब अलि आवें नाहिं।
फरकत मो अखि दाहिनी, काहु कि बाई बाहि ॥१८६॥

शब्दार्थ —छाहि—छाया चाहि—चाही, तन छाहि—शरीर में छुप गई।

अवतरण —दूती संकेत-स्थल पर नायिका को लकर पहुँची है। नायक को आने में विलब हुआ है नायिका व्यग्र होकर दूती से कहती है।

अर्थ —जितनी छाया (समय निर्धारण) के लिए तू ने कही थी वह तो बीत गई। अब तो छाया शरीर में समा गई अर्थात मध्याह्न हो गया। मेरी दाहिनी (अशुभ) आँख फडकने लगी है। मुझे लगता है किसी का (शुभ) वामाग फडका होगा।

विशेष —शकुन शास्त्र के अनुसार नारी की दाहिनी आँख का फडकना अशुभ है। नारी के वामाग का फडकना शुभ एवं सयोग-सूचक माना जाता है।

प्रेमगर्विता नायिका

पिय पाती आई बची, रची सची की बात।
बचि कचि रति प्रति प्रान का, जात प्रान नहिं जात[२] ॥१८७॥

---

१ छोहिं २ जात प्रान ही नान

शब्दार्थ :—पाति—पत्र, वची—पढी गई, रची—पाती लिखा, सची—सच्ची, बचि—वची रही, कचि—कच्ची।

अवतरण :—नायिका को एक पडोसिन के पति की विदेश से चिट्ठी आई है। पडोसिन ने चिट्ठी पढकर उसका उत्तर अपने पति को लिखा है। यह सब हाल सुनकर नायिका अपनी एक सखी से कहती है।

अर्थ :—(उसके) प्रियतम की पाती आई, उसने उसे पढा और फिर उसका उत्तर दिया, क्या यह सच्ची बात है? वह यह सब करने के लिए वची रही (इससे स्पष्ट है कि) उसका प्रेम कच्चा है। प्राणाधार के जाने पर भी वचे रहें वे प्राण किस काम के।

रूपगर्विता नायिका

अली अलिक एं वात वर, जात दीठि पर पास।
निज नारी मुख लखत[1] कब, मिलत होहि अवकास[2] ॥१८८॥

शब्दार्थ :—अलिक—झूठो, बर—वर (२) बड, बडी, लखत—देखते हुए अवकास—अवकाश।

अवतरण :—सखियाँ पतियो के परनारी पर आसक्त होने की बातें कर रही हैं। रूपगर्विता नायिका इन बातों पर विश्वास नहीं करती और कहती है।

अर्थ :—हे सखी, यह वात मुझे बिलकुल झूठी लगती है। वर (पति) की दृष्टि पर-स्त्री की ओर कैसे जा सकती है? उसे अपनी पत्नी के मुख को निहारने से ही अवकाश कब मिलता होगा।

क्रियाविदग्धा नायिका

आक-पात स्रीफल धर्यो, मुरली वर कें पान।
ढिग व्हों जोरी सखि प्रिया, कंध छुवायो[3] कान ॥१८९॥

शब्दार्थ :—आक—मदार, अर्क, आकडे का पौधा (२) सूर्य, आक-पात—अर्कपतन, सूर्यास्त, श्रीफल—नारियल, ढिग—निकट, व्हो,जोरी—हाथ जोडकर।

अवतरण :—दूती नायक का सदेश लेकर नायिका के पास आई है।

---

१. लिखत, २. औंकास, ३. छुव्हायो

नायिका अन्य सखियों के बीच में बैठी है इसलिए दूती साकेतिक भाषा में अपना आशय समझाकर उत्तर प्राप्त करती है।

अर्थ —आक के पत्ते में श्रीफल रखा, फिर वट पत्र रखकर उस पर मुरली रखी, फिर दोनों हाथ जोड़कर सखी के सामने दूती खड़ी हो गई। प्रिया ने गरदन झुकाकर कधे से कान को छुवाया।

विशेष —आक (सूय) के पान (हाथ) में श्रीफल रखने का अर्थ—सूर्य के विदा होने पर अर्थात रात्रि के प्रथम प्रहर में वट के पान पर मुरली रखने का अर्थ है वशीवट में दोनो हाथ जोड़ने का अर्थ है—'मिलन होगा'। गरदन झुकाकर कधे को कान से छूने का अर्थ है 'स्वीकृति'।

कृष्णाभिसारिका नायिका

कारी सारी कुहु छपा, छुपत जात द्रुम ओट।
दुरि न रहे द्युति देह तहु, ज्यों ससि बदरा ओट ॥१६०॥

शब्दार्थ —कुहु छपा—अमावस्या की रात्रि, दुरि—छुपी हुई द्युति—कातियुक्त।

अवतरण —नायिका नायक से मिलने के लिए अमावस्या की अँधेरी रात में जा रही है।

अर्थ —अमावस्या की अँधेरी रात में काली साड़ी पहन कर नायिका द्रुमो की ओट में छुपती हुई प्रिय से मिलने जा रही है। फिर भी उसकी देह-द्युति छुपी नही रहती, जैसे कि बादलो में ओझल होने पर भी चद्रमा छुपा नहीं रहता।

ज्योत्सनाभिसारिका नायिका

चमकी[१] चहुँदिस चदनी, गोरी धरि सित बास।
मुक्त सुक्ति लों मलि चली,[२] कुज सदन पिउ पास ॥१६१॥

शब्दार्थ —गोरी—गौरवर्ण वाली नायिका, सित बास—श्वेत पोशाक, मुक्त सुक्ति लों—मोती और सीप की भाँति।

१ चमकि, २ मुक्त सक्ति लें मिलि चली

अवतरण :—चाँदनी रात में नायिका नायक से मिलने के निमित्त जा रही है।

अर्थ :—श्वेतवसना नायिका चारों ओर चमकती चाँदनी में सीप के मोती की भाँति ओझल होती कुंज सदन में अपने प्रिय के पास चली जा रही है।

विशेष :—जैसे सीपी में रखा हुआ मोती दिखाई नहीं देता वैसे ही गौर वर्ण वाली श्वेतवसना नायिका ज्योत्स्ना में मिल जाने से दिखाई नहीं पड़ती।

ज्ञात-अज्ञात यौवना नायिका

कटाछ नोक चुभी किधौं, गड़े उरोज कठोर।
कै कटि छोटी में हितू, रुची[1] न नंदकिशोर ॥१६२॥

शब्दार्थ :—कटाछ—कटाच, उरोज—कुच।

अवतरण :—एक ज्ञात-अज्ञात यौवना गोपिका नंदकिशोर को मान किये देखकर दूती से कहती है।

अर्थ :—हे सखी, प्रिय के कहीं मेरे कटाक्षों की नोक तो नहीं चुभ गई है? कहीं मेरे कठोर उरोज तो उनके नहीं गड़ गये हैं? अथवा मेरी कटि ही छोटी है जिसके कारण मैं नंदकिशोर को पसंद नहीं आई, बात क्या है?

दिवाभिसारिका नायिका

अर्जुना भरन जराम्बर कनक लता सों अंग।
अभिजित वय आभिर सुता, मिलन चली श्रीरंग ॥१६३॥

शब्दार्थ :—अर्जुन—स्वर्ण, आभरन—अलंकार, आभूषण, जराम्बर-जरी के वस्त्र, कनकलता—स्वर्णलता, चंपाकली, अभिजित वय—मध्याह्न सम आभिरसुता—अहीर की पुत्री राधिका, श्री रंग—श्रीकृष्ण।

अवतरण :—राधिका दिन में स्वर्ण के वस्त्राभूषण धारण करके श्रीकृष्ण से मिलने जा रही है।

अर्थ :—स्वर्ण के आभूषण और जरी के वस्त्र धारण करके कनकलता-न देह की कांतिवाली वृषभानु दुलारी मध्याह्न-समय श्रीकृष्ण से मिलने चली।

---

१. रुचि

रूपगर्विता नायिका

रुचें न मोहि वियोग मे, मिलत न पिय रुचिमांन।
भूखन[1] भूखन मोहि कहूँ, भूखन भूखन दांन ॥१९४॥

शब्दार्थ —रुचिमान—पसद, भूखन भूखन मोहि—(१) मुझे आभूपणो की भूख नहीं है (२) आभूपणो का भी आभूपण (मेरा शरीर है), भूखन भूखन दान—(१) भूखो को दान में दे दूँ (२) भूपणो के भूपण, श्रीकृष्ण को समर्पित कर दूँ।

अवतरण —सखी नायिका से पूछती है कि तू आभूपण क्यो नहीं पहनती ? रूपगर्विता नायिका उत्तर देती है —

अर्थ —वियोग के क्षणो मे आभूपण मुझे नही भाते। सयोग के समय वे मेरे प्रियतम को नहीं सुहाते (क्योकि मेरा शरीर उन्हें आभूपणों से भी अधिक प्रिय है) इसलिए मुझे आभूपणों की भूख नही है। सोचती हूँ भूखो को दान में दे दूँ।

स्वाधीनपतिका नायिका

अलि भलि बति पतिया पतो, बोलन दूजे जाँहि।
सो का आगें ओध पिपु, आपें आवें नांहि ॥१९५॥

शब्दार्थ —*भलि बति—यह अच्छी बात है, पतिया पतो—पत्रिका भेजो।*

अवतरण —नायिका की सखो का पति पत्र लिखने पर भी नहीं आया, अत उस स्त्री ने फिर पत्र लिखा। यह देख कर नायिका अपनी एक अन्य सहेली से कहती है।

अर्थ —हे सखी, यह भी भली बात है कि उसने अपने पति को पत्र भेजा और उसके न आने पर अब फिर दुबारा उसे लिखना पडा। ऐसा भी क्या ? पति को इतना तो (कहे मे रखना) चाहिए कि निश्चित अवधि के पहले ही अपने आप चला आये।

स्वकीया नायिका

वशवृद्धि[2], सोभा सदन, करें सह गमन सोइ।
स्वकिया की यह तीन कृति, परकिय कबु न होइ ॥१९६॥

---

१. भूषन, २ व्रद्धि

शब्दार्थ —वंसवृद्धि—सतति, सोभा सदन—घर की शोभा, सह गमन—(१) शयन समय सभोग (२) अवसान के समय सहगमन (सती होना)।

अर्थ :—वंशवृद्धि, घर की शोभा और सहगमन, यह स्वकीया की तीन विशेषताएँ हैं जो परकीया से प्राप्त नही हो सकतीं।

मुग्धा नायिका

अलि इतनों सकोच का, अजहु परस पिय पान।
न्हेंचें तोहीतें भले, सभालू के पान ॥११७॥

शब्दार्थ —परस पिय पान—प्रिय के पाणि (हाथ) का स्पर्श, न्हेंचें तोहीतें —निश्चय ही तुझसे तो, समालू के पान—सफेद सिंधुवार वृक्ष, लाजवती की पत्तियाँ।

अवतरण —एक मुग्धा नवोढा नायिका अत्यन्त संकोचशील है। वह नायक के प्रथम कर-स्पर्श से अत्यत लजा गयी है। सखी उसे समझाती है।

अर्थ —हे सखी! इतना सकोच भी आख़िर किस काम का। प्रिय के कर-स्पर्श को इतना समय बीत चुका पर अब भी तू लजा रही है! निश्चय ही तुझसे तो लाजवती की पत्तियाँ ही अच्छी हैं जो स्पर्श के समय भले लजाती हो, पर फिर तुरन्त पूर्ववत् हो जाती हैं।

वासक-सज्जा नायिका

मलिन नलिन हिय तल्प भो, तल्प माल कुमलाय।
साज आज बिन काज भो, अजहु न आये आय ॥११८॥

अर्थ —नलिन हिय—हृदय रूपी कमल, तल्प—तडप, विरहताप (२) सेज, आय—आयु, आयु के समान प्रिय, प्रियतम।

अवतरण —फूलों से सेज सजाकर नायिका ने नायक की प्रतीक्षा की। नायक के न आने पर दु खी होकर उसने पश्चात्ताप करते हुए कहा

अर्थ —विरह ताप के कारण मेरा हृदय रूपी कमल मलिन हो गया, सज की फूल-मालाएँ भी कुमला गईं। मेर सारे साज आज व्यर्थ हो गये। अभी तक मेरे प्राणवल्लभ नहीं आये।

विप्रलब्धा नायिका

लखें न लाल सहेट में ललना लालि अनूप।
भो तनु रंग अनंग डर, जातरूप कों रूप ॥१९९॥

शब्दार्थ —सहेट—संकेत-स्थल लालि—लालिमा अनंग—कामदेव जातरूप—स्वर्ण-रंग का, पीला।

अवतरण —दूती से संकेत पाकर, नायिका संकेत-स्थल पर नायक से मिलने जाती है। नायक को न पाकर उसकी जो दशा हुई, उसका वर्णन कवि ने इस दोहे में किया है।

अर्थ —संकेत-स्थल पर पहुँचकर जब ललना को लाल दिखाई नहीं दिये तो उसके शरीर का अनूप लाल रंग अनंग के भय से भीत होकर स्वर्ण के सदृश पीला हो गया।

वाक्विदग्धा नायिका

तों सों प्यारी ओर सब, सब सी तू नहि प्यारि।
सुनि अस रस हरि बचन बत, बढ्यो[1] गई बलिहारि ॥२००॥

प्रसंग —श्रीकृष्ण ने राधा से कुछ बात कही। उस बात का सही अर्थ न समझ सकने के कारण पहले तो राधा को क्रोध आया पर सखी ने जब सही अर्थ समझा दिया तो अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

अर्थ — तुझसे सब प्यारी हैं, सब सी तू प्यारी नहीं" हरि के ऐसे वचन सुनकर राधिका दु खी हुई। इस पर सखी ने हरि की इस गूढ़ उक्ति का मर्म समझाया तुझसे सब प्यारी हैं" अर्थात तुम्हारे कारण ही अन्य सब सखियाँ मुझे प्रिय हैं और "सब सी तू प्यारी नहीं' अर्थात तुम मुझे विशेष प्रिय हो। हरि की बात का मर्म समझ कर राधिका अत्यन्त प्रसन्न हुई।

प्रवत्स्यत्पतिका नायिका

कलकि न कल पलका न पल, पलक लगी अलि मेरि।
प्रान प्रान फल जात सो, प्रान जात नहि देरि[2] ॥२०१॥

---

१ बज्रढ्यो २ डेरि

शब्दार्थ :—कल—चैन, पलका—पलंग, प्रान प्रान—प्राणों के प्राण, स्वामी।

अवतरण :—नायक ने विदेश जाने का निश्चय किया है। दुःखी होकर नायिका सखी से कहती है :

अर्थ :—कल से (जब से नायक ने अन्यत्र जाने की बात कही है) मुझे चैन नहीं है। पलंग पर लेटने पर भी पल भर के लिए भी आँख नहीं लगी। प्राण प्रिय तो कल जाने वाले हैं, पर यहाँ तो प्राण जाने में अब बिलकुल विलंब नहीं है।

आगमपतिका नायिका

कागद का गद राधिका, काग दए जो सौंन।
सरकत सरकैं[1] कंचुकी, परसन को पियपांन ॥२०२॥

शब्दार्थ :—कागद—पत्र, का गद—क्या है गद्य में लिखा हुआ, मुख्य बात क्या है ? सोन—शकुन, सरकैं—डोरी; परसन को—स्पर्श करने के लिए, पान—हाथ।

अवतरण :—राधिका के पास श्रीकृष्ण का पत्र आया है। सखी के पूछने पर राधा कहती है—

अर्थ :—हे श्री राधिका, पत्र में क्या (लिखा) है ? (हे सखी) पत्र में वही बात है जो कौए ने हमें शकुन देकर जताई थी। साथ ही मुझे अन्य शकुन भी अच्छे हो रहे हैं। प्रिय के हाथों का स्पर्श पाने के लिए मेरी कचुकी की डोरियाँ आज बार-बार ढीली हो रही हैं।

स्वकीया नायिका

पिय पधारे सुनत पिय, सबै उठी सह नेम।
बैठ मन निजनिलय तन, मनिमंडन जुत हेम ॥२०३॥

शब्दार्थ :—उठी सह नेम—नियम सहित उठी अर्थात् प्रिय की अनुपस्थिति में भोग न भोगने का जो नियम उन्होंने लिया था उसे अथवा प्रिय को प्राप्त करने के लिए जो व्रत रखे थे उन्हें पूरा हुआ जानकर वे प्रिय के आगमन पर

---

१. सरकौं

उठी, बैठ मन—मनोयोग से बैठ कर - इच्छापूर्वक, निलय—भवन, मनिमडन जुत हम—मणियो से जडे हुए स्वर्ण-भूषण।

अवतरण —स्वामी का आगमन सुनकर सब रानियाँ प्रसन्न हो उठी और शृगार करने लगी।

अर्थ —प्रिय के आगमन के समाचार सुनकर सब रानियाँ अपने नियमा से (व्रतों) को पूरा हुआ जानकर उठ खडी हुई और स्वच्छा से अपने अपने भवनो में बैठकर मणिमडित स्वर्णभूषणो से शृगार करने लगी।

(प्रियदर्शन से आह्लादित होकर विरह के लक्षण त्यागने वाली स्वकीया नायिका)।

लक्षिता नायिका

स्यामा भट्ठ घनस्याम पँ, वँ द्वै छोट अनार।
लिये चार बड जामफल, को जित करौं विचार ॥२०४॥

शब्दार्थ —भट्ठ—सखी स्यामा—षोडसी, राधिका अनार—एक फल (२) कुच जामफल—(१) अमरूद (गुज०) (२) जाम = प्रहर + फल = आनद।

प्रसग—प्रात काल उठते समय राधा के वक्ष पर नखक्षत देखकर सखियाँ आपस में बात करती है —

अर्थ —हे सखी, श्यामा ने श्रीकृष्ण को दो छोटे अनार (कुच) समर्पित कर के चार बड जामफल (रात्रि के चार बडे प्रहरो का फल, समागम सुख) प्राप्त किया। बताओ, श्यामा जीती या श्रीकृष्ण ?

नायिका लक्षिता षट्ऋतु वर्णन

टरयौं ताप बरखें हरख[1], खिल्यौं अमल मुखचद।
रति बढ़ि[2] बढ़ि कँज सौंति हिय, खेलि रग रसकद ॥२०५॥

शब्दार्थ —ताप—गर्मी (२) विरहदुख, रति—(१) प्रेम (२) रात कज—कज, कमल रसकद—कृष्ण रग—आनद, होली।

अवतरण —एक नायिका की बदली हुई दशा देखकर सखी कहती है

अर्थ —ताप टल गया, हर्ष बरस रहा है, स्वच्छ मुखचद्र खिला हुआ है।

---

१ बरखें हरख, २ न्हीद

नायक की इस पर रति (प्रीति) बढ गई है जिससे सौतो क हृदय कमल जल गये है। निश्चय ही यह रसवद (श्रीकृष्ण) के साथ रति-क्रीडा करके आई है।

विशेष —इस दोहे में षट्ऋतु-वर्णन भी ह टर्यो ताप में ग्रीष्म, 'वरखें हरख' में वर्षा, 'खिल्या ग्रमल मुखचद' शरद रति (रात) बढि' में हेमत 'दहि कज (दरे कज)' में शिशिर ग्रौर 'खलि रग म वसंत का ग्राभास है।

नायिका ग्रष्ट मुख्य वासकसज्जा वाक्विदग्धा

कहाँ सुकवलचख[1] मुग्ध हो, प्रभु सकेत न आय।
सेजसाज बेकाज भल, कल अे वति ह्वा जाय ॥२०६॥

शब्दार्थ —कवल चख—कमल के जैसे नेत्र वाल सकेत—मिलन-स्थल, बेकाज—व्यर्थ।

ग्रवतरण —सकेत-स्थल पर प्रभु के न ग्रान पर नायिका ग्रपनो सखी से कहती है

ग्रर्थ —कहाँ वे कमल के जैसे नत्र वाल ग्रौर कहाँ मैं मुग्धा ? श्रीकृष्ण सकेत-स्थल पर नही ग्राये। मेरी सेज-सज्जा सब व्यथ गई। ग्रब कल वहाँ जाने पर देखूँगी।

विशेष —इस दाहे में मुख्य नायिका वासकसज्जा वाक्विदग्धा है, उसके ग्रन्य ग्रष्ट नायिकाग्रो का भी ग्राभास मिलता है 'कहाँ (वे)" में प्रोषितभर्तृका, 'सुक्वल चख' में खडिता, 'मुग्ध हो' में कलहातरिता, प्रभु सकेत' में विप्रलब्धा 'न ग्राय' में उत्कठिता, 'सजसाज बेकाज' में वासकसज्जा कल ग्रेवति' में स्वाधीनपतिका ग्रौर 'ह्वा जाय' में ग्रभिसारिका नायिका हुई।

प्रेमगर्विता नायिका

जितनो तनमर्दन तिया, तितो बढ्यो मन मोद।
सब सोतन तें शतगुनो, झलक्यों मद द्रग कोद ॥२०७॥

शब्दार्थ —द्रग कोद—दृगो के कोने मे।

ग्रर्थ —नायक न नायिका का जितना ग्रधिक तन-मदन किया, उतना ही उसके मन में ग्रधिक ग्रान द हुग्रा। उसे यह विश्वास हा गया कि नायक उसे

[1] चष

सब सौतों से अधिक चाहता है। अत उसके दृगो के कोनों में शतगुना मद (अभिमान) छलकने लगा।

मुदिता नायिका

कान[1] कही जो कांन मे, कानन मे कहि कान[2]।
का न कहेंती ह्वा अली, कानन भाव न जान ॥२०८॥

शब्दार्थ —कान—(१) श्रीकृष्ण (२) कान, कानन—वन, न न भाव—स्त्रियो की नहीं-नहीं कहने की आदत।

अवतरण :—श्रीकृष्ण एक गोपिका से रतिदान चाहते हैं। गोपिका उत्तर देती है :

अर्थ :—हे श्रीकृष्ण, आपने जो बात अभी गाँव के बीच मेरे कान में कही वह वन में (एकान्त में) क्यो न कही? श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि हे सखी क्या तू वहाँ 'ना' नही कहती? इस पर नायिका ने कहा, हे चतुर-शिरोमणि क्या आप स्त्रियो के 'ना ना' करने का अर्थ नही जानते।

विशेष :—'ना ना' का अर्थ 'ना' के लिए 'ना' अर्थात् 'हाँ'।

वाक्‌विदग्धा सह क्रियाविदग्धा नायिका

दधि[3] देंगी मोहन कह्यों, दोना दीनो डार।
माग्यों कछु दीनो[4] कछू, रीझे नंदकुमार ॥२०९॥

शब्दार्थ :—दधि—महि, दही (२) गो रस (इन्द्रियों का रस), दोना—दही खाने का पत्तों से बना पात्र (२) दो बार ना अर्थात् हाँ।

प्रसग :—गोपिका सखियों के साथ द्वार पर खड़ी है। नंदकुमार उससे गोरस माँगते हैं। इस समय नायिका द्वारा की गई युक्ति का इस दोहे में वर्णन है :

अर्थ :—मोहन ने गोरस माँगा। नायिका ने दोना लाकर दे दिया। नंदकुमार ने माँगा क्या था और मिला क्या? फिर भी नंदकुमार रीझ गये।

विशेष :—'दधि' अर्थात् गोरस माँगा था। नायिका ने आशय समझकर एक युक्ति की, अदर से दोना लाकर पकड़ा दिया (१) जिससे उन्हें एकान्त में

१. श्‍यांन २. क्यों न ३. महि ४. कछु।

देखकर लोग अन्य बात न सोचें (२) दो ना अर्थात् (दो बार ना = हाँ) स्वीकृति का संकेत दोना देकर कर दिया अतः नंदकुमार रीझ गये।

मानवती नायिका

मांन तजें जिन मौन तज, मान इतो वच मोर।
भेट करो लखि ललनपिय, मोर पंख पद तोर ॥२१०॥

शब्दार्थ :—जिन—मत; वच—वचन; पद—चरण।

अवतरण :—दूती वचन नायिका प्रति।

अर्थ :—तू मान मत, तज पर मौन तो तज। कम से कम इतना तो मेरा कहा मान। देख प्रिय ललन ने तेरे चरणों में (अपने शीष का) मोर-पंख रख दिया है।

क्रियाविदग्ध नायक और मानवती नायिका

मांन न अँहूना टरयो, का मन प्रीति बिसारि।
कैतव छिक्का खाइ पिय, अुतनथ पहेंरी प्यारि ॥२११॥

शब्दार्थ :—*कैतव—छल, छिक्का—छींक; नथ—नाक में पहनने का एक गहना।*

अवतरण :—नायिका ने मान कर रखा है, नायक मान छुड़वाने की एक युक्ति करता है।

अर्थ :—(*नायक ने सोचा, प्रयत्न करने पर भी*) मुझे मान नहीं मिला (मान न) और इसका मान नहीं टला (मँहूनाटर्यो) क्या इसने अपने मन से मेरी प्रीति को बिसार दिया है? (इस शंका की परीक्षा करने के लिए) नायक ने झूठे ही छींका। नायिका ने नाक में तुरन्त नथ पहिन ली।

विशेष :—*छींक अस्वस्थ होने का सूचक है। नथ पहरना अपने प्रिय के* प्रति प्रेम का तथा सौभाग्यवती होने का प्रतीक है।

मानवती नायिका

राधे छुव पिय हीय में, आनन हैं तुव नाम।
सोई उलट द्रगतें चलें, समुझ सयांनी बाम ॥२१२॥

शब्दार्थ :—आनन—मुख में; सोई उलट—उसी शब्द का उलटा (राधा का उलटा 'धारा') आँसू; तुव—तव।

अवतरण —राधा को मान करते हुए देखकर दूती उसे समझाते हुए कहती है।

अर्थ —राधे, श्रीकृष्ण के हृदय में तेरी छवि अंकित है, मुख में तेरे नाम की रटन है, आंखों में आँसू हैं। हे सयानी बाम अब तो समझ।

मानवती नायिका

वृथा व्यथा क्यों[1] देत बलि, प्यारी प्रीतम प्रान।
न्हैचें तेरों आज तों, अमर बेलि सो मान ॥२१३॥

शब्दार्थ —बलि—बलिहारी न्हैचें—निश्चय ही अमर बेल—बिना मूल की एक लता।

अवतरण :—मानवती नायिका के प्रति दूती वचन।

अर्थ —हे प्यारी सखी, मैं तुझ पर बलिहारी, तू अपने प्रियतम के प्राणों को वृथा ही क्यों कष्ट देती है। निश्चय ही आज तेरा मान अमरबेल के समान (निर्मूल) है।

विशेष —अमरबेल के मूल नहीं होती। देखिये "अमरबेल बिन मूल की प्रतिपालति हैं ताहि '—रहीम, 'अमर बेलि सो मान' द्वारा कवि कहना चाहता है कि तेरा मान आज निर्मूल, अकारण है।

स्यामा आनन आन[2] तिय, लखन न देती स्याम।
अब न अरीस्या उर बसी, ताकें चिता बाम ॥२१४॥

शब्दार्थ —आन—अन्य अरीस्या—ईर्ष्या।

अवतरण —मानवती राधा के प्रति सखी वचन।

अर्थ —हे श्यामा, तू श्याम को अन्य स्त्री का मुख भी नहीं देखने देती थी। क्या अब उसी श्याम के हृदय में चिता रूपी नारि को बसा देख कर तुझे ईर्ष्या नहीं होती।

मार्ल्ये करती हार पिय, पधिया कहती प्हाग।
याके उर यहँ आनि बसि, कित असुया गै भाग ॥२१५॥

शब्दार्थ —मार्ल्ये—माला को, पधियाँ, प्हाग—पगडी, असुया—असूया, ईर्ष्या, गै भाग—भाग गई।

---

१. क्यों, २ आन

प्रसंग —मानवती नायिका के प्रति दूती वचन।

अर्थ—हे सखी, तू जिस प्रिय के गले की माला को माला न कह कर 'हार' कहती थी और जिसके सर की पगडी को पगडी न कहकर 'पाग' कहती थी, अब उसी के हृदय में विरहाग्नि धधक रही है। आज तेरी ईर्ष्या कहाँ भाग गई ?

विशेष —अत्यधिक आसक्ति के कारण नायिका नायक पर परस्त्री की छाया भी नहीं पड़ने देना चाहती थी। इसीलिए वह 'माला' और 'पगिया' जैसे स्त्रीलिंग शब्दो के लिए भी पुल्लिंग शब्दो का प्रयोग करती थी। इस बात की याद दिलाकर दूती नायिका का मान भंग करना चाहती है।

अेरी देरी मत करें, मेरी कहि तूं मांन।
कहा पकें रस बढेंगो, मान आहि कछु पान ॥२१६॥*

शब्दार्थ —मान आहि—मान है, आहि कछु पान—नागर बेल का पान थोड़े ही है ?

अवतरण —मानवती नायिका प्रति दूती वचन।

अर्थ —हे सखी, तू मेरा कहा मान (मान त्याग दे) अब देरी मत कर। मान आखिर मान है, नागर बेल का पान तो है नहीं कि ज्यो-ज्यो पकेगा त्यो-त्यो रस बढेगा। अधिक मान उचित नही।

चलि, कहां, बोलें, कोन, पिय, क्यो, तो बिन कल नांहि।
घनिहें, रुचि नहि, मोलि रखि, राधे वे तुव छांहि[1] ॥२१७॥

शब्दार्थ —बोलें—बुलाते हैं, घनि हैं—अन्य बहुत-सी है मौलि रखि—मुकुट में जिस (के चित्र) को रखा है, तुव छाहि—तेरा ही प्रतिबिंब है।

अवतरण —श्रीकृष्ण के मुकुट में जड़े दर्पण में अपने प्रतिबिंब को अन्य स्त्री का चित्र मानकर राधिका मान करती है। बुलाने आई हुई दूती उसे समझती है।

अर्थ —हे सखी, चल। कहाँ ? तुझे बुलाते है। कौन ? तेरे प्रियतम। क्यो ? तेरे बिना उन्हें कल नही पड़ती। उनके तो और बहुत-सी (प्रेमसियाँ) हैं ? होंगी, पर उन पर उनकी रुचि नही है। और अपने मुकुट में किसको रखा है ? वह तो तुम्हारी छाया है।

---

१ मुदु तुहि दूजी नाहि। * ह० लि० मूल प्रति में पहले २१७ और फिर २१६ नं० का दोहा है।

रे मन मेरौं मान तूं, रहन न देत घरीजु।
पिय मनाय बिन मिलत[1] का, तोहि कुबांन परीजु ॥२१८॥

शब्दार्थ :—मान—गर्व, घरी—घडी भर, कुबान—बुरी आदत, कुटेव।

अवतरण —एक मानवती नायिका ने मान कर रखा था। इतने में उसके प्रियतम का आगमन हुआ। प्रियतम को देखते ही वह उनसे ललक कर मिली। थोडी देर बाद उसे अपना यह आचरण अनुचित प्रतीत हुआ। अतः वह अपने मन को समझाने लगी।

अर्थ :—हे मन, तू मेरा मान घडी भर भी तो नही रहने देता। तुझे कुटेव पड गई है। प्रियतम के मनाये बिना ही तू उनसे जा मिलता है। क्या यह अच्छी बात है?

मन अधीन अलि रसिक सब, सो रसिकेस मिल्योजु।
गर्व घरी इक हो रही, मेरो कछु न चल्योंजु ॥२१६॥

शब्दार्थ :—रसिक—इन्द्रियाँ, (२) रसिक व्यक्ति, रसिकेस—हृषिकेश, श्रीकृष्ण (२) रसिक+ईश = रसिकेश।

अवतरण :—राधिका मान किये बैठी थी, पर श्रीकृष्ण को देखते ही उसने मान को त्याग दिया। यह देखकर उसकी एक सखी को बडा आश्चर्य हुआ। राधिका अपनी सखी को समझाती हैं:

अर्थ :—हे सखी, सब रसिक (इन्द्रियाँ) मन के अधीन हैं और वह मन जब रसिकेश से जा मिला तब मैं तो अपने मान में अकेली रह गई। मेरा कुछ भी वस नहीं चला।

सोरठा—तदपि लालसों लग्न, जद्यपि मनहें नपुंसक।
क्यों न मान हुई भग्न[2], वे नटवर हौं कामिनी ॥२२०॥

शब्दार्थ—लाल—प्रिय, लग्न—लगाव, प्यार; मन है नपुंसक—मन (गुजराती में) नपुसक लिंग है; हुई भग्न—क्यो न टूटे; नटवर—नटों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण।

अवतरण :—नायिका को सहसा मान त्यागते देखकर उसकी सखी ठगी-सी रह जाती है। नायिका अपनी सखी को युक्ति-पूर्वक समझाती है।

---

१. मिलै, २. क्यों न होए मद भग्न

अर्थ —यद्यपि मन नपुसक है तथापि वह भी लाल पर मोहित हो गया है। फिर मेरा मन कैसे भग हुए बिना रह सकता है क्योंकि वे नटवर हैं और मैं कामिनी।

सोरठा—मिसरी मान समान, परसत दरस कठोर कछु।
पै रसरूपहि जान, बदन समुझ मे डारियें ॥२२१॥

शब्दार्थ —परसत—स्पर्श करने में दरस—देखने में समुझ में डारिये—विचार करिये।

अवतरण—रसशास्त्र के सदर्भ में, सखियो के बीच मान के औचित्य के सबध में चर्चा हो रही है। एक सखी कहती है, स्नेह जैसी कोमल वस्तु के बीच मान जैसी कठोर वस्तु के आने से निश्चय ही रसभग होता होगा ?' दूसरी सखी इसका उत्तर देती है

अर्थ —मान मिसरी के सदृश है। देखने और स्पर्श करने में थोडा कठोर पर समझ रूपी मुँह में डालते ही रसमय और आनन्द-दायक।

विशेष —कठोर होते हुए भी मान रस की वृद्धि करनेवाला होता है।

बिरहानल अति दुसह दुख, अखिल कष्टको भौन।
जों सब मनि कौं सिरमनी[1], चिंतामनि सम कौन ॥२२२॥

शब्दार्थ —बिरहानल—विरहाग्नि, भौन—भवन मनि—मणि सिरमनी—शिरोमणि।

अर्थ —विरहाग्नि का दुख अति दुसह है। वह अखिल कष्टो का भवन है। जैसे सब मणियो की शिरोमणि चिंतामणि है, जिसकी समता अन्य कोई मणि नही कर सकती, उसी प्रकार कोई भी कष्ट विरहानल की पीडा की समता नही कर सकता।

बिन बल्लभ बिरही[2] हियें, सब सुख ताकी नांइ।
तचौं घाम जिमि भेक ज्यों, सहि सुच फनिफन छाइ ॥२२३॥

शब्दार्थ —बल्लभ—प्रियतम तचो घाम—धूप मे तपता हुआ भेक—मेंढक, सुच—सुख फनि—सर्प।

अर्थ —प्रियतम के अभाव में विरही हृदय के लिए सब सुख वैसे ही हैं जैसे धूप में तपते हुए मेंढक के लिए नाग के फन की छाया का सुख।

---

१ शिरमनी २ बिरहि

विशेष :—प्रिय के अभाव में सासारिक सुख विरही को और अधिक कष्ट देते हैं।

प्रोपितभर्तृका नायिका

बीर बिरहदुख अति दुःसह, जिन दें को ज्युगदीस[1]।
और कण्टकीका चली, मरण मन्यों आसीस[2] ॥२२४॥

शब्दार्थ .—वीर—सखी, जिन दैंको—किसी को भी न दे,

प्रसग .—एक प्रोपितभर्तृका नायिका अपनी सखी से विरह-दशा का वर्णन करती है

अर्थ —हे सखी, विरह दुख अत्यन्त असहनीय होता है, ईश्वर, यह दुख किसी को भी न दे। अन्य कष्टो की तो इसके सामने बिसात ही क्या है, मृत्यु प्राप्त हो तो उसे आशीर्वाद समझना चाहिए।

ताती ब्यार न लगि सहे, अैसो ज्यादें प्यार।
अहु निज बिरहानल बरत, यह सुनि मोद अपार ॥२२५॥

शब्दार्थ —ताती ब्यार—गरम हवा, लू, अहु—आश्चर्यसूचक उद्गार, वह—है, होता है।

अर्थ '—जो प्रेमी अपनी प्रिया को इतना प्यार करता है कि उसके गरम हवा का झोंका लगना भी नहीं सह सकता, वही प्रेमी अपने विरहानल में उसके जलने की खबर सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, कैसी विचित्र बात है!

बुजवे ओर न ब्रिहअगन[3], बिन प्रिय दरसन-तोय।
सब तब पें कछु निज दिसा, सुनि वाकी घटि होय ॥२२६॥

शब्दार्थ —बुजवे—बुझाना, ब्रिह—विरह, तोय—जल, घटि होय—कम होता है।

अर्थ :—प्रियदर्शन रूपी जल के बिना और कोई वस्तु विरहाग्नि को नही बुझा सकती। *अन्य की अपनी जैसी दयनीय दशा सुनकर वह थोड़ी कम हो सकती है।*

विशेष .—विरही को देखकर विरही को सात्वना मिलती है, पूर्ण-शान्ति तो प्रियदर्शन से ही सभव है।

---

[1] जुगदीश, [2] आसीश, [3] ब्रिहे अगन।

प्रोषितभर्तृका नायिका

नाक सुहाय न मुक्त मन, रह्यों लालसो लागि।
प्रिय घनश्याम मिलें न ह्वा, सो तिय सुख सब आगि ॥२२७॥

शब्दार्थ —नाक—१ नाक, २ स्वर्ग मुक्त—१ मोती, २ मुक्ति, मोक्ष, सोतिय—१ सौत को, २ सब स्त्रियों का, सब—१ तमाम, २ शव।

संकेत —श्लेष होने के कारण इस दोहे के दो अर्थ होंगे। एक विरहिणी नायिका के पक्ष में, दूसरा भगवदभक्त के संबंध में।

अर्थ —(१) नायिका अपनी सखी से कहती है, प्रिय वियोग में मुझे नाक में मोती पहनना अच्छा नहीं लगता। मेरा मन तो सदा प्रिय की याद में लगा रहता है। प्रिय घनश्याम मुझसे आकर नहीं मिलते, वहाँ (मथुरा में) सौत को सब प्रकार से सुखी कर रहे हैं। यह बात मुझे अग्नि के समान दाहक लगती है।

(२) न मुझे स्वर्ग की कामना है और न मोक्ष की। मैं तो नंदलाल में अनुरक्त हूँ। वे तो वहाँ प्राप्त होंगे नहीं। उनके अभाव में वहाँ (स्वर्ग) के सब प्रकार के स्त्री-सुखभोग भी मुझे शव को जलानेवाली अग्नि अर्थात् चिता के समान दाहक प्रतीत होंगे।

विशेष —तुलना कीजिये—'नाक-वास बेसर लह्यो बसि मुकुतन के संग'
—बिहारी

बचीगई बाचे बिना, लखि सखिकर पिय पाति।
छुहि तातो छाती भई, सीरी जो धकि जाति ॥२२८॥

शब्दार्थ —बची गई बाचे बिना—बिना पढ़े ही पढ़ ली गई, (२) पत्र के देखने मात्र से वह बच गई, जो धकि जाति—जो धधक रही थी।

अर्थ —(१) सखी के हाथ में प्रिय का पत्र देखकर नायिका के द्वारा व[illegible] बिना ही पढ़े ही पढ़ लिया गया। अर्थात् वह जान गई कि प्रिय ने आने का विचा[illegible] त्याग दिया है। छूने पर पत्र अत्यन्त शीतल प्रतीत हुआ जिससे नायिका [illegible] अत्यन्त निराशा हुई और उसकी छाती विरहाग्नि के कारण तप्त होकर धधकने लगी।

(२) विरह के कारण मरणासन्न नायिका सखी के हाथ में प्रिय का पत्र देख कर बिना पढ़े ही उसका मर्म समझ गई और मृत्यु के मुख में जाने से बच गई।

जब उसने पत्र को छुग्रा तो वह गरम लगा। इससे उसे पता चला कि उसके प्रियतम भी उसके विरह में तप रहे हैं। ग्रतः उसकी धधकती हुई छाती शीतल हो गई।

बिधना प्रीति कराय क्यों, प्रीतम, लीनें छीन।
स्नेही दें कें स्नेह लें, यह का रे[1] दुख दीन ॥२२६॥

शब्दार्थ :—स्नेही—प्रेमी, कें—ग्रथवा।

सकेत :—विरहिणी नायिका विधाता को उपालभ देती है।

ग्रर्थ :—हे विधाता, तूने यह कैसा दुख दिया? प्रीति करवाकर प्रियतम को क्यो छीन लिया? या तो मुझे ग्रपने प्रियतम से मिला दे या उनके प्रति जो स्नेह दिया है उसे वापस ले।

दैया यह का ह्वै गयो, बूजति नां यह कांन।
समुझ परें नहि वाहि बिनु, क्यों तरसत मों प्रांन ॥२३०॥

शब्दार्थ :—बूजति ना—जानती-बूझती नहीं थी; कान—श्री कृष्ण।

प्रसंग :—विरहिणी नायिका श्री कृष्ण के प्रति ग्रपनी ग्रासक्ति का वर्णन करती है :

ग्रर्थ :—हे विधाता, यह क्या हो गया मैं तो इस कन्हैया को पहचानती तक नहीं थी। समझ में नही ग्राता ग्रब उसी के बिना मेरे प्राण क्यो तरसते है?

है आशा द्रुत सफल हों, किधों तुं ह्वैं जा नास।
जाय जीय मो दुख टरें, भाजें जग उपहास ॥२३१॥

शब्दार्थ :—द्रुत—शीघ्र, भाजें—नष्ट हो।

प्रसंग :—विरहिणी नायिका ग्राशा को दुख का कारण मानकर कोसती है।

ग्रर्थ :—हे ग्राशा, तू जल्दी से फलित हो जा। या तू जल्दी नष्ट हो जा, जिससे मेरे प्राण (जो तेरे कारण ग्रटके हुए हैं) निकल जाएँ, दुख टले, तथा ससार के उपहास भी नष्ट हो।

---

१. दे। मूल प्रति में इस दोहे का नं० २०७ है।

तुम तो आय शके नही, औध टरी लहु वहान ।
का चिंता तुव पास हों, मिलन पठउँगी प्रान ॥२३२॥

शब्दार्थ —पठउँगी—भेजूँगी ।

प्रसग :—विरहिणी नायिका नायक (श्री कृष्ण) के न आने पर दुखी होकर कहती है

अर्थ —हे श्री कृष्ण, अवधि टल गई, फिर भी तुम तो आये नही । कोई चिंता नही, मैं अब अपने प्राणो को ही तुम्हारे पास मिलने के लिए भेजूँगी । अर्थात अब मैं प्राण त्यागती हूँ ।

हिय रुधन हरिरूप-सुधि, बिरह-ताप बच-सूर ।
अब जीवन तज आस अलि, भई त्रिदोष रुज पूर॥२३३॥

शब्दार्थ :—रुधन—रुध जाना, सुधि—स्मरण, सूर—शूल, त्रिदोष—तीन दोष (वात, पित्त और कफ), रुज—पीडा ।

प्रसग —विरहिणी नायिका अपनी सखी से कहती है कि मुझ पर त्रिदोष का आक्रमण हुआ है । अब तू मेरे बचने की आशा त्याग दे ।

अर्थ —हे सखी, अब तू मेरे जीवन की आशा त्याग दे । क्योकि श्री कृष्ण के रूप-स्मरण, विरहताप और वचन-शूल से मेरा हृदय रुध गया है । ऐसा लगता है जैसे इन त्रिदोषो की पीडा अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है ।

विशेष —आयुर्वेद के अनुसार कफ वात और पित्त (त्रिदोष) का हमला एक साथ हो जाने से सन्निपात हो जाता है और रोगी के बचने की बिलकुल आशा नहीं रहती ।

दाम धरो घनसार सखि, बरबट बिरहनि बाल ।
होरि दिवारी एक वय, प्रकटी दीपकमाला ॥२३४॥

शब्दार्थ —दाम धरो—माला पहनाई घनसार—कपूर, बरबट—हठ करके, एक वय—एक (हुँ) हो गई, एकाकार हो गई ।

अवतरण —विरहिणी नायिका को उसकी सखी ने कपूर के मनको की माला पहनाई है । क्योकि कपूर शीतल होता है, पर यही माला नायिका ने कभी सयोग के समय पहनी थी, अत. उन क्षणों को याद करके उसके हृदय में विरहाग्नि धधक उठती है । उसी के परिणाम का यहाँ बर्णन है ।

विशेष :—कवि भूषण ने अपने एक कवित्त में ऐसी ही कल्पना शिवाजी के यश-वर्णन के प्रसंग में की है—'पावत न हेरे तेरे जसमें हिराने, निजगिरि को गिरीश हेरे गिरजा गिरीश को।'

बिरह दरद नटसालसों, सालत हैं हिय मांहि।
निकसें ओर उपाय इह, बिन पियु[1] चुंबक नांहि ॥२३७॥

शब्दार्थ :—नटसाल—बाण या काँटे की टूटी और चुभी हुई नोक; सालत हैं—कसकता है, दु.ख देता है, चुबक—लोहे को खीचने वाला पत्थर, मेगनेट।

अवतरण :—विरहिणी नायिका अपना दुःख सखी से कह रही है :

अर्थ :—विरह का दुख नटसाल की तरह मेरे हृदय में कसकता है। प्रियतम रूपी चुम्बक बिना और किसी उपाय से वह निकलता प्रतीत नही होता।

बिना विरह अनुभों दइत, तति रति उपजें नांहि।
जिमि बिनु आतप तनु तयें, मिष्ट न लगि द्रुमछांहि ॥२३८॥

शब्दार्थ —दइत—सं० दयित, प्रिय; रति—प्रेम; आतप—धूप, बिनु तयें—तपाये बिना।

अर्थः—अपने प्रिय का विरह-दु.ख भोगे बिना उसके प्रति अधिक प्रेम नही होता। जैसे कि धूप में तपे बिना द्रुमो की छाया मीठी नही लगती।

विरह-वर्णन

पीर बिनां प्रोती कहूँ, चितइ न सुनि अद्याप।
ताप बिहिन त्रष्णा न जिमि, बिन त्रष्णा न संताप ॥२३९॥

शब्दार्थ .—पीर—कष्ट; अद्याप—अद्य+अपि=अद्यापि, आज तक; संताप—कष्ट (तृष्णा को तृप्त करने की आतुरता)।

अर्थ :—कष्ट के बिना कहीं प्रेम हुआ हो, आज तक ऐसा कहीं देखा-सुना नही। जैसे कि ताप के बिना तृष्णा और तृष्णा के बिना संताप नहीं होता।

---

१. पिय।

बिरहारतितें रति बढ़ै, पै रुचि बढ़न न कोय ।
प्यासो जख्मी जियें तहूँ, लह्यो न त्यागें तोय ॥२४०॥

शब्दार्थ :—बिरहारति—विरह की पीडा, लह्यो—प्राप्त, तोय—पानी ।
अर्थ —विरह की पीडा से प्रेम बढता है, पर इस तरह (विरह सहकर) प्रेम को बढाने की रुचि किसी की भी नहीं होती । वैसे ही जैसे प्यासा घायल यह जानते हुए भी कि वह तभी जीवित रहेगा जब वह पानी न पिये, पर प्राप्त जल को वह नही त्याग पाता ।

मीत मर्यो सु जियो जियो, मर्यो अबल भो अेक ।
वाकों मिलि दूनो बन्यो, दु ख बल बढ्यों अनेक ॥२४१॥

शब्दार्थ :—अबल—निर्बल, एक—अकेला, वाको—उसका (मरने वाले का) ।
अर्थ —दो मित्रो में से जो मर गया वह जीवित रहा, जो जीवित रहा वह समझो अकेला और दुर्बल होकर मर गया । इसके दु ख में उसका दु ख मिलकर दूना हो गया । इस प्रकार दु ख का बल कई गुना बढ गया ।

सो०—प्रीय प्रानसम होय, मेरे भाय न सब कहे ।
प्रिय बिछुरत दु ख होय प्रान गये पाछें न सो ॥२४२॥

शब्दार्थ —मेरे भाय न—यह बात मेरे नही जँचती ।
अर्थ —सब कहते है कि प्रिय प्राणों के समान प्यारा होता है । यह बात मुझे नही जँचती क्योंकि प्रिय के बिछुडने पर दु ख होता है प्राणो के बिछुडने पर नही । अत प्रिय प्राणो से भी अधिक प्यारा होता है ।

सो०—मिलन प्रीय प्रतिबध, कोरि क्रतात हुतें दुखद ।
दुगनो अन्य सबध, जासु हिलग ताको भयों ॥२४३॥

शब्दार्थ —कोरि क्रतात—करोड यमराज, हिलग—लगन, लगाव ।
अर्थ —प्रिय-मिलन पर लगाया गया प्रतिबध करोड यमराजो से भी अधिक दु खद है । यह दु ख दूना हो जाता है यदि जिससे हमें लगाव है उसका किसी अन्य से सबध हो ।

सो०—जितो विरह सताप, तितों प्रेम परमानियें ।
यह सनेह को माप, समुझ लेहु अनुमानतें ॥२४४॥

अर्थ —जितना विरह-दु ख हो उतना ही प्रेम समझिये । प्रेम का यही माप हैं । अनुमान से समझ लो ।

दो०—बिरहव्यथा[1] जासू कहूं, तपें ताहुको तन्न ।
अहो बसे हिय तहु रहे, सीरे मनमोहन्न ॥२४५॥

अवतरण —कोई विरहिणी गोपिका अपनी सखी से कह रही है ।

अर्थ —मैं जिस किसी से अपनी विरह-व्यथा कहती हूँ उसका तन तपने लगता है । आश्चर्य तो यह है कि मेरे हृदय में बसते हैं फिर भी मनमोहन ठंडे कैसे हैं ।

गोपी गोपीनाथ को, बिरह और ही जाति ।
ज्यो लुहार की सानसी, छिनु सीतल छिनु[2] ताति ॥२४६॥

अर्थ —गोपिया और गोपीनाथ का प्रेम कुछ और ही प्रकार का है । लुहार की पकड (सानसी) की भाँति वह क्षण में गरम और क्षण म ठंडा होता है ।

बेर कोरि करजोरि कहूँ हा हा खै घसि नास ।
म्हा बियोग मत मीतको[3], विहु दयाल बड त्रास ॥२४७॥

शब्दार्थ —वेर कोरि—कोटि बार हा हा खै—हा हा खाकर, घसि नास—नाक रगडकर ।

अर्थ —हे दयालु कोटि बार हाथ जोडकर, हा-हा खाकर और नाक रगडकर आपसे विनती करता हूँ कि किसी को उसके प्रिय का महावियोग न दीजिये । इससे बडा कष्ट होता है ।

ठारे अगन लाल मो, मन डरपें ललचाय ।
आजे अेकमलों न कछ, आउ जाउ कहि जाय ॥२४८॥

शब्दार्थ —ठारे—खडे है अगन—आँगन में । एकम—प्रतिपदा और दूज के बीच की तिथि ।

प्रसग —एक प्रगल्भासक्ता गोपिका श्रीकृष्ण को अपने आँगन में खडा देखकर विचार करती है ।

अर्थ —मेरे आँगन में श्रीकृष्ण खडे हैं । मेरा मन भयभीत है और ललचाता

---

१ बीरव्यथा, २ छनु ३ मित्तको ।

भी है। भय और लालच के बीच आज मेरी स्थिति प्रतिपदा और दूज के बीच की तिथि (एकम) की-सी हो रही है। न मुझसे उन्हें 'आओ' कहा जाता है न 'जाओ'।

रूप-वर्णन

दो०—स्यामा तूं जिन जाई सर, बिन घूंघट पट[1] द्योस।
परिहैं तेरो बदन लखि, भौंर कोक मुख सोस ॥२४९॥

शब्दार्थ :—जिन जाई—मत जा, सर—तालाब, द्योस—दिन में, भौर—भ्रमर, कोक—चकवा, सोस—शोष, चिंता।

अर्थ :—(सखी नायिका से कहती है) हे श्यामा, तू दिन में सरोवर की ओर घूंघट निकाले बिना मत जा। तेरा (चन्द्र) मुख देखकर भ्रमर और चक्रवाक के मुख चिंता में (मलिन) पड जाएंगे।

विशेष :—कवि-प्रसिद्धि है कि चन्द्रोदय से कमल मुरझा जाते हैं और चक्वा-चकवी बिछुड जाते हैं।

स्यामा आनन ससि लखन, चकोर तरसत नाह।
मानपरब केतों अज्यों, टरत न घूंघट राहु ॥२५०॥

शब्दार्थ :—नाह—नाथ, स्वामी; मानपरब—मानपर्व, ग्रहण का अंश, राहु—राहु।

अवतरण :—दूती वचन मानवती नायिका प्रति।

अर्थ :—हे श्यामा, तेरा चन्द्रमुख देखने के लिए तेरे चकोर रूपी स्वामी तरस रहे हैं (और मुझसे पूछते हैं कि) मानरूपी पर्व अर्थात् ग्रहण अभी कितना शेष है, जो घूंघट रूपी राहु नही टलता है ?

इच्छन सेल रु भौं असी, जतु गोलक गहि ढाल।
राधे तेरे नैननें, कीने लाल बिहाल ॥२५१॥

शब्दार्थ :—इच्छन—कटाच, बिहाल—बेहाल, गोलक—आंख की पुतली।

अवतरण :—सखी राधा के नेत्रों की सुन्दरता का वर्णन करती है।

अर्थ :—कटाक्षों की सेल, भृकुटि की तलवार और गोलकों की ढाल से सुसज्जित तेरे नेत्रों ने लाल को बेहाल कर दिया है।

---

१. घूंघट कवु।

विशेष :—तुलनीय—"ये तेरे सब तै कठिन ईछन-तीछन वान ।"
—विहारी ।

लिपटे पियकों पानि बिन, बांनी बिनु कहि बात ।
अहो सलोने द्रग अली करे शस्त्र बिनु घात ॥२५२॥

शब्दार्थ :—पानि—हाथ; घात—चोट, प्रहार ।

अवतरण :—सखी नायिका के नेत्रो की सुन्दरता का वर्णन करती है :

अर्थ :—हे सखी, तेरे सलोने नेत्र हाथो के बिना प्रिय से लिपट जाते है; वाणी के बिना अपनी बात कह देते है और शस्त्र के बिना प्रहार करते हैं ।

विशेष :—अत्यंत मौलिक एवं उत्कृष्ट कल्पना है ।

ललना लोचन सित असित, गोलक डोरे लाल ।
यह त्रिवेनि मज्जन लही, मुक्ति बिरह गोपाल ॥२५३॥

शब्दार्थ :—सित—सफेद; असित—श्याम, मज्जन—स्नान ।

अव० :—सखी राधिका के नेत्रो का त्रिवेणी रूप में वर्णन करती है ।

अर्थ :—हे ललना, तेरे लोचन सफेद है, उनमें गोलक काले है और लाल डोरे भी पड़े हैं । इस (गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम) त्रिवेणी में स्नान करके ही श्री गोपाल ने विरह से मुक्ति प्राप्त की है ।

विशेष :—मिलाइये रसलीन के सुप्रसिद्ध दोहे से—
"अमि हलाहल मदभरे, स्वेत स्याम रतनार ।"

अमिबिध रस, रति, तरलता त्रपा अपा रुचि मांन ।
इत्यादिक गुन सदन श्री, लोचन उपमा कांन ॥२५४॥

शब्दार्थ :—अमि—अमृत; बिध—बेधने की शक्ति, रस—विष; रति—प्रेम, तरलता—चपलता; त्रपा—लज्जा, रुचि—रुचें ऐसे; मान—मद; श्री—राधिका, कान—कोई भी नही है ।

अर्थ :—हे श्री राधिका, तेरे नेत्रों की कोई उपमा नहीं । क्योंकि उनके जितने गुण किसी भी अन्य वस्तु में नही है । वे एक साथ अमृतमय, विषैले, वेधक, प्रेमपगे, चंचल, कृपालु, सलज्ज, सुरुचिपूर्ण और मानयुक्त हैं ।

विशेष :—नेत्र के नौ गुणों का इस दोहे में वर्णन है ।

प्यारी तेरों अधर रस, क्यों विसरें गोपाल ।
बेंसर निरमल मुक्तहू, जिहि परसत भों लाल ॥२५५॥

शब्दार्थ :—गोपाल—श्रीकृष्ण, (२) इन्द्रियों का पालन करनेवाला, बेसर—नाक में पहनने का एक गहना, मुक्त—मोती, (२) अनासक्त; लाल—लाल रंग का, (२) अनुरक्त।

अर्थ :—हे प्यारी (सखी), तेरे अधर-रस का स्वाद श्रीकृष्ण कैसे भूल सकते हैं ? देख बेसर का निर्मल मोती भी उन्हें स्पर्श करते ही लाल हो गया।

(२) अनासक्त (मुक्त) भी जिनके स्पर्श से अनुरक्त (लाल) हो जाते हैं ऐसे अधर-रस के स्वाद को गोपाल (इन्द्रियों को पालने वाले) कैसे भूल सकते हैं ?

विशेष :—तुलना कीजिये—बेसरि मोती धनि तुही, को बूझै कुल जाति।
पीबौ करि तिय ओठ कौ, रस निधरक दिन राति॥

म्हावर, तूं साचों ठयों, पाय बड न पद धाम।
सब बर बर नट बरहु सो, तो पद करत प्रनाम॥२५६॥

शब्दार्थ :—म्हावर—पैर रंगने का लाल रंग (२) महाश्रेष्ठ, सब बर वर—सब वरों में श्रेष्ठ; नटवर—श्रीकृष्ण।

अर्थ :—हे महावर, बडी (राधा) के पदधाम में स्थान प्राप्त करके तू सचमुच ही महावर (अतिश्रेष्ठ) प्रमाणित हुआ है। देख सब वरों में वर (श्रेष्ठतम) नटवर है, वे भी तेरे चरणों में प्रणाम करते हैं।

हरि कैसो मुख नयन हरि, कच कुच कटि कर-पाय।
हरि सुबरन गति बेनि छब, राधा हरि सुखदाय॥२५७॥

शब्दार्थ :—हरि—(१) चंद्रमा, (२) मृग, (३) भ्रमर, (४) पर्वत, (५) सिंह, (६) कमल, (७) स्वर्ण, (८) हाथी, (९) सर्प।

अर्थ :—हे श्री राधिका, तुझे हरि अत्यंत प्रिय हैं इसलिए तूने अपने मुख, नेत्र, कच, कुच, कटि, कर-पाँव, वर्ण, गति और वेणी को हरि के अनुरूप बनाया है। तू सब प्रकार से हरि को सुखदायिनी है।

विशेष :—कवि ने इस दोहे में राधिका के अंगों की सुन्दरता का वर्णन किया है। 'हरि' शब्द के ९ अर्थ हैं जिनके सहारे कवि ने राधा के समस्त अवयवों का वर्णन किया है। चंद्रमा के जैसा मुख, मृग के से नयन, भ्रमर के से बाल, पर्वत के से कुच, सिंह की सी कटि, कमल के से हाथ-पाँव, स्वर्ण के समान वर्ण, गज की-सी गति और नागिन के समान चोटी—ये उपमान कवि-परंपरा के अनुसार प्रसिद्ध और जाने-पहचाने हैं। कवि की विशेषता यह है कि उसने एक ही शब्द से नौ अर्थों का बोध कराया है।

कटि सों मद रति वेंनि अलि, चखसि बडाई धारि।
कुचसे वच अखि ओठ भौं, मग गति मतिहि बिसारि ॥२५८॥

शब्दार्थ —कटि—कमर, मद—मान, चख—नेत्र, वच—वचन, अखि—आँख, भो—भौंह, मति—बुद्धि।

अवतरण —मानवती नायिका के प्रति सखी वचन। इस उक्ति में शिक्षा और सौन्दर्य-वर्णन दोनो का समन्वय है।

अर्थ —हे सखी, यदि तू अपने प्रिय से मान करती है तो अपनी कटि के समान क्षीण (मान) कर, यदि प्रीति करती है तो अपनी चोटी के समान दीर्घ (प्रीति) कर, अगर बडप्पन धारण करती है तो अपने नेत्रों का सा धारण कर। पर अपने कुचों के समान कठोर वचन, ओठों के समान नेत्रों की ललाई (क्रोध), भृकुटि के समान कुटिल मार्ग पर गमन और अपनी गति के समान (मद) मति को सदा के लिए त्याग दे।

जाती स्यामा हरि लकी विकल भये श्रीरग।
चल दल दुख सुकुमार पिय[1], करि केली कामाग ॥२५९॥

शब्दार्थ —लकी—देखा, श्रीरग—श्रीकृष्ण दल दुख—दुख को नष्ट कर, केलो कामाग—काम-क्रीडा, जाती—चमेली, स्यामा—पाटल हरितकी—हरडे, श्रीरग—लौंग, चलदल—पीपल, सुकुमार—चपा, पिय—कदब, केली—केला, कामाग—आम।

अव० —रूपवती नायिका के प्रति दूति वचन।

अर्थ —हे श्यामा, तुझे जाते हुए जबसे श्रीरग ने देखा है तब से वे व्याकुल हैं, तू चलकर कामाग केलि करके अपने सुकुमार प्रियतम के दुखों को दल दे।

विशेष —यह वृक्ष बध दोहा है। इसमें चमेली, पाटल, हरडे, लौंग, पीपल, चपा, कदब, केला और आम—इन नौ वृक्षों का भी वर्णन है। देखिये शब्दार्थ।

मिलन समय मडन कहा, सु तन दपें लगि साल।
फिरि आछैं वपु बरमलौं, तनक दूर जब लाल ॥२६०॥

शब्दार्थ —मडन—आभूषण, शृगार, दप—ढकते हैं, लगि साल—चुभते हैं, साल के जैसे लगते हैं, वपु—अग, बरम—कवच।

१. पिय, मूल प्रति में इस दोहे का क्रमांक २५७ है।

अव० :—नायिका को बुलाने लिए आई हुई दूती नायिका को शृंगार करने में विलंब करते देखकर कहती है :

अर्थ :—मिलन के समय आभूषण पहनने से क्या लाभ ? ये तो उल्टे शरीर के सौंदर्य को ढँकते हैं और नायक को भी चुभते हैं। नायक के कुछ दूर होने पर तू इन्हें फिर कभी धारण करना। तभी ये अच्छे लगेंगे और दुष्टजनों की दृष्टि से तेरे शरीर की कवच-वत रक्षा करेंगे।

विशेष :—बिहारी ने गहनों को दृष्टि का 'पायंदाज़' कहा है।

रही मो संसे यह सदा, कापें भंजो जाय।
प्रिया तनक तन अतुल भा, सो कस रही समाय ॥२६१॥

शब्दार्थ :—संसे—संशय, भजो—कहना (सं० भण्), अतुल भा—अतुल आभा, कांति; कस—कैसे।

अव० :—नायिका-प्रति सखीवचन।

अर्थ :—हे सखी (प्रिया), मेरे मन में सदैव एक संशय बना रहता है, उसे मैं किससे जाकर कहूँ ? संशय यह है कि तुम्हारा तन तो सूक्ष्म सुकुमार है, फिर उसमें इतनी अतुल आभा कांति कैसे समाई हुई है !

सहज गतो सूधी चलें, तिरछे पर जिय लेंन।
भे बुधबल के पदाती, प्यारे त्यहारे नेंन ॥२६२॥

शब्दार्थ :—भे—हुए, बुधबल—शतरंज; पदाती—पैदल।

अव० :—नायिका नायक के नेत्रों के प्रभाव का वर्णन करती है।

अर्थ :—हे प्रिय, तुम्हारे नेत्र साधारणतया सीधे चलते हैं, पर जब जी लेना होता है तो टेढे चलने लगते हैं। तुम्हारे नेत्र तो शतरंज के पैदल हो गये हैं।

विशेष :—शतरंज के पैदल की यह विशेषता है कि वह आगे बढता है तब सीधा चलता है, पर जब किसी दूसरे मोहरे को मारना होता है तो टेढा चलने लगता है।

धन्य रती तेरी कृति, हिय राधा मुख स्याम।
अनुरागी लहि रतिपती, पितु रति करि करि दाम ॥२६३॥

शब्दार्थ :—रती—रत्ती, गुजा; हिय—अंतर, राधा—राधा का पीला वर्ण; अनुरागी—प्रेमी (लाल वर्ण युक्त); रति-पति-पितु—प्रद्युम्न के पिता, श्रीकृष्ण; रति करि—प्रेम करके; दाम—माला।

अर्थ —हे गुजा, तेरी कृति को धन्य है, तेरे हृदय में राधा (पीलापन) और मुख में श्याम (कालापन) है। तेरे इस अनुराग को देखकर श्रीकृष्ण ने प्रेम से तुझे अपने गले की माला बनाया है।

कुलहि लाल पित उपरना मिल तनु नदकुमार।
प्रेम लपटि अनुराग सिर मानु मुरति शृंगार ।।२६४।।

शब्दार्थ —कुलहि—कुल्ला, टोपी, उपरना—ऊपर ओढ़ने का वस्त्र।

अर्थ –नीले शरीर वाले नदकुमार ने पीला वस्त्र ओढ रखा है और सिर पर लाल कुल्ला पहना है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्तिमान शृ गार रस ने प्रेम में लिपट कर अनुराग को सिर पर धारण किया हो।

कृष्णसु राधा राधिका, कृष्ण यथा शब्दर्थ।
क्यो सभवता बिलगता, कहे वियोग सुव्यर्थ ।।२६५।।

शब्दार्थ —शब्दर्थ—शब्द और अर्थ, बिलगता—भिन्नता।

अर्थ —कृष्ण ही राधा है और राधा ही कृष्ण है। शब्द और अर्थ की भाँति दोनो अभिन है। जैसे शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द को अलग करना सभव नही वैसे ही इन दानो की विलगता भी सभव नही। इनके भिन्न होने की कल्पना ही व्यर्थ है।

विशेष —तुलना कोजिये वागर्थाविव सम्पृक्तो वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।
(रघु० मगलाचरण, कालिदास)

अली अदरदी हरि भये, बिरह दरद हौं चूर।
कपूर न रहि बिन मिर्च ज्यो, मिर्च न चाहि कपूर ।।२६६।।

शब्दार्थ —अदरदी—बेदरदी।

प्रसग — एक विरहिणी गोपिका श्रीकृष्ण के प्रति अपनी सखी से कहती है।

अर्थ —हे सखी, हरि बेदरदी हो गये हैं और मैं विरह-व्यथा में चूर हूँ। यह तो वैसी ही बात है जैसे कपूर मिर्च के बिना नहीं रह सकता, पर मिर्च को कपूर की चाह तक नहीं। अर्थात् यह तो एकागी प्रेम हुआ।

विशेष —कपूर को सुरक्षित रखने के लिए लोग उसके साथ काली मिर्च रखते हैं।

तरसें दुहु मन मिलनकों, गह्यो दोउ घन मान।
सही क्रोध मिलये दुती दुहु प्रिय लगि प्रियप्रान ॥२६७॥

शब्दार्थ —गह्यो—ग्रहण किया घन—गहरा बडा दुती—दूती।

अर्थ —(श्री कृष्ण और राधा) दोनो के मन एक दूसर से मिलन के लिए बचन थ। किन्तु दोनो न बडा भारी मान धारण कर रखा था। दूती न क्रोध सहकर दोनो म मल मिलाप करवा दिया। इस काय के कारण दूती दोनो को प्राणो से भी अधिक प्यारी लगी।

हीरावेध प्रकरण

मीनकेतु राह कवि पर्यो जीवबुद्धि गहि मद।
मगलमय तट तरनिजा बसि न भजे व्रजचद ॥२६८॥

शब्दार्थ —मीनकेतु—मीनकेतु कामदेव राह—माग कवि—ज्ञानी शुक्र तरनि जा—सूयकी पुत्री यमुना व्रजचद—कृष्ण।

अर्थ —(गुरु शिष्य से कहता ह) ज्ञानी होकर भी तू काम के कुमाग में पड गया और ह मतिमद जीव बुद्धि को तून अपना लिया। यमुना के मगल मय तट पर बस कर भी तून श्रीकृष्ण का भजन नही किया।

विशेष —यह नवग्रह वध दाहा है नो ग्रहा के नाम य हैं —१ केतु २ राह—राहु ३ कवि—शक्र ४ जीव—गुरु ५ मद—शनि ६ तरनि—सूय ७ बुद्धि—बुद्ध ८ मगल ९ चद्र—चद्रमा।

अभय कृष्ण आराधि का और देव की आस।
जामे नहि बलभद्रकों जमना भाजें त्रास ॥२६९॥

शब्दार्थ —बलभद्र—बल भद्र—उत्तम बल मुक्ति प्रदान करन का बल जमुना—यमुना (२) जम ना

अर्थ —हे मन निभय होकर श्रीकृष्ण को आराधना कर और देवों को आशा व्यथ हो क्या करता है। उनमें मुक्ति प्रदान करन का बल तो है ही नहीं, यम भी उनसे डर से नहीं भागता। फिर एसे की आराधना से क्या लाभ ?

विशेष —इस दोहे म कृष्ण सम्बधी पाँच नाम हैं—१ कृष्ण २ राधिका ३ देवकी ४ बलभद्र ५ जमुना।

सास गवाय बढाय दो, पुत्रवधू निज पाय।
कृष्णस्वसासुत वारि मो, त्यों मगभ्रात चलाय ।।२७०।।

शब्दार्थ :—सास=श्रीकृष्ण की सास—कीर्ति, पुत्रवधू—श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की वधू—रति (प्रीति); कृष्ण स्वसासुत—कृष्ण की बहिन सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु (अर्थात् अभिमान, क्रोध); भ्रात—श्रीकृष्ण के भाई बलभद्र (कल्याण का बल रखने वाले)।

अर्थ :—*हे श्री कृष्ण, आप मुझसे अपनी कीर्ति का गान करवाइये और* अपने चरणों में गति प्रदान कोजिए। मेरे अभिमान का निवारण कीजिए और मुझे मुक्ति के मार्ग पर चलाइये।

विशेष :—इस दोहे में कवि ने श्रीकृष्ण के संबंधियों में से सास, पुत्रवधू, भानजे और भाई की विशेषताओं का उल्लेख किया है।

श्रवन अनु राधा तु कर[1], कहे विसाखा वात।
हस्त वरन लखि बोलि तो, रोहिनि सुत के भ्रात ।।२७१।।

शब्दार्थ :—श्रवन तु कर—सुन, हस्तवरन—हस्ताक्षर, बोलि तो—तुम्हे बुलाया है, रोहिनिसुत—बलराम।

अवतरण :—(नायिका दूती प्रगल्भा) विशाखा जो श्रीकृष्ण का पत्र और संदेश लेकर आई है। पर राधा ध्यान नहीं देती है, अत उनको एक अन्य सखी कहती है।

अर्थ :—हे अनुराधा, सुनो विशाखाजी क्या कह रही है। विश्वास न हो तो हस्ताक्षर देख लो, रोहिनिसुत के भ्राता (श्रीकृष्ण) ने तुम्हें बुलाया है।

विशेष :— इस दोहे में पाँच नक्षत्रों के नाम आये हैं—१ श्रवण, २ अनुराधा, ३ हस्त, ४ विशाखा, ५ रोहिणी।

सुनि कन्या व्रपभानकी, तुला न तेरी कोय।
मीनकेतु दुख देत पिय, मयुन मिलहु सुख होय ।।२७२।।

शब्दार्थ :—व्रपभान—वृषभानु, राधा के पिता, तुला—समानता, मीनकेतु—कामदेव, मिथुन—युग्म, जोड़ा।

अर्थ :—(सखी वचन) हे वृषभानुजा, सुन ! तेरी समता की कोई स्त्री नहीं है। तेरे प्रिय को काम सता रहा है। तुम दोनों मिलो तो आनन्द हो।

---

१ करो।

विशेष :—इसमें चार राशियों के नाम आये हैं : १ कन्या, २ तुला, ३ मीन और ४ मिथुन।

मे ना कहु इक शुकहु यह, नीलकंठ दुरगाहु।
हरि भजियें सारिंगधर, हुजें[1] न परभ्रत काहु ॥२७३॥

शब्दार्थ :—शुक—शुकदेवजी, तोता, नीलकंठ—महादेव, एक पक्षी; दुरगा—दुर्गा, श्यामा चिड़िया, सारंग—पद्म, मयूर, सारिंगधर—पद्म को धारण करनेवाले; परभ्रत—परभृत, कोयल।

अर्थ :—(कवि अपने मन से कहता है) हे मन, एक मैं ही नहीं कहता; शुकदेवजी भी यही कहते हैं, महादेव और दुर्गा का भी यही मत है कि पद्म को धारण करनेवाले हरि को भजना चाहिए। अन्य किसी के आश्रित नहीं होना चाहिए।

विशेष :—इस दोहे से सात पक्षियों के नाम भी निकलते हैं : १ मैना, २ शुक (तोता), ३ नीलकंठ, ४ दुरगा, ५ हरि (भ्रमर), ६ सारिंग (मयूर), ७ परभृत (कोकिला)।

इंद्र रु ब्रह्मा शिव भजें, तासुं प्रीति करि वृद्धि।
आयुष्मान सुभाग्य ध्रुव, हरष नवित शुभ सिद्धि॥२७४॥

शब्दार्थ :—आयुष्मान—दीर्घायु, सुभाग्य—सौभाग्य, ध्रुव—निश्चय।

अर्थ :—(कवि अपने मन से कहता है) जिसे इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भजते हैं, उससे तू भी प्रीति की वृद्धि कर, ऐसा करने से दीर्घायु, सौभाग्य, नित नए हर्ष और शुभ कामों की निश्चय ही सिद्धि होगी।

विशेष :—इस दोहे में एकादश-योग वर्णित है : १ इन्द्र, २ ब्रह्मा, ३ शिव, ४ प्रीति, ५ वृद्धि, ६ आयुष्मान, ७ सौभाग्य, ८ ध्रुव, ९ हर्ष, १० शुभ, ११ सिद्धि।

धर्मभ्रष्ट इद्री विकल, नारद अज्ञ औ सूर।
भजहु न शिव चाहत वसु, हरि भज रे मन म्हूर ॥२७५॥

शब्दार्थ :—नारद—बिना दाँतवाला; अज्ञ—ज्ञानरहित, मूर्ख, सूर—सूरदास, अंधा, शिव—कल्याण, वसू—वसु, धन, म्हूर—मूढ़।

---

१. दुर्जे।

अर्थ :—(कवि अपने मन को सीख देता है) वृद्धावस्था के आगमन से धर्मभ्रष्ट हो गया है, इन्द्रियाँ अशक्त हो गई है, दाँत गिर गये है, नेत्र जाते रहे हैं, ज्ञान लुप्त हो गया है, अब भी तू कल्याण की कामना न करके धन की चाह में रत है। हे मूढ मन, अब तो हरि को भज।

विशेष :—इस दोहे में आठ देवताओ के नाम है १ धर्म, २ इन्द्र, ३ नारद, ४ अग्नि (अज), ५ सूर्य, ६ ब्रह्मा (अज), ७ शिव, ८ वसु (अष्ट वसु)।

तुलना कीजिये

अग गलित, पलित मुण्ड, दशन-विहीन जात तुण्डम्
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्ड, तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्
भज गोविन्द, भज गोविन्द, भज गोविन्द मूढमते।

गा नटनायक ललित श्री सारग पानि कहान।
जाहि गोरिशकर भजें, जदपि रूप कल्यान ॥२७६॥

शब्दार्थ :—गा—भज, नटनायक—श्रीकृष्ण, श्री—शोभायुक्त, सारग-पानि—हाथ में कमल रखनेवाले।

अर्थ —हे मन, तू सुन्दर और शोभायुक्त नरश्रेष्ठ, सारगपाणि (श्रीकृष्ण) का गान कर जिन्हें स्वय कल्याण-स्वरूप होते हुए गौरी और शकर भजते हैं।

विशेष :—इस दोहे में दस रागो के नाम है १ नट, २ नायकी, ३ ललित, ४ श्री राग, ५ सारग, ६ कहानडा, ७ गौरि, ८ शकरा, ९ रूप (दीपक) और १० कल्याण।

प्रथा धरम जो नर चले, भीम भव न दुखदाय।
कृष्ण नकुल सहदेव मनि, भज सु भद्र वै पाय ॥२७७॥

शब्दार्थ :—प्रथा धरम—धार्मिक प्रथा के अनुसार, भीम—भयानक, भव—ससार, नकुल—शिव, सहदव—देवताओं सहित वै—वय, अवस्था, भद्र—कल्याण।

अर्थ —जो मनुष्य धार्मिक प्रथाओ के अनुसार चलता है उसे इस भयानक ससार के कष्ट नही सताते। पर यदि वह शिव (नकुल) तथा अन्य सब देवों (सहदेव) के शिरोमणि कृष्ण को भजे तो उसे कल्याणकारी अवस्था की प्राप्ति होती है।

विशेष :—इस दोहे में पांडवों तथा उनके संबंधियों के नौ नाम वर्णित हैं : १ धर्म, २ नर (अर्जुन), ३ भीम, ४ नकुल, ५ सहदेव, ६ कृष्ण, ७ प्रथा (कुंती), ८ सुभद्रा, ९ भद्रा (द्रौपदी)।

कृष्ण विभू विधुवंसमनि, वासुदेव प्रिय धर्म।
नरमंडन कृष्णापती, कुल निकंद निष्कर्म ॥२७८॥

शब्दार्थ : कृष्ण—कृष्ण, (२) अर्जुन, विभू—समर्थ, विधु—चंद्रमा, वासुदेव—बलराम, (२) श्रीकृष्ण, धर्म—युधिष्ठिर, नरमंडन—नरों को सुशोभित करनेवाले, कृष्णा—यमुना, (२) द्रौपदी, कुल निकंद—कुल का नाश करनेवाले।

नोट :—इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं। एक कृष्ण के पक्ष में और दूसरा अर्जुन के पक्ष में।

अर्थ :—(१) श्रीकृष्ण सब प्रकार से समर्थ हैं, वे विधुवंश-मणि हैं। बलराम और युधिष्ठिर के प्रिय हैं। नरों को सुशोभित करनेवाले हैं, कृष्णा (यमुना) के पति हैं और कुलनिकंदन होते हुए भी पापरहित हैं।

(२) अर्जुन सब प्रकार से समर्थ हैं। वह चंद्रवंशमणि है। श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर का प्रिय है। नरों को सुशोभित करनेवाला है और कृष्णा (द्रौपदी) का पति है। वह कुल सर्वनाश करनेवाला होकर भी निष्पाप (अनघ) है।

जगजीवन जन तापहर, चपला पियु[1] वपु स्याम।
वैष्णोंवल्लभ नीलग्रिव, हरि माधो जस नाम ॥२७९॥

शब्दार्थ :—चपला—लक्ष्मी, (२) बिजली, वैष्णो—वनस्पति, (२) वैष्णव; नीलग्रिव—नीलकंठ, (२) मयूर, हरि—विष्णु, (२) इन्द्र।

अर्थ :—(१) हे संसार के जीवन (जल) रूपी मेघ, तू लोगों का ताप हरनेवाला है। तू चपला (बिजली) का स्वामी है और काले शरीरवाला है। तू वनस्पतियों और मयूर का प्रिय है। हरि (इन्द्र) और माधव (कृष्ण) आदि नामों से भी तुझे पुकारा जाता है।

(२) हे संसार के जीवन, लोगों के कष्टों को दूर करनेवाले, लक्ष्मीपति, स्याम शरीरवाले, वैष्णवों और नीलकंठ (शिव) के प्रिय आपको धन्य है। हरि, माधो आदि आपके अनेक नाम हैं।

---

१. प्यो।

नोट :—इस दोहे में मेघ और कृष्ण का एक साथ वर्णन किया गया है।

जाय संवती झाँ जुही, सो सकेत निकुज।
चंपक अतसी बरन दुहु, व्हा मिलि हैं सुखपुज ॥२८०॥

शब्दार्थ :—जाय—(जाप ?) जासूद, जपा पुष्प, सेवती—सेवन करती, (२) सेवति, सफेद गुलाब, झाँ—जहाँ, सकेत निकुज—मिलन-स्थल; चंपक वरन—चपा के जैसा पीला वर्ण, अतसी—अलसी।

अवतरण :—एक गोपिका सकेत-स्थल में राधा और कृष्ण का मिलन देखकर आई है।

अर्थ :—*जहाँ जूही के पुष्प हैं, वही सकेत-स्थल है, तू वहीं जाकर बैठ।* चम्पक और अतसी वर्ण वाले दोनो सुखदायी (राधा और कृष्ण) तुझे वहाँ मिलेंगे।

विशेष :—यह पुष्प-बध दोहा है। इस दोहे में छह पुष्पों के नाम हैं : *१ जाप, २ सेवती, ३ जुही, ४ केतकी, ५ चंपा, ६ अतसी।*

खग सुरबाहन ईस बिभु, हरि प्रिय रिपु सारिंग।
ऐसेहैं द्विजराज शुभ, कचन बरन सुभग ॥२८१॥

शब्दार्थ :—खग—आकाश में गमन करने वाला (१) गरुड, (२) चद्रमा, सुरबाहन—(१) देवता, (२) गरुड, ईस विभु—ईश्वर की विभूति, हरि—विष्णु, (२) शिव, सारिंग—सर्प, (२) *कमल*, द्विजराज—*पक्षियो का राजा गरुड*, (२) चद्रमा।

नोट :—एक ही दोहे में गरुड और चन्द्रमा का वर्णन किया गया है।

अर्थ :—(१) हे आकाश में गमन करने वाले, विष्णु के वाहन, तू ईश्वर की विभूति है और *विष्णु को अत्यत प्रिय है।* हे सर्प-रिपु, हे पक्षियो के राजा, तेरे अंगो का वर्ण खरे सोने के जैसा सुन्दर है।

(२) हे आकाश में रहने वाले, हे (शिव को वाहन बनाने वाले अर्थात्) शिव के मस्तक पर विराजने वाले, तू ईश्वर की विभूति है। शिवजी को तू अत्यत प्रिय है, *कमलो का तू रिपु है।* हे *द्विजराज*, तू ऐसा पराक्रमी है ! तेरा शरीर खरे सोने के जैसे वर्ण का है।

गिरिनिवास माधो प्रियें, निकट प्रिया जितकाम।
नीलकठ बिन कोंन[१] धस, काल काल दुख याम ॥२८२॥

---

१ कान।

शब्दार्थ —माघो—मेन, (२) माधव, निकट त्रिया—पत्नी को निकट रखने वाले, जितकाम—काम को जीतने वाले, काल-काल—मृत्यु के काल (शिव), (२) काल (सर्प) का काल मयूर।

नोट —इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं एक मयूर और दूसरा महादेव के संबध में।

अर्थ ·—गिरि (कैलास) में निवास करने वाला, मेघ (माधव) का प्रिय, (पार्वती) पत्नी को साथ रखनेवाला, काम को जीतनेवाला, काल का भी काल और शोभा का धाम नीलकठ के सिवा और कौन ऐसा हो सकता है।

भवरस मन आसक्त सो, विपतीपद सद पाय।
बत निमग्न रहें कामना, अदास प्रिय बन जाय ॥२८३॥

शब्दार्थ :—भव—ससार, (२) शिव, विपती—विपत्ति, (२) वि+पति, गरुडपति, सद—सद्य, फौरन, बत—सासारिक वातें, (२) आध्यात्मिक बातें, अदास—निगुरा, (२) विष्णु।

नोट :—इस दोहे का अर्थ अभक्त और भक्त दोनो के पक्ष में किया जा सकता है :

अर्थ —(१) जिसका मन भवरस (विषयो) में आसक्त हो वह विपत्ति-पद (नरक) तुरत प्राप्त करता है। कामनावश होकर वह सासारिक बातो में निमग्न रहता है और अदास (निगुरो या नास्तिको) का प्रिय बन जाता है।

(२) जिसका मन भवरस (भगवद्-भक्ति) में आसक्त रहता है वह विपति (विष्णु) के पदो अथवा विपति पद (स्वर्ग) को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। वह सदैव भगवान के गुणगान में निमग्न रहता है और अदास (विष्णु) का प्रिय बन जाता है।

मे न हती सुरभी समे, लखती लाल गुपाल।
बित्यो भान रतिरूझ बढ़ी, बहानमिलन वहि काल ॥२८४॥

शब्दार्थ —में न हती—मै नही थी, (२) मैन (कामदेव ने) हती—घायल किया, सुरभी समें—गाधूलि बेला, (२) बसत या फाग खेलते समय, बित्यो भान—सूर्यास्त हो गया, (२) होश जाते रहे रति—रात, (२) रति, रूझ—पीडा, बहि काल—कल, (२) उसी समय।

नोट : इस दोहे में एक साथ वियोग और संयोग के दो चित्र हैं :

प्रसंग :—प्रगल्भा नायिका अपनी सखी से कहती है :—

अर्थ :—(१) मैं गोधूलि के समय नहीं थी; होती तो गुपाल लाल को अवश्य देखती। अब तो सूर्यास्त हो गया, रात आ गई और साथ ही मेरी पीडा भी बढ गई। अब तो श्रीकृष्ण के दर्शन कल होंगे।

(२) फाग खेलते समय मैं गुपाल लाल की ओर देख रही थी; उसी समय मुझे कामदेव ने घायल किया, सुधबुध जाती रही, रति-पीडा बढी। मेरी दशा *चतुर-शिरोमणि श्रीकृष्ण ने पहचान ली और तत्काल हमारा संयोग हो* गया।

काजल नैंनां में अहो, कल नांही कछु ऐसि।
का प्यों आव न सदन में, बूजत हो कहे कैसि ॥२८५॥

शब्दार्थ :—काजल नैंना में—क्या नेत्रो में जल है (२) आज तो नेत्रो में काजल है! कल नाहीं—चैन नही है (२) कल (काजल) नही था; प्यो—प्रियतम, आव न—नही आते (२) आवन, आते है, सदन—घर।

नोट :—इस दोहे का अर्थ दो नायिकाओ (प्रोपित भर्तृका और मुदिता) के संबंध में हो सकता है।

अर्थ :—(१) सखी नायिका से कहती है—हे सखी, क्या तेरे नेत्रों में जल है ? आश्चर्य की बात है। मुझे तो ऐसा लगता है जैसे तुझे जरा भी कल नही पडती। क्या आजकल तेरे प्रियतम तेरे सदन में नही आते ? मैं पूछती हूँ क्या बात है ?

(२) सखी नायिका से कहती है—ओहो आज तो नेत्रो में काजल लगाया है। *कल तक तो ऐसा (शृंगार) कुछ नहीं था। क्या सदन में प्रियतम आने* लगे ? बता तो सही बात क्या है ?

जमुना परस न तूं करें, जमु नां परसें पास।
अवीनास चरन न भजे, क्यो न होंय अविनास ॥२८६॥

शब्दार्थ :—जमुना—यमुना (२) जमु (यमराज), परस—स्पर्श (२) परसन (प्रसन्न); पास—पाश (२) निकट; *अविनास—अविनाशी* (२) अभी नाश।

नोट :—इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं (१) यमुना का सेवन करने

वाले के सबध में (२) सेवन न करने वाले के सवध में। (१) तू यमुना को प्रसन्न करता है, इसीलिए यमराज पास नही फटकते है। अविनाशी (श्रीकृष्ण) के चरणो को भजता है, फिर तू अमर क्यो न हो ?

(२) तू यमुना का स्पश तक नही करता फिर तुझे यम का पाश क्यो न जकडे ? तू अविनाशी के चरणों को नही भजता, तरा तत्काल नाश क्यो न हो ?

मैंनरिपूसों रति करी मे न तात सो तोरि।
कॅसों समुझों नहीं कछूं, तो सिरपें बड[1] खोरि ॥२८७॥

शब्दार्थ —मैंन रिपु—कामदेव के रिपु शिव, (२) ज्ञान वैराग्यादि जो काम के है, (३) स्त्री की योनि, (नारि + पू) (४) न + रिपु सो रिपु से नही, मैं न तात—काम (प्रद्युम्न) के पिता श्रीकृष्ण (२) काम का पिता, मन (३) क्या मैंने तात से नही तोडी (मैं न तात सो तोरि ?) (४) मैंने तात (प्रिय) से नहीं तोडी।

नोट इस दोहे के चार अथ हो सकते है (१) शैव सम्बन्धी, (२) वैष्णव सबधी (३) स्त्री-प्रेमी (अजामिल) सबधो (४) पिता द्रोही (प्रह्लाद) सबधी।

अर्थ —(१) तूने शिव से प्रेम किया और श्री कृष्ण से सबध विच्छेद किया। सच तो यह है कि तू कुछ समझा ही नहीं। तेरे सिर यह बडी भूल है।

(२) तूने ज्ञान वैराग्यादि से प्रेम किया, विषया से मन को हटाया, केशव को पहचान लिया तो तूने कोई बडी भूल नहीं की।

(३) मैंने स्त्री की योनि से प्रेम किया। ऐसा करके क्या मैंने अपन पिता की अवज्ञा नहीं की ? श्री कृष्ण को कुछ समझा ही नही, इसीलिए ता मेरे सिर पर पाप की गठरी धरी है।

(४) मैंने रिपु से नहीं (कृष्ण के प्रिय से) प्रेम किया है, मैंने पिता से नही, पिता ने मुझ से सबध तोडा है। अगर तू नही समझता तो यह बडी भूल तेरे ही सिर है।

आतमा बाम कतात रस, बत माया वृख सार।
हरि हरि इतनो दीजिये, क भव वल अरु मार ॥२८८॥

शब्दार्थ —आतम—बुद्धि (२) साहस (घमड) बाम (वाम)—शिव,

---

[1] वर।

कल्याणकारी (२) काम, दुर्भाग्य, अतात (कृतान्त)—सिद्धात,(२) यमराज, रस—अमृत, (२) विष, बत—बात-चीत का सुख, (२) विवाद, माया—ममता, (२) अविद्या, वृख (वृप)—पुण्यकर्म, (२) कम सार—धर्म, (२) वज्र (कठोरता), क—सुख (२) काम, भय—कल्याण (२) सासारिक कष्ट, बल—सुबल (२) दुस्साहस, मार—प्रेम (२) कष्ट।

अर्थ —हे हरि, आत्मा, काम, कृतात, रस, माया, वृष, सार, क, भव, बल और मार इतनो को हर लीजिए और बदले में इतने ही दे दीजिए।

विशेष —इन बारह वस्तुओ में से प्रत्येक के दो अर्थ है, अत इस दोहे का अर्थ इस प्रकार होगा—हे हरि, घमड को हर लीजिए और बदले में बुद्धि प्रदान कीजिए, दुर्भाग्य हरिये और सौभाग्य दीजिए, विवाद को हर लीजिए और वार्तालाप का आनन्द प्रदान कीजिए, अविद्या हर लीजिए और ममता दीजिए कर्मों को हर कर पुण्य कर्म कीजिए, वज्र के समान कठोरता को हर लीजिए और सारतत्त्व (धर्म) प्रदान कीजिए। इसी प्रकार काम को हर कर सुख, सासारिक प्रपचो को हर कर कल्याण, दुस्साहस को हर कर सुबल और कष्ट एव क्लेश को हर कर प्रेम प्रदान कीजिए।

कुमार जनक उमा पती, पन्नगधर निघनेस[1]।
शखबरन शिव नामधर बरनन एहि[2] व्रजेस[3] ॥२८६॥

शब्दार्थ —कुमार जनक—कार्तिकेय के पिता शिव, मार जनक—कामदेव के पिता श्रीकृष्ण, उमापती—पार्वती के पति शिव, मा पति—लक्ष्मीपति विष्णु (कृष्ण), पन्नगधर—सर्पों को धारण करने वाले शिव नगधर—पवत (गोवर्धन) को धारण करने वाले श्रीकृष्ण, निघनेश—निघनो (भूतप्रेतों) के स्वामी, शिवजी, घनेश—लक्ष्मी (धन) पति श्रीकृष्ण, शखबरन—शख (श्वेत) वर्णवाले, शिवजी, खबरन—आकाश के (नीले) वर्णवाले घनश्याम धर बरन न—धर-बरन (आरभ का वर्ण) न लेन पर,

नोट —इस दोहे में शिव के पाँच नाम हैं। इन नामो का (धर-बरन) प्रथमाक्षर छोड देन से यही नाम श्रीकृष्ण के नाम बन जाते हैं।

अर्थ —कुमार-जनक, उमापति, पन्नगधर, निघनेश और शखबरन य शिव के (पाँच) नाम हैं। इन नामा का पहला अक्षर छोड देन पर ये नाम

---

१ निघनेश, २ यही, ३ व्रजेश।

व्रजेश के नाम हो जाते हैं। यथा, मार-जनक, मा-पति, नग-धर, धनेश और ख-बरन।

दधिसुतधर भूधर धरन, भूतनाथ पशुपाल।
स्मार्त कहे शंकर भये वैष्णों कहें नंदलाल ॥२६०॥

शब्दार्थ :—दधिसुतधर—समुद्र के सुत, चंद्रमा को धारण करनेवाले, शिव, (२) दही के सुत मक्खन धारण करनेवाले श्री कृष्ण; भूधर-धरन—कैलास को धारण करने वाले शिव, (२) गोवर्धन को धारण करनेवाले, श्रीकृष्ण; भूतनाथ—भूतो के नाथ, शिव, (२) प्राणी—मात्र के नाथ श्रीकृष्ण; पशुपाल—वृषभ का पालन करने वाले, शिव; (२) गायो का पालन करने वाले श्रीकृष्ण।

नोट :—एक ही दोहे में शिव और कृष्ण का वर्णन किया गया है।

अर्थ :—दधिसुतधर, भूधर-धरन, भूतनाथ, पशुपाल कौन है ? स्मार्त कहते हैं ये तो शिव हुए और वैष्णव कहते हैं नंदलाल हुए। दोनो ही सही हैं।

विशेष :—चारो नामो के दो-दो अर्थ होते हैं—देखिये शब्दार्थ।

मनन करें केशव कथा, कृष्ण नाम नहि गाय।
धन साधू को ले भजे, सो हरि दरसन पाय ॥२६१॥

शब्दार्थ :—मनन करे—चिंतन करे, (२) मन न करे—ध्यान न दे; नामन हि गाय—नाम का ही गान करे (२) नाम नहि गाय—नाम न ले, ले भजे—लेकर भगवान का भजन करे (२) लेकर भाग जाए; दरसन पाय—दर्शन प्राप्त करे।

अर्थ :—जो श्रीकृष्ण की कथा का मनन करे, कृष्ण के नाम का ही गान करे, साधु (भक्त) का धन (तो भगवान ही है यह) मान कर जो (कृष्ण को) भजे, वही हरि-दर्शन पा सकता है।

(२) केशव की कथा में जो मन न लगाये, जो कभी कृष्ण का नाम न गाये, साधुजनो का धन लेकर जो भाग खड़ा हो, वह हरि का दर्शन नहीं पा सकता।

रसना रस नाहे[१] कहूँ, जैसो ग्रैसों ग्रेह।
रस बल बधत सनेह ये, वे बल बधत सनेह ॥२६२॥

शब्दार्थ :—रसना—जीभ, वाणी; रस—विष, (२) अमृत; जैसो ग्रैसों—

---

१. रस नहिं।

ऐसा-वैसा, (२) इसके समान, बघत—वृद्धि करता है (२) कमी करता है; सनेह—स्नेह (२) घृत आदि।

नोट :—*इस दोहे के तीन अर्थ हो सकते हैं (१) सामान्य (२) विष संबंधी*

अर्थ :—(१) वाणी का प्रभाव कोई ऐसा-वैसा नहीं है। इसी से स्नेह बढ़ता और इसी से घटता है।

२. वाणी के विष के समान अन्य विष इस संसार में कहीं भी नहीं है। साधारणतया विष का शमन स्नेह (घृत आदि) से हो जाता है, पर यह विष तो ऐसा है कि स्नेह को भी समाप्त कर देता है।

३. वाणी के समान अमृत इस संसार में अन्यत्र नहीं है। साधारणतया अमृत स्नेह को नष्ट करता है (जैसे सुर-असुर, सूर्य-चंद्र और राहु, इन्द्र, गरुड़) पर यह अमृत तो सदैव स्नेह की वृद्धि ही करता है।

जोवन मे हरितें भजों, सो वैभव की आस।
विलग गयों मन माय बत, यह करतब अविनास ॥२६३॥

शब्दार्थ :—जोवन में—यौवन में (२) पानी (वन) में (३) जंगल में; हरि—ईश्वर, (२) स्वर्ण, काम (३) हरने वाला (४) मे हरि—स्त्री; भजो—भजना (२) भागना; वैभव—धन-दौलत (२) कल्याण (भव); विलग गयों—लग गया (२) हट गया (३) विशाल गगन में लय हो गया (वि + ल + ग); करतब—कार्य; अविनाश—विनाशी, तुरंत नाश, वत—खेद (२) हर्ष।

नोट :—इस दोहे के अनेक अर्थ हो सकते हैं। केवल पाँच अर्थ यहाँ दिये जाते हैं। पहला अर्थ कृष्ण-गोपिकाओं से सम्बन्धित है (२) दूसरा अर्थ सौभरि ऋषि के आत्मनिवेदन के रूप में है (३) तीसरा युवावस्था में भगवान की भक्ति करने वाले युवक की प्रशंसा है (४) चौथा वन में जाकर भी विषयों में आसक्त हो जाने वाले शिव के प्रति गुरुवचन है और (५) पाँचवाँ अर्थ आत्मज्ञान होने पर किये गये पश्चात्ताप के रूप में है।

अर्थ :—(१) हरि (कष्टों को हरने वाले) होकर तुम हमें यौवन में अकेला छोड़कर भाग रहे हो। अत. अब हमें उस (रास-क्रीडा के) आनन्द की क्या आशा हो सकती है। हमारा मन तो तुम्हारी माया (प्रेम) में फँस गया है। और ऊपर से तुम हमें दुःख देते हो; क्या यह करतब उचित है? इस कष्ट का, दर्शन देकर अभी नाश कीजिए।

(२) मैंने (वन) पानी में बैठकर हरि का स्मरण किया। (वै) निश्चय ही यह भव (कल्याण) की आशा से था। फिर भी मन माया में लग गया, यह अविनाशी का ही करतब है।

(३) वैकुण्ठ के वैभव की आशा में तूने यौवन में भी हरि को भजा। माया से मन को दूर रखा, यह हर्ष की बात है। पर यह सब ईश्वर की इच्छा से ही हुआ है।

(४) यदि वन में आकर भी तुझे (मेहरि) स्त्री का संग करना था तो उस वैभव को त्याग कर तू किस पदार्थ की आशा में वन में भाग कर आया था, (वि+ल+य) क्या मेरा विज्ञान गगन में लय हो गया, जो तू माया में फिर से पड़ा ? खेद का विषय है। यह करतब छोड़ दे।

(५) यौवन में हरि से भागा या यौवन में हरि (काम और कंचन) को भजता रहा। सासारिक वैभव की आशा में रहा। माया में तेरा मन लगा रहा। इन करतबों को अब तुरन्त छोड़ दे।

विशेष :—सौभरि ऋषि विषयों के डर से पानी में बैठकर तपस्या करते थे, पर वहाँ भी एक बार मत्स्य-संग देखकर वे कामपीडित हो गये और मांधाता राजा की ५० कन्याओं से उन्होंने विवाह किया।

अज्ञानी अतराजितें, होइ बत रू गत शोख।
दरिद्रकों दारिद्र भर, दोख मनन रुचि मोख ॥२६४॥

शब्दार्थ :—अज्ञानी—विष्णुतत्व (अ) का जाननेवाला (अ+ज्ञानी), वैष्णव (२) हरि विमुख, अज्ञानी; अतराजि—अत्यन्त प्रसन्न (२) अप्रसन्नता, एतराज; बत—हर्ष, (२) शोक, गत—लुप्त; शोख—परिताप (शोष), (२) शौक, दोख—दोष; मोख—मोक्ष।

नोट :—इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं; एक ज्ञानी और दूसरा अज्ञानी के अर्थ में।

अर्थ :—(१) वैष्णव के प्रसन्न और हरि-विमुख के अप्रसन्न होने से सबको हर्ष होता है और परिताप दूर हो जाता है। दरिद्री की दरिद्रता दूर होती है और सपत्ति प्राप्त होती है, मन में दोष नहीं रहते और रुचि मोक्ष की ओर अग्रसर होती है।

(२) हरि-विमुख के प्रसन्न अथवा (अ+ज्ञानी) हरि भक्त के अप्रसन्न होने से खेद होता है, आनन्द (शौक) लुप्त हो जाता है। घर में दरिद्रता ही

दरिद्रता बढ़ती रहती है, मन दोष-चिंतन में लग जाता है और मोक्ष की ओर रुचि नहीं रहती।

तेरो घर वित जांन मति, तेरों घर वितजांन।
हरि हरि हरि भजवो चह्यो, क्यों न होय हरमांन ॥२६५॥

शब्दार्थ :—वित—वित्त (२) उधर; जान—जान (२) ज्ञान; हरि—भगवान (२) हर कर (३) स्वर्ग, काम।

नोट :—इस दोहे के दो अर्थ हो सकते हैं (१) संसारासक्त (२) भगवद्भक्त के अर्थ में।

अर्थ :—(१) इस घर और वित्त को तू अपना न समझ, तेरा घर और वित्त तो उधर हैं अर्थात् नरक में हैं। हरि से हटाकर तूने अपने चित्त को स्वर्ग अथवा काम के सेवन में लगाया है फिर तेरा स्वमान नष्ट क्यों न हो।

(२) इस घर और वित्त को तू अपना मत समझ। तेरा घर और वित्त तो ज्ञान है। तूने तो सदैव हरि हरि करके हरि का स्मरण किया है। हरि तेरा आदर क्यों न करें।

संग वर्णन

महिमा बड़ो सुसंगकों, मूरख लहें न कोय।
होत मिलाप दकार को, काग सु कागद होय ॥२६६॥

शब्दार्थ :—महिमा—सं०, महिमान् पु०, महिमा गु० पु०; लहे—समझे; दकार—'द'; काग—कौआ।

अर्थ :—सत्संग की महिमा बड़ी है, पर मूर्ख इसे नहीं प्राप्त करता; दकार के सत्संग से 'काग' भी (काग + द) कागद हो जाता है।

विशेष :—सत्संग की महिमा सिद्ध करने के लिए कवि ने शब्दों के उदाहरण दिये हैं। 'काग' निकृष्ट हैं, पर दानवाचक 'द' के संयोग से 'काग' से 'कागद' बन जाता है, जिस पर उत्तम ग्रंथ लिखे जाते हैं।

योंहि अधम के संगतें, बड़े छोटपन पाय।
परसत नष्ट नकार सद, यव सु यवन ह्वै जाय ॥२६७॥

शब्दार्थ :—छोटपन—निम्न स्थान; सद—सदा, तत्काल; यव—जौ; यवन—मलेच्छ।

अर्थ —इसी भाँति अधम के साथ से बड़े छोटे हो जाते हैं। जैसे कि यव (जौ) पवित्र शब्द है, पर नकार 'न' का स्पर्श करते ही वह नष्ट, अपवित्र होकर यव से (यव+न) यवन बन जाता है।

> सुधो कुटिल के सगते, दैन सिखें पर पीर।
> देखहु मिलो कमान ज्यों, दौरि हतत हैं तीर ॥२६८॥

शब्दार्थ —सुधो—(सूधो) सीधा (२) सज्जन, कुटिल—टेढ़ा (२) दुर्जन, हतत—(हनत) प्राण हर लेता है।

अर्थ —सीधा भी कुटिल की कुसगत के कारण दूसरों को पीड़ा देना सीख लेता है। देखो, बाण कितना सीधा होता है, पर कमान से मिलने पर वह दौड़कर प्राण हर लेता है।

> अधम उचके सगतें, सद्य सदृशता पाय।
> पत्तन बिदि उद असुचि मिलि, गग गग ह्वै जाय ॥२६९॥

शब्दार्थ —सद्य—तत्काल, सदृशता—समानता, पत्तन—नगर, बीथि—मार्ग, उद—पानी असुचि—अपवित्र।

अर्थ —अधम भी ऊँचे के सग से तत्काल वैसा ही (ऊँचा) हो जाता है, जैसे नगर की गलियों में बहने वाला अपवित्र पानी गगा में मिलकर गगा-जल हो जाता है।

विशेष —अन्य कवियों ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है —

> एक नदिया एक नार कहावत मैलो हि नीर भरो,
> दोऊ मिलकर जब एक बरन भए सुरसरि नाम परो। (सूरदास)
> बृहत्सहाया कार्यान्त क्षोदीयानपि गच्छति।
> सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ (शिशुपाल)

> कलुख कोरि म्हा भस्म हुई, परसति सुरसरि भूत।
> अस्त हस्त गोता लियें, अगनित बने न पूत ॥३००॥

शब्दार्थ —कलुख—कलुष, पाप कोरि—करोड भूत—प्राणी, अस्त-हस्त—हाथ में हड्डी लेकर।

अर्थ —प्राणियों के करोड़ों महा पाप गगा का स्पर्श करते ही भस्म हो जाते हैं, पर अपवित्र हड्डी को हाथ में लेकर अगनित गोते लगाने पर भी

पवित्रता प्राप्त नहीं होती वैसे ही अपवित्र आचरण को छोड़े बिना कोई पवित्र नहीं हो सकता।

विशेष —'आचार प्रथमोधर्म' सदाचरण मानव का सबसे पहला धर्म है।

> दुरिजन सज्जन अष्टनों, प्रीति रीति पहिचान।
> दुगने तिगने चतुस्सम, इत उत हानहि हान ॥३०१॥

अर्थ —दुर्जन और सज्जन की प्रीति की रीति ८ और ९ के अंक से पहचानिये। दुगुना, तिगुना और चौगुना करने पर आठ का अंक क्रमश घटता है और नौ का अंक समान बना रहता है। इसी तरह अधिक सपर्क में आने पर दुर्जनों का स्नेह कम होता है और सज्जनों का स्नेह सदा समान बना रहता है।

विशेष —'दुगने, तिगुने, चतुस्सम, इत उत हानि ही हानि' इसके स्पष्टीकरण के लिए नीचे दी गई तालिका देखिये —

	९ × १ = ९	= ९	८ × १ = ८	= ८
दुगुने	९ × २ = १८ = (१ + ८)	= ९	८ × २ = १६ (१ + ६)	= ७
तिगुने	९ × ३ = २७ = (२ + ७)	= ९	८ × ३ = २४ (२ + ४)	= ६
चौगुने	९ × ४ = ३६ = (३ + ६)	= ९	८ × ४ = ३२ (३ + २)	= ५

> प्रातहि तें दुहुप्हेर लों, दुष्ट-प्रीति सो छांहि।
> सज्जन की फिरि सांझि लग, बढ़त घटत उतजाहि ॥३०२॥

शब्दार्थ —प्रातहि तें—प्रात काल से, दुहुप्हेर—दोपहर, सो—समान, लग—तक, पर्यंत।

अर्थ —दुर्जन की प्रीति प्रात से लेकर दोपहर तक की छाया के समान क्रमश घटने वाली होती है। सज्जन की प्रीति दोपहर से सध्या तक की छाया के समान क्रमश बढ़नेवाली होती है। तुलनीय—

> आरम्भ गुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
> दिनस्य पूर्वार्द्ध परार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलु सज्जनानाम् ॥

> हिरदे झिझियाकरस सों, बयों ठरि रस सदबैन।
> तदिप ग्रंद सर मग्न हुई, पुरन रहे निकसें न ॥३०३॥

शब्दार्थ —झिझियाकरस—छिद्रों वाला कलश, घड़ा जिसमें दीपक रखा

जाता है, हरि—ठहरना, सद बैन—अच्छे शब्द, सदुपदेश व दसर—समूह रूपी सरोवर।

अर्थ —छिद्रो वालें घडे के जैसे हृदय में सदुपदेशरूपी जल कैसे ठहर सकता है ? केवल एक उपाय हो सकता है कि वह घडा भगवद्‌भक्तो के समूह-रूपी सरोवर में पूरी तरह डूबा रहे, कभी बाहर ही न निकले।

सज्जन दुरिजन एकसे, कछुक बीच बिय बीच।
इक बिछुरत असु लेत सद, एक मिलत हुई मीच ॥३०४॥

शब्दार्थ —बीच—अतर बिय बीच—दोनो के बीच में, असु—प्राण, सद—सद्य, तत्काल ।

अर्थ —*सज्जन और दुर्जन दोना एक से है, दोना के बीच में थोडा-सा* अतर है। एक (सज्जन) बिछुडने पर फौरन प्राण हर लेता है, एक (दुर्जन) मिलने पर मृत्यु क समान कष्टदायी होता है ।

विशेष —सज्जन का विछोह और दुर्जन का मिलन दोनो बडे दु खदायी होते हैं। तुलसीदास जी की चौपाई से तुलना कीजिये—

'बदउँ सत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना ॥
बिछुरत एक प्राण हरि लेही। मिलत एक दुख दारुन देही ॥

दोउ देव परि उरध अध, गति बीच बड बीच।
चढ़ि अनत रज मरुत मिलि, होइ मिलत क कीच ॥३०५॥

शब्दार्थ —उरध—उच्च अध—नीच बीच—मध्य (२) अतर, अनत—आकाश रज—मिट्टी, धूल मरुत—पवन क—जल।

अर्थ —पवन और जल दोना देवता है, किन्तु दोनों की गति के बीच बडा अतर है। एक ऊर्ध्वगामी है, दूसरा अधोगामी। पवन के साथ मिलकर धूल आकाश में चढ जाती है पर पानी के साथ मिलकर वही धूल कीचड़ हो जाती है।

तुलसीदास जी की चौपाई से तुलना कीजिए—

गगन चढहिं रज पवन प्रसगा। कीचहिं मिलइ नीच जल सगा ॥

विशेष —मित्र को परख जाति के आधार पर न करके आचरण और गुणो के आधार पर करनी चाहिए।

गंग पाप शशि ताप अरु, दरिद कलपद्रुम नास।
इत्यादिक और हु हने, मिलत दास अघिनास ॥३०६॥

शब्दार्थ :—दास अविनास—श्रीकृष्ण के भक्त।

अर्थ :—गंगा पाप का, शशि ताप का और कल्पवृक्ष दरिद्रता का नाश करता है, पर भगवद् भक्त तो मिलने मात्र से ही पाप, ताप, दारिद्र्य इत्यादि अन्य समस्त आपदाओं का नाश कर देते हैं।

विशेष :—

गंगा पापं, शशी तापं, दैन्यं कल्पतरुस्तथा।
पापं, तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महाशयाः ॥

भक्ति प्रकरण

सबतें भक्ति प्रताप बड, सब करि लेहु बिचार[1]।
बिमुख दास दसकंध तउ, बस बरत्यों संसार ॥३०७॥

शब्दार्थ :—दास दसकंध—भक्त रावण, ऐसा प्रसिद्ध है कि रावण वैकुण्ठ में जय नाम से प्रभु की सेवा करता था। दोष हो जाने के कारण उसे शाप वश पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ा था; बस बरत्यो—अधीन रहा।

अर्थ :—भक्ति का प्रताप सब से बड़ा है। सब विचार कर देख लो। रावण राम का विरोधी था, पर चूँकि वह (पूर्व जन्म में) भगवान का भक्त था इसलिए सारा संसार उसके अधीन रहा।

धाता के सुत सतरषी, ध्रुव छत्री के बाल।
देवें याहि परिक्रमा, भक्ति बड गोपाल ॥३०८॥

शब्दार्थ :—धाता के सुत—ब्रह्मा के पुत्र; सतरषी—सप्त ऋषि, ध्रुव—ध्रुव।

अर्थ :—सप्त ऋषि ब्रह्मा के पुत्र हैं और ध्रुव क्षत्री के पुत्र हैं, पर गोपाल की भक्ति का प्रताप देखिए कि सप्त ऋषि सदा ध्रुव की परिक्रमा करते हैं।

विशेष :—जाति और कुल के आधार पर कोई बड़ा नहीं हो सकता। भक्ति ही बड़ी चीज है।

मुनि मानी भूरि तपस्वी, बदे जग सब पाय।
सो सबरी हरि भक्त के, अंघ्रीउद अोवाय[2] ॥३०९॥

---

1. सब क्लेस हु बिचार।
2. मूल प्रति में ३१० नं० का दोहा पहले है ३०९ नं० उसके बाद में लिखा है।

शब्दार्थ :—भुरि—बड़े; अंघीउद—चरणामृत; अोघाय—स्नान करते हैं ।

अर्थ :—समस्त संसार जिनके चरणों में सिर झुकाता है, ऐसे स्वाभिमानी मुनिजन और बड़े तपस्वी, भगवद्‌भक्त शबरी के चरणोदक में स्नान करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं ।

रुद्र अंस अजवंसमनि, दुर्बासा तपखांनि ।
सो नृप अंग्रिख भक्त पद, नये[1] क्रोधि बड़ मांनि ॥३१०॥

शब्दार्थ :—रुद्रअंस—महारुद्र का अशावतार, अजवंसमनि—ब्राह्मण वंश में मणिरूप, नये—झुके, क्रोधि—क्रोधी, बड़मानि—बड़े स्वाभिमानी, अंबरीष—प्रसिद्ध विष्णुभक्त, दुर्बासा—अत्रि-अनसूयाके पुत्र, क्रोधी स्वभाव के लिए विख्यात ।

अर्थ :—यद्यपि दुर्वासा रुद्र के अंशावतार, ब्राह्मण-वंश में मणिरूप तप की खान तथा अत्यन्त क्रोधी और स्वाभिमानी थे फिर भी उन्हें भगवद्भक्त राजा अंबरीष के चरणों में झुकना पड़ा ।

विशेष :—भक्त तपस्वियों से बढ़कर हैं ।

ग्यांनि भक्त सों क्यों लरत, बिना किये अनुमांन ।
कृष्ण आप फल भक्ति दे, याहि मुक्ति[2] कौं दान ॥३११॥

शब्दार्थ :—आप फल भक्ति दे—स्वयं भक्त को भक्ति का फल देते हैं अर्थात् भक्त के अधीन हो जाते हैं ।

अर्थ :—हे ज्ञानियो, अनुमान किये बिना भक्तों से क्यों लड़ते हो ? कृष्ण तुम्हें मुक्ति का दान देते हैं, पर अपने भक्तों के तो वे अधीन होकर रहते हैं ।

विशेष :—अर्थात् ज्ञानी से भक्त निश्चय ही श्रेष्ठ है ।

अति दुर्लभ ज्ञानी अमृत, भक्त सहज हरि पाय ।
नौनित घ्रतलौं भक्ति प्रभु, सांख्य घुनाक्षर न्याय ॥३१२॥

शब्दार्थ :—अमृत—मोक्ष रूपी अमृत; नौनित घ्रतलौ—नवनीत से घृत बनता है उतनी ही आसानी से, सांख्य—छह दर्शनों में से एक जिसमें ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं माना गया है और सम्यक् ज्ञान को ही मोक्ष का साधन बताया गया है; घुनाक्षर—घुन के खाने से लकड़ी या पुस्तक आदि में बने

१ नए, २ मुक्त ।

अक्षर, घुनाक्षर न्याय—किसी बात का विना प्रयत्न के संयोगवशात हो जाना।

अर्थ —ज्ञानी के लिए अमृत (मोक्ष) अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु भक्त तो भक्ति के प्रताप से (मोक्ष के दाता) हरि को भी सहज ही प्राप्त कर लेता है। भगवान को प्राप्त करने में भक्त को केवल उतना सा कष्ट होता है जितना नवनीत से घृत बनाने में होता है। पर आत्मज्ञानी तो मुक्ति के लिए सांख्य मार्ग का अनुसरण करते हैं जो घुनाक्षर न्यायानुसार अत्यंत कठिन है।

विशेष —घुनों के द्वारा संयोगवश कभी 'भगवान' का नाम बन सकता और तभी ऐसे ज्ञानियो का मोक्ष संभव हो सकता है।

पीर प्रधान न भक्त दें, स्वामिनीं भक्ती होय।
योग ग्यांन वैराग्य नर, दमे तदाश्रित तोय ॥३१३॥

शब्दार्थ —पीर—पीडा प्रधान—माया, नर—पुल्लिंग दमे—आक्रमण करना, आसक्त करके पथभ्रष्ट करना तोय—नारी, माया।

अर्थ —भक्तिरूपी स्वामिनी यदि हृदय में विराजमान हो तो माया भक्त को पीडा नही दे सकती (क्योकि नारी को नारी के प्रति सौतिया डाह होती है), पर योग, ज्ञान, वैराग्य आदि नर रूप हैं, इनको ओर माया रूपी नारी सहज ही आकर्षित होती है और उन्हें हृदय में धारण करनेवाले को माया पीडा देती है।

विशेष —साराश यह कि योग, ज्ञान और वैराग्य से भक्ति निरापद है।

हरि तुरि गह्यो न छाडही, यहैं अनादी चाल।
भक्त द्रगनकों पिरत हीं, दोउ तजे ततकाल ॥३१४॥

शब्दार्थ —हरि—भगवान तुरि—घोडा गह्यो न छांडही—पकडे हुए को नहीं छोडते, पिरत—पीडित द्रगनको पिरत ही—आँख में अंगुली डालते ही।

अर्थ —हरि और तुरि पकडने के बाद छोडते नही, यही अनादि चाल है। किन्तु आँखो में अंगुली डालते ही दोनो तत्काल छोड देते हैं।

विशेष —भक्त भगवान के नेत्र हैं। उनको पीडा होते ही भगवान मर्यादा त्यागकर भक्तो की सहायता करने दौड पडते है।

भक्त बाल बड ग्यानि सुत, जुग्म जानि जदुराइ।
पै न प्यार बाछल्य ह्याँ, सिसुपैं अति अधिकाइ[1] ॥३१५॥

---

१ अधिकाई।

शब्दार्थ :—बाल—बालक; बड सुत—बड़ा बेटा; जुग्म—दोनो, वाछल्य—वात्सल्य।

अर्थ :—भगवान श्रीकृष्ण के दो बेटे हैं। ज्ञानी बड़ा बेटा है और भक्त छोटा। बड़े बेटे के प्रति उनके हृदय में प्यार वात्सल्य नहीं है, (क्योंकि वह समझदार है) छोटे बेटे के प्रति अत्यधिक वात्सल्य है, क्योंकि वह अभी शिशु और नादान है।

प्रतिकुल साचे भक्त कों, सुइ अनुकुल निरधार।
मनु वह तारी खुलन की, जन-जस-मनि भंडार ॥३१६॥

शब्दार्थ :—प्रतिकुल—प्रतिकूल, विरोधी; निरधार—निश्चय, तारी—ताली, चाबी।

अर्थ :—सच्चे भक्तो के प्रतिकूल (विरोधी) भी निश्चय ही उनके अनुकूल हितकारी है। विरोधी तो भक्तों के यशरूपी मणि-भंडार को खोलने की चाबी है।

विशेष :—दुर्जन सब सज्जनो को कष्ट देते हैं तभी भगवान को अपना प्रताप दिखाना पड़ता है और तभी भक्त का यश फैलता है। इसलिए भगवद्-भक्तो के विरोधियों को प्रतिकूल न समझकर अनुकूल ही समझना चाहिए।

दोष दिखें नहीं दंत को, नाथ न जूठी कोइ।
बालि हत्यों जिहि पाप करि, बिभिखन[1] सुग्रिव[2] सोइ ॥३१७॥

शब्दार्थ :—दंत सं० दयित—प्रिय, प्रेमी।

अर्थ :—अपने प्रिय भक्त का दोष किसी को नहीं दीखता। हे नाथ, यह बात झूठी नहीं है। जिस पाप कर्म के लिए आपने बाली का वध किया, विभीषण और सुग्रीव ने भी वही पाप कर्म किया (पर उनके दोष आपको दिखाई नहीं दिये, क्योंकि वे आपके प्रिय थे।)

विशेष :—बाली का अपने भाई की पत्नी से संबंध था।

द्विज द्विज से हरि भक्ति बिन, खग खग से जुत[3] भक्त।
सकल कृतांत कृतांत सम, कं कं प्रभु नासक्त[4] ॥३१८॥

शब्दार्थ :—द्विज—ब्राह्मण, (२) पक्षी; खग—पक्षी, (२) आकाश में

१. बिभिखन, २. सुग्रीव, ३. ज्युत, ४ नासक्त।

गमन करनेवाले सूर्य, चन्द्र आदि अतात—सिद्धान्त, देवता (२) यमराज, क—(सं० कष्ट) सुख (२) अग्नि, नासक्त—अनासक्त।

अर्थ —प्रभु की भक्ति के अभाव में ब्राह्मण भी निरे पचिया के समान है और भक्तियुक्त होने पर पची भी सूर्य और चन्द्र के समान वदनीय है। प्रभु के प्रति आसक्ति से रहित होने पर जितने देवता हैं, सब यमराज के समान और जितने सुख हैं, सब अग्नि के समान है।

साधु परसपद परससों, उलट परस खल मुख।
परस परस फल नरम वित, व्यत्यय[1] नरम सदुख ॥३१९॥

शब्दार्थ —परसपद—पद स्पर्श पद परस—ईश्वर का स्पर्श, उलट परस—'परस' का उल्टा 'सरप'; नरम—सुख, वित—उधर, व्यत्यय नरम—'नरम' का उल्टा 'मरन'।

अर्थ —साधु का चरण-स्पर्श ईश्वर के चरण-स्पश के सामान हैं और दुष्ट का मुख-स्पर्श सर्प के मुख-स्पश के सामान होता है। साधु के चरण-स्पर्श का फल तो 'नरम' अर्थात् ईश्वरीय सुख के समान है और उधर दुष्ट के मुख-स्पर्श का परिणाम 'मरन' के समान दुखदायी है।

विशेष —'परस' और 'नरम' शब्द का उल्टा 'सरप' और 'मरन' करके कवि ने अर्थ में जो चमत्कार उत्पन्न किया है, वह ध्यान देने योग्य है।

अवयव सब जन सत सम, परि प्रभाव न समान।
जस ध्रुव उड उड सकलसो, पें बल अचल महान ॥३२०॥

शब्दार्थ —उड—तारा, नक्षत्र।

अर्थ —सतो के अवयव अन्य आदमियों के समान होते हैं पर उनमें प्रभाव समान नहीं होता (अधिक होता है) जैसे कि ध्रुवतारा अन्य तारों के समान दिखाई देता है, पर उसमें अपने स्थान पर ध्रुव बने रहने का महान बल है।

ग्यानि भ्रत्य अस ईसको, विद्वद[2] करिहु[3] विचार।
मगन लग्न अध ऊर्ध गति, जैसे बरन रकार ॥३२१॥

शब्दार्थ —भ्रत्य—भृत्य, दास, भक्त मगन—एकाकार लग्न—सबधित, अध—नीचा, ऊर्ध—ऊँचा, बरन रकार—'र' वर्ण।

१ विपर्यय, २ विदग्ध, ३ करहु।

अर्थ —ज्ञानी और दास (भक्त) के प्रति भगवान का भाव एसा है। बुद्धिमान विचार करके देख लें। ज्ञानी भगवान में मिलकर (मग्न) एकाकार हो जाते हैं और भक्त दूर रहकर भी उनसे निकट संबंध (लग्न) स्थापित किय रहते हैं। फिर भी भगवान की दृष्टि म ज्ञानी निम्न और भक्त उच्च स्थान पाते हैं जैसे शब्द में र का वर्ण।

विशेष —शब्द म र का वर्ण जब मिलकर (मग्न होकर) उच्चारित होता है तब वह नीचे लिखा जाता है (यथा क्रम) पर जब यह र बिना मिला रहता है तो रफ के रूप में शब्द के मस्तक पर शोभा पाता है (यथा 'कर्म) तात्पर्य यह कि ज्ञान से भक्ति और ज्ञानी स भक्त श्रेष्ठ है।

फनि निवास दिवि, सिंधु, विधु सुधा नाहिं बिधु मूख[1]।
गरल, पात, अरु क्षार, क्षय, पति मृत, कंठ पियूख[2] ॥३२२॥

शब्दार्थ —फनि निवास—नाग लोक, पाताल दिवि—दिव, स्वर्ग, विधु—चंद्र मूख—मुख, (स्त्री का अधर) कंठ—(हरिजन की) वाणी में।

प्रसंग —एक बार ज्ञानियों की सभा म यह चर्चा छिड़ी कि अमृत कहाँ है? तर्क वितर्क के बाद जो निर्णय हुआ उसी का इस दोहे में वर्णन है।

अर्थ —पाताल, स्वर्ग सिंधु चंद्रमा और सुन्दरी के अधर में अमृत नहीं है (यदि इन स्थानों पर अमृत होता तो) पाताल म बसने वालों (सर्पों) म जहर नहीं होता स्वर्ग में गये नहुष की तरह किसी का पतन नहीं होता सिंधु का जल खारा नहीं होता चन्द्रमा का कभी क्षय नहीं होता और सुंदर स्त्री के पति की मृत्यु नहीं होती। अतः इन स्थानों में अमृत नहीं है। अमृत निश्चय ही (हरिजनों की) वाणी में है।

बढ़ें संत भगवततें, पै बल अधिकौ दास।
धम्यो लोह जाइ न गह्यो, ज्यों कछु सरल हुतास ॥३२३॥

शब्दार्थ —दास—भक्त धम्यो—दग्ध, धधकता हुआ हुतास—अग्नि।

अर्थ —संत यद्यपि भगवान के बल से ही बढ़ते है, तथापि उनमें बल भगवान से भी अधिक होता है। जसे कि (लोहा अग्नि से ही गरम होता है पर) तपे लोह को कोई छू नहीं सकता अग्नि को छूना सरल है।

---

१ फनिनिवास दिवि सिन्धु में सुधा नाहि विधु मुख २ पियूष।

हरिजनके सुत दुविधि जग, वंदक निंदासक्त।
ले धन सुकृत रु पाप रुन, सदा अमल है भक्त ॥३२४॥

शब्दार्थ :—दुविधि—दो प्रकार के; सुकृत—पुण्य, रुन—ऋण; वंदक—वंदना करने वाले; अमल—निर्मल ।

अर्थ :—संसार में हरिजन के पुत्र दो प्रकार के हैं, एक वन्दना करने वाले और दूसरे निंदा में आसक्त रहने वाले । वंदक पिता के पुण्यरूपी धन को प्राप्त करते हैं और निंदक के हिस्से में पिता का पाप-रूपी ऋण आता है । हरिजन तो सदा निर्मल हैं ।

विशेष :—हरिजनों की वंदना करने वाले पुण्य के और निंदा करने वाले पाप के भागी बनते हैं ।

ब्रह्मानन्दतें भक्ति बड़, कुरु कोबिद अनुमांन।
निजानंदि शुक आतमा, ग्रेंच्यों हरिगुन गांन ॥३२५॥

शब्दार्थ :—कोविद—विद्वान, कुरु कोविद अनुमान—विद्वान स्वयं समझ लें; ग्रेंच्यो—खिंच गया, आकर्षित हुआ ।

अर्थ :—हे पंडितो, विचार कर देख लो, ब्रह्मानन्द से भक्ति बड़ी है । उदाहरणार्थ आत्मानन्द में लीन शुकदेव की आत्मा भी हरिगुण-गान की ओर आकर्षित हो गई ।

विशेष :—श्री वेदव्यास जी की आज्ञा से जैमुनि ने श्री शुकदेव जी को भागवत के दशम स्कंध के दो श्लोक सुनाये । सुन कर आत्मानन्द मे मग्न श्री शुकदेव जी प्रेमानन्द में लीन हो गये ।

मार, मन्यु लय लोभ किय, हरि न भजे धरि टेक ।
तो मन भयो अधीक तूं, क्लिव कुज अजगर अेक ॥३२६॥

शब्दार्थ :—मार—कामदेव; मन्यु—क्रोध, लय किय—नाश किया, कुज—वृक्ष; क्लिव—हिजड़ा, नपुंसक ।

अर्थ :—तूने काम, क्रोध और लोभ का नाश किया, पर निष्ठापूर्वक तूने हरि को नही भजा । मेरे विचार से तो तूने क्लीव, वृक्ष और अजगरों की संख्या में एक की वृद्धि और कर दी ।

विशेष :—इस दोहे में कवि ने भक्ति की सार्थकता और देह-दमन की व्यर्थता बताई है । उसका आशय यह है कि केवल काम-रहित होने से ही यदि

कोई उच्च पद प्राप्त कर सकता तो हिंजडा तो बिलकुल काम-रहित होता है। इसी तरह अक्रोध से ही यदि काम बनता हो तो वृक्ष बिलकुल क्रोध नहीं करते। और लोभ-रहित होने में ही यदि सार्थकता हो तो अजगर बिलकुल लोभ-रहित कहलाता है। तात्पर्य यह कि भक्ति के बिना काम, क्रोध, लोभ आदि का दमन व्यर्थ है। जो लोग ऐसा करते हैं वे केवल हिंजडो, वृक्षो और अजगरो की सख्या में वृद्धि करते हैं।

कृष्ण भजन बिन कर्म सब, तनक भ्रष्ट फलहांन।
अफल सफल श्रम सुघरता, जस मृदगि गतमांन ॥३२७॥

शब्दार्थ —अफल—फल रहित, असफल, सुघरता—निपुणता, चातुर्य, गतमान—गतिमान, लय।

अर्थ —श्री कृष्ण के भजन के बिना तनिक भ्रष्ट होते ही सब कर्मों के फल का नाश हो जाता है। जैसे मृदगवादन में गतिमान (लय) की किंचित् भूल से सारा श्रम और चातुर्य नष्ट हो जाता है, और सफलता असफलता में बदल जाती है।

नोनिततेंहू म्हा मृदू, सदा सतको उर।
वे पिघरत पावक परस, ये सुनि पर-दुख दूर ॥३२८॥

शब्दार्थ —नोनित—नवनीत, मक्खन, म्हा—महा, पावक परस—अग्नि-स्पर्श।

अर्थ —सत-हृदय नवनीत से भी अधिक मृदु होता है। नवनीत तो अग्नि के स्पर्श से पिघलता है, पर सतजन तो दूसरे का दु ख सुनते ही दूर से ही द्रवित हो जाते हैं। तुलनीय · 'सत हृदय नवनीत समाना'—तुलसी।

हरि हरिजन बिन कौन अस, पूछें परचख तोय।
आगि लगी प्रति सदन पुर, को काको रुज खोय ॥३२९॥

शब्दार्थ —चख—आँख, तोय—जल, पानी, सदन—घर, पुर—नगर, रुज—कष्ट।

अर्थ —हरि और हरिजन के अतिरिक्त अन्य ऐसा कौन है जो दूसरे की आँख के आँसू पोछने में समर्थ हो। जब नगर के प्रत्येक घर में आग लगी हुई हो तो कौन किसका कष्ट निवारण करे?

विशेष :—हरि और हरिजन के अतिरिक्त सब लोग कष्टो से पीड़ित हैं। वे दूसरे को सहायता नही कर सकते। अत हरि और हरिजन से ही सहायता की आशा की जा सकती है।

वाद प्रकरण

दोहा :—निराकार सब कों कहें, पें प्रभुहें साकार।
जो अवयव नहिं ईत[1], लह्यों कहाँ ससार ॥३३०॥

शब्दार्थ :—लह्यो—प्राप्त किया।

अर्थ :—प्रभु को सब निराकार कहते हैं, पर प्रभु तो साकार है। यदि प्रभु के अवयव नहीं है तो फिर ससार (के मनुष्यों) ने अवयव कहाँ से प्राप्त किये ?

विशेष :—कवि का आशय है कि जैसा पिता होगा वैसा ही तो पुत्र होगा। मनुष्य हाथ-पग वाला है तो भगवान भी वैसा ही है।

ब्रह्मसु गोलाकार यों, बदे निवासी दूर।
बरतुल से सब ज्यों कहें, अरुन लखें छबि सूर ॥३३१॥

शब्दार्थ —गोलाकार—गोला, बदे—कहते है, बरतुल—गोला, अरुन—सूर्य का सारथी।

अर्थ —ब्रह्म को बहुत से लोग तेज का गोला कहते हैं, पर वे दूर के निवासी हैं अर्थात् उन्होने उसे निकट से नही देखा है। जैसे कि पृथ्वी के सब लोग सूर्य को गोलाकार बताते हैं, पर सूर्य का सौंदर्य तो उसका सारथी अरुण ही देख पाता है।

विशेष —जो लोग ब्रह्म को तेजपुज बताते हैं उनका अनुमान गलत है क्योंकि उन्होंने उसे निकट से नही देखा है।

पांनि पाय न ग्रहे गती, यह बिधि सब कहि ब्रह्म।
प्राकत नहिं अवयव अखिल, आनद मय श्रुति ब्रह्म ॥३३२॥

शब्दार्थ —पानि—पाणि, हाथ, पाय—पाँव, चरण, ग्रहे—(हाथ से) पकड़ना, गती—चाल (चलना), ब्रह्म—ब्रह्म (२) वेद (३) रहस्य, प्राकत

---

[1] इस।

नहि—सर्वसाधारण के समान नहीं है, ब्रह्म—मर्म (?)

अर्थ —हाथ न होते हुए भी वह ग्रहण करता अर्थात् पकड़ता है। पग न होते हुए भी वह गतिमान होता है अर्थात् चलता,-फिरता है। (सब वेदों) ने ब्रह्म का वर्णन इसी प्रकार किया है। (पाणिपादो यवनोगृहित्वा) पर श्रुतियों के कथन का मर्म तो केवल इतना ही है कि ब्रह्म के भी अवयव तो सभी हैं, पर वे प्राकृत न होकर आनन्दमय हैं। (आनंदमात्रकर पादमुखोदरादि)।

सो० —जो न रूप जगधाम, क्यों संभव करतव्यता[1]।
एकोहं बहुसाम, श्रुतिनिषेध करत न बनें ॥३३३॥

शब्दार्थ —रूप—आकार, जगधाम—परमात्मा, करतव्यता—कार्य, एकोऽहं बहुस्याम्—मैं एक हूँ और अनेक होऊँ।

अर्थ —यदि जगत के धाम पुरुषोत्तम का कोई रूपाकार नहीं तो फिर कर्तव्यता कैसे संभव है और यदि ऐसा कहें कि कर्तव्यता नहीं है तो श्रुति वचन 'एकोऽहं बहुस्याम्' का निषेध होता है जो होना नहीं चाहिये।

विशेष —तात्पर्य यह कि जगधाम सगुण साकार है, निराकार नहीं।

कछु कहे को कछु कहैं, भिन्न सकल के देस।
सो सब संभव जाहि को, वेहि पुरन परमेस ॥३३४॥

अर्थ —कोई कुछ कहता है और कोई कुछ, सब के सोचने-समझने का मार्ग अलग है। पर पूर्ण परमेश्वर तो ऐसे हैं कि जिनके सम्बन्ध में ये सब बातें सम्भव हो जाती हैं।

भयो ब्रह्मतें जीव फिरि, ब्रह्म होय कहि मुग्ध।
ज्यों दधि पयसों होत सो, बहुरि[2] बनें नहि दुग्ध ॥३३५॥

शब्दार्थ —मुग्ध—अज्ञानी, दधि—दही, पय—दूध, बहुरि—फिर से।

अर्थ —जब ब्रह्म से जीव बना है तो फिर जीव ब्रह्म रूप हो ही नहीं सकता। बहुत से लोग कहते हैं कि हो सकता है, पर वे अज्ञानी हैं। जैसे कि दूध से दही बनता है, पर दही से फिर से दूध नहीं बन सकता।

१ कर्तव्यता।
२. बहोर।

नाम महात्म्य

चित्तभाव बिनु चरसिया, सहज पुकारें राम।
याको पदपय पिवत बहु, लखि, प्रताप हरिनाम ॥३३६॥

शब्दार्थ :—चित्त भाव बिन—सोचे-समझे बिना; चरसिया—कुएँ पर चरस से पानी खींचने वाला किसान।

अर्थ :—चरसिया बिना सोचे-समझे (पानी खींचते समय) राम का नाम लेता है (और चरस का पानी खींच कर अनायास ही अपने पैरों पर डालता है) हरि नाम का प्रताप देखिये कि चरसिये का चरणोदक बहुत से आदमी पीते हैं।

जीत्यो जो हरि अंत कहि, दोख[1] दही लहि मोख।
जिमि गंजीफा[2] आखरी, हतत बूज सब सोख ॥३३७॥

शब्दार्थ:—दोख दही—दोषों का नाश करके, लहि मोख—मोक्ष की प्राप्ति हुई; गंजीफ़ा—ताश-जैसा एक खेल जिसमें पत्ते गोल होते हैं और उनकी संख्या ९६ होती है।

अर्थ :—जिसने अन्त में 'हरि' कहा वह जीता, उसके दोष दूर हो गये और मोक्ष प्राप्त हुआ। जैसे कि गंजीफ़े में आखरी दाँव मारने (जीतने) पर हार जीत में बदल जाती है।

बूरें बोरें ग्राव सों, भय नाव कहाँ[3] भाव।
लखिले केवल नाम श्री, राम प्रगट सुप्रभाव ॥३३८॥

शब्दार्थ :—बूरें—डूबे; बोरें—डुबोये; ग्राव—(सं० ग्रावन्) पत्थर।

अर्थ :—पत्थर जो कि स्वयं पानी में डूबते हैं और दूसरों को भी अपने साथ ले डूबते हैं, नाव बन गये। पत्थरों में भाव (प्रेम) भी कहाँ था? किन्तु देखिये केवल श्रीराम के नाम के प्रभाव से वे स्वयं तैरे और दूसरों को तैराया। राम नाम का सुप्रभाव प्रकट है। बिना भाव के नाम लेने पर भी वह उद्धार करता है।

विशेष :—समुद्र पर पुल बनाते समय राम की सेना के बन्दर राम का नाम लेकर पत्थर पानी में रखते थे। राम नाम के प्रभाव से पत्थर तैर गये।

---

१. दोष, २. गंजिफ़ा, ३. कहा।

चित न रह्यो थिर तहू कहा, रटिबों कीजें राम ।
बिमन जपें हू जाय छुद्र[1], त्यों वेहू सिध काम ।।३३६।।

शब्दार्थ —बिमन—बिना मन के (भोजन करने पर), छुध—क्षुधा, त्यो . काम—उसी तरह कार्य सिद्धि होती हैं ।

अर्थ —चित्त स्थिर न रहे तो भी क्या, राम नाम की रटन तो लगाते ही रहना चाहिए । जिस तरह बिना मन किये गये भोजन से भी क्षुधा का निवारण होता है उसी तरह अस्थिर चित्त से लिये गये रामनाम से भी कार्यों की सिद्धि होती है ।

कहत लहत ही पिसुन मल, बलहु न होत प्रकास ।
अस लख लख भवकेहु हरि, गहत नाउँ पद नास ।।३४०।।

शब्दार्थ —पिसुन—(सं०पिशुन) चुगलखोर, ही—सं० लज्जा, सकोच, मल—पाप, भव—जन्म, पद—चौथा भाग, चतुर्थांश ।

अर्थ —जिन पापो का वर्णन करने में, पापचर्चा में निरतर निमग्न रहनेवाले (पिशुन) को भी लज्जा आने लगे और जो शक्ति लगाने पर भी पिशुन द्वारा व्यक्त न किये जा सकें, ऐसे लाखो जन्मो के घोर पाप हरि के नाम के चतुर्थांश का उच्चारण करने मात्र से नष्ट हो जाते हैं ।

टरें न श्रीहरि नाउसों, एसो अघ नहिं कोय ।
ऐसी वस्तु न होय जो, नभनिमग्न नहिं होय[2] ।।३४१।।

शब्दार्थ —अघ—पाप ।

अर्थ —ऐसा एक भी पाप नहीं है जो श्री हरिनाम से नष्ट न हो सके और ससार में ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जो आसमान में न समा सके ।

बल जेतो हरिनाम इक, दुहन पाप कों आहि ।
कोटि कलप करि करन कों, तितों ओज जिय माहि ।।३४२।।

शब्दार्थ —दहन पाप को—पापो को जलाने के लिए आहि—है करन को—करने के लिए ओज—बल ।

अर्थ —एक हरिनाम में पापो को जलाने के लिए जितना बल है, उतने पाप करने का बल जीव में करोडों कल्पो में भी सभव नहीं हो सकता ।

---

१ बिमन जैमी जाय छुध, २ कोय ।

आश्रय

प्रभु भू आश्रय मूल छुटि, नर नलीन दुख पाय।
पोषक[1] प्रिय मुह् प्रांन ले, देत सडाय जलाय ॥३४३॥

शब्दार्थ :—भू—पृथ्वी; मूल—सर्वस्व (२) जड; नलीन—कमल; मुह्—सब।

अर्थ :—प्रभु और भू के आश्रय से क्रमशः विहीन होकर नर और नलिन दोनों दुःख पाते हैं। आश्रयविहीन हो जाने पर पोषक और प्रिय ही प्राण लेने पर उतारू हो जाते हैं और इन्हें सडा-गलाकर मार देते हैं।

विशेष :—कमल-मूल के पृथ्वी से विच्छिन्न हो जाने पर कमल अपने पोषक सरोवर के पानी में पड़ा रहता है तो पानी उसे सड़ा डालता है। यदि वह सरोवर के तट पर पड़ता है तो उसका प्रिय सूर्य ही उसे तीक्ष्ण ताप से जला डालता है। तात्पर्य यह कि आश्रयविहीन मनुष्य का कोई प्रिय और पोषक नहीं है। "स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते दन्ता, केशा, नखा, नरा।"

सखि हरि सुरसोंहें चलो, माय छ्हाय[2] चलि आय।
पीठि ताहि दे जो गहें, तोंये[3] भाजी जाय ॥३४४॥

शब्दार्थ :—सुरसोंहें—सूर्य के सम्मुख; माय छाय—मायारूपी छाया; गहे—पकड़े; भाजी जाय—दौड़कर आगे जाय।

अर्थ :—तू हरि रूपी सूर्य की ओर चलकर देख, माया रूपी छाया तेरे पीछे स्वतः चली आयेगी। यदि तू उसे (हरि रूपी सूर्य को) पीठ देकर माया रूपी छाया को पकड़ना चाहेगा तो वह तेरे आगे भागेगी और हाथ नहीं आयेगी।

आश्रें घन घनस्याम जिंहि, सो कबु बनि न निरास।
जलद अनावृष्टीहु मे, बुजवत चातक प्यास ॥३४५॥

शब्दार्थ :—आश्रें—आश्रय, घन—घना (२) दृढ, बुजवत—बुझाता है; चातक—पपीहा।

अर्थ :—घनश्याम का दृढ़ आश्रय जिसे प्राप्त हो वह कभी निराश नहीं होता। बादल को देखिये अनावृष्टि में भी वह निष्ठावान चातक की प्यास बुझाता है।

---

१. पोखक, २. छाय, ३. तेनो।

विशेष —मिलाइये नरसिंह मेहता की इस पंक्ति से—"हरि ने भजता हजी कोईनी लाज जता नथी जाणी रे।"

रे जन जन जिन त्रण्ण धर[1], धर[2] धर धर धर आस।
श्रगि श्रग[3] साखी हरे, उपवन पत्रि उदास ॥३४६॥

शब्दार्थ —जन—मनुष्य, जिन—मत, जिन त्रण्ण धर—तृष्णा मत रख, धर आस—आशा रख, धर धर धर—धरा को धारण करने वाले पहाड को धारण करने वाले, गोवर्धनधारी कृष्ण, श्रगि श्रग—पहाड की चोटी साखी—(स० शाखिन्) वृक्ष उपवन—बाग पत्रि—(स० पत्रिन्) वृक्ष उदास—दुखी, मुरझाये हुए।

अर्थ —हे मनुष्य, तू किसी मनुष्य से कुछ पाने की आशा (तृष्णा) न रख, गोवर्धनधारी कृष्ण की आशा रख। देख, पहाड की चोटी पर खड़े वृक्ष (जिनको एक ईश्वर की आशा है) सदैव हरे रहते हैं, पर (मनुष्य की आशा रखने वाले) उपवन के वृक्ष मुरझा जाते हैं।

रटत राम तजि श्रहार, उद, सतत श्रजब गुलम्हेरि।
पुच्छ करभ मुख केकिपद, किन हरि किन सुमरेरि ॥३४७॥

शब्दार्थ —श्रहार = आहार, भोजन, उद—जल, पानी, गुलम्हेरि—जल में रहने वाला पक्षी (श्री भगवद गोमडल)। ऐसी प्रसिद्धि है कि इस पक्षी के ऊँट के मुँह जैसी पूँछ होती है जिससे वह पानी पीता है और मयूर के मुख के समान चार चरण होते हैं जिनसे वह चलता-फिरता और खाता है। कवि प्रसिद्धि है कि इस प्राणी की मुखाकृति स्त्री के जैसी होती है और यह सदैव रामनाम रटता रहता है। दयाराम ने अपने अन्य काव्यों में भी इसका वर्णन किया है पुच्छ—पूँछ, करभ—ऊँट केकि—मयूर किन—कौन, किये, किन—क्यो।

अर्थ —गुलम्हेर भी अजीब प्राणी है, खाना पीना छोडकर सतत रामनाम रटता रहता है। भगवान ने यह देखकर उसकी पूँछ को ऊँट के मुँह के समान और पैरों को मयूर के समान बनाया (जिससे वह जल तथा भोजन ग्रहण कर सके), ऐसे (दयालु) हरि का तू स्मरण क्या नही करता ?

चिंता तू चित क्यों करें, विश्वभर अजपाल।
सबकर सबकरखोर को, बधि मधि देत दयाल ॥३४८॥

---

१ धर्‌य, २ धर्‌य (मूल), ३ श्रृंगि श्रृग।

शब्दार्थ :—विश्वभर—विश्व का पालन करने वाले, विष्णु, व्रजपाल—श्रीकृष्ण; शक्कर—शक्कर, खांड; सक्करखोर—एक प्रकार का पक्षी जो समुद्र के बीच रहता है और शक्कर खाने का शौकीन होता है (२) शक्कर खानेवाला; दधि—(सं० उदधि) समुद्र (२) दही, मधि—मध्य ।

अर्थ :—हे चित्त, तू चिंता क्यों करता है, श्रीकृष्ण सारे विश्व का पालन करते हैं । वे इतने दयालु हैं कि समुद्र के बीच रहने वाले शक्करखोर (पक्षी) को भी शक्कर देते हैं (२) शक्कर के शौकीन को (दही के बीच) शक्कर देते हैं ।

हरि आश्रय बांनो सुबड, केवल कृतिहि न सत्य ।
बैल दुखी बलिवर्द सुख, जिमि देखहु दुहु कृत्य ॥३४६॥

शब्दार्थ :—बानो—हथियार (२) बान, आदत (३) पोशाक, कृति—(कृति) कर्म, कार्य, बलिवर्द—(स०) सांड ।

अर्थ :—केवल कर्म ही सत्य नहीं है, जिसके पास हरि के आश्रय का बाना है वही बड़ा है । बैल और साड दोनों के कृत्यों को देखिये, बैल (सेवाभावी और ब्रह्मचारी होते हुए भी) दुखी है और सांड (स्वेच्छाचारी और अब्रह्मचारी होते हुए भी) सुखी है ।

बड़ आश्रय सोई बड़ो, जानहु जद्यपि रंक ।
लखि चकोर बल चंद्र के, अगन खात निस्संक ॥३५०॥

अर्थ :—जिसे बड़े का आश्रय हो उसे ही बड़ा मानो, चाहे वह रंक ही क्यों न हो । चकोर को देखिये, चंद्रमा के बल पर (चंद्रमा में अमृत है इस बूते पर) निश्शंक होकर अग्नि खाता है ।

विवेक शिक्षा

मनन करो कंसारि छब, मन न करो ससार ।
हरि न बारि सों छार ये, हरि बारिधि सब सार ॥३५१॥

शब्दार्थ :—कंसारि—सं० कृष्ण, छब—शोभा, मनन करो—चिंतन करो (२) मन न करो, आकर्षित न हो, हरिन बारि—मृगजल, मृगतृष्णा, छार—धूल; बारिधि सब सार—सब सार के समुद्र ।

अर्थ :—श्रीकृष्ण की शोभा का मनन करो, ससार की ओर मन न करो। यह ससार मृगजल के समान धूल (नष्ट) होने वाला है और श्रीकृष्ण तो सब सार तत्वो के समुद्र हैं।

आज सुकालि न अब सुघरि, यहैं चाल जगख्याल।
नभ मे नभ ज्यों प्रथक पल, सित असीत पितलाल ॥३५२॥

शब्दार्थ :—घरि—घडी, २४ मिनट का कालमान, जगख्याल—संसार का खेल, नभ में—सावन के महीने में, नभ—बादल, सित—सफेद, असीत—काला, पित—पीला।

अर्थ :—ससार के खेल की तो यही रीति है कि आज है सो कल नही, और अभी है सो घडी भर बाद नही। ससार का रागरंग तो सावन के बादलो के सदृश प्रतिपल परिवर्तित होने वाला है। कभी सफेद, कभी काला, कभी पीला और कभी लाल।

विशेष :—जीवन के सदर्भ में सफेद रंग ज्ञान और शांति का, काला अज्ञान और अशांति का, पीला दैन्य और रोग का तथा लाल प्रेम और आनंद का सूचक है।

मनकों गुरु[1] जो होई मन, पलटैं सद्य सुभाउ।
हिरा हिरातें ज्यों विधें, लगि नहि और उपाउ ॥३५३॥

शब्दार्थ :—सद्य—तुरंत; हिरा—हीरा; लगि नहि—काम नही लगता।

अर्थ :—मन का गुरु यदि मन हो तो स्वभाव तुरंत बदल जाता है। जैसे कि हीरा हीरे से तुरत विधता है और कोई उपाय काम नहीं देता।

सह[2] सुख कुमगि र सुमगि दुख, कबु तहु तजि सुचसोच।
बुरि तरि च्हरि सु स्यांन ज्यो, साहस परें कपोच[3] ॥३५४॥

शब्दार्थ :—कुमगि—कुमार्गी, र—अरु, और, सुच—हर्ष; बुरि—बूडी, डूबी, तरि—नाव, स्यान—सयाना, समझदार; पोच—मूर्ख; साहस—(यहाँ) दुस्साहस, च्हरि—चढकर।

अर्थ :—कुमार्गी सुख और सुमार्गी प्रायः दु ख पाते है। फिर भी इसका

१. गुरू।

२ लह सुख कुमगि र दुख कबु तहू तजि सुच सोच, ३. परे कुपोच।

(हमें) हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए। नाव प्राय डूब जाती है, पर उसमें चढ़कर नदी पार करनेवाले सयाने कहलाते हैं। इसके विपरीत (नदी को तैर कर पार करने वाले) दुस्साहसी ही समझे जाते हैं, चाहे वे नदी पार कर लें।

रे मन यों रहि भव विषें[1], भगवत पथ तू लीन।
जिमि कुपार मधि धार नित, यमुना खेलत मीन ।।३५५।।

शब्दार्थ :—विषें—विषय में, मध्य में, कुपार—(सं० अकूपार) समुद्र।

अर्थ —हे मन, तू ससार में रहकर भगवान के मार्ग में इस भाँति लीन रहना जैसे समुद्र के बीच बहनेवाली यमुना की धारा में मछलियाँ नित्य खेलती रहती हैं।

विशेष :—मछलियाँ प्राणो के भय से यमुना की धारा को त्यागकर समुद्र के खारे पानी में नहीं जाती, उसी प्रकार तू भी इस भगवद्भक्ति की मधुर पयस्विनी को छोडकर भवसागर में डूबने न जाना।

करि कष्टा[2] किय अमल उर, कृष्णनाम नहिं लेत।
फल न कछु ज्यों बोय बिन, उगें न सुधर्यो खेत ।।३५६।।

शब्दार्थ :—कष्टा—कष्ट, किय—किया, अमल—निर्मल, सुधर्यो—सुधारा हुआ।

अर्थ :—तूने कष्ट उठाकर हृदय को निर्मल किया, पर कृष्ण का नाम न लेने से तेरा सब किया कराया निष्फल हो गया। खेत चाहे कितना ही सुधरा हुआ हो, बीज बोये बिना उसमें से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता।

तमि तरुना तम असितता, कच गत भै सित प्रात।
अब वे कृति मन विलग करि, भज हरिपद जलजात ।।३५७।।

शब्दार्थ —तमि—रात्रि, तरुना—जवानी, तम—अंधकार, असितता—काला रंग, श्यामलता, कच—बाल, केश, भै—हुई, सित—सफेदी, कृति—कार्य, कर्म, जलजात—कमल।

अर्थ —रात्रि रूपी जवानी के साथ केशो की अंधकार रूपी श्यामलता भी

---

१ विषैं, २ काष्टा।

चली गई है और प्रात काल रूपी सफेदी छा गई है। अब भी तू उन कृतियो से अपने मन को हटा और हरि के चरणकमलो को भज।

क कुरग ससार सुख, दिखें सही पँ हैं न।
भ्रमतें श्रम तासो त्रषा, अधिक समुझि लखि नेंन ॥३५८॥

शब्दार्थ —क—जल कुरग—मृग, क कुरग—मृगजल, मृगतृष्णा, त्रषा—तृषा, प्यास।

अर्थ —संसार का सुख मृगजल के समान है, जो दिखता है पर वास्तव में है नही। भ्रम के कारण श्रम होता है और श्रम से तृष्णा की अधिकता बढती है। जिसे विश्वास न हो वह अपनी आँखो से देख ले।

कबहु कृष्णइस्सा बिना, डोले नहिं इक पात।
एही द्रढ चित राखियो, लछ्य[1] बात की बात ॥३५६॥

शब्दार्थ —इस्सा—इच्छा।

अर्थ —श्रीकृष्ण की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही हिलता। यह बात चित्त में दृढ रखनी चाहिए। यह लाख बातो की एक बात है।

बिन बिबेक कीजें न कछु, तापें जो फिर होय।
यह इस्सा भगवत की, अपनो दोख न कोय ॥३६०॥

शब्दार्थ —बिबक—विवेक, बुद्धि, दोख—दोष।

अर्थ —बिना सोचे विचारे हमें कोई काम नही करना चाहिए। इतना करने के पश्चात फिर जो कुछ हो, उसे भगवान की इच्छा समझना चाहिए। उसमें हमारा कुछ भी दोष नही है।

बिबेक सो भावि न टरें, सोच करो मत कोय।
गुन विचारकों हें इतो, पाछें ताप न होय ॥३६१॥

शब्दार्थ —भावि—भविष्य, होनहार, गुन विचारको—विचार करने से लाभ, ताप—पश्चात्ताप।

अर्थ —विवेक से होनहार नही टल सकती इसलिए चिंता करना व्यर्थ है। सोच विचार करने से तो इतना ही लाभ है कि बाद में पश्चात्ताप नही होता। (कि हमने ऐसा किया होता तो ऐसा होता)

१ लछ्छ।

सील सिलीमुख सुप गहै, छनो माखि न राखि।
तजि गुण सौरभ सार जिम, दोख छहर लुहु चाखि ॥३६२॥

शब्दार्थ —सील—स्वभाव, सिलीमुख—भ्रमर, भौंरा, सुप—सूप, छाज, छनी—छलनी, मग आदि पदार्थों को छानने के लिए कपड़े का टुकड़ा, माखि—मक्खी, दोख—दोष, छहर—छालन।

अर्थ —भौंरे और सूप के शील को ग्रहण कर। छलनी और मक्खी जैसा स्वभाव न रख। छलनी गुणरूपी सार को तजकर दोषरूपी असार को ग्रहण करती है और मक्खी गुणरूपी सौरभ को तजकर दोष-रूपी (बदबूदार) लहू को चखती है।

बच न फेरियें बडन की, अमल समल तहु होहि।
कृष्ण कृष्ण आयसु करी, अनघ रहे कुल द्रोहि ॥३६३॥

शब्दार्थ —वच—वचन, आज्ञा, वाणी, अमल—निर्मल, समल—मल सहित, पाप युक्त, कृष्ण—अर्जुन, आयसु—आज्ञा, अनघ—निष्पाप।

अर्थ .—बड़ो का वचन कभी न फेरना चाहिए। पापयुक्त प्रतीत होते हुए भी वह निष्पाप और निर्मल होता है। अर्जुन ने कृष्ण की (भाइयो से युद्ध करने की) आज्ञा का पालन किया। पर कुलद्रोह करके भी वह 'अनघ' निष्पाप ही कहलाया।

प्रभुतें तों कछु डरि कहा, निपट चले द्रग मीच।
अरे नीच अभिमान तजि, पर्यो मीचमुख बीच[1] ॥३६४॥

शब्दार्थ —द्रग मीच—आँखें बंद करके, मीच—मृत्यु, काल।

अर्थ —अरे अधम, प्रभु से तो कुछ डर! बिलकुल आँखें मूँदकर क्या चल रहा है। अब तो अभिमान को छोड। तू तो काल के मुँह के बीच पड़ा हुआ है।

बाढ्यों बन धन नाव नर, डारें जाको बाहि।
नातर बूरें दोहु वे, सरि हरि दें बच जांहि ॥३६५॥

शब्दार्थ :—बन—पानी, डार—डाल दे, जाको बाहि—जिसका है उसी में, बूरें—डूबे, सरि—सरिता, नदी, दे—देने से।

अर्थ —नाव में पानी और आदमी के पास धन के बढ़ने पर जिसका है

[1] नीच।

उसी को दे डालना चाहिए। अर्थात् सरिता का जल सरिता को और ईश्वर का धन ईश्वर के निमित्त, दे डालना चाहिए अन्यथा नाव और नर दोनों डूबेंगे।

विशेष :—तुलना कीजिए :—पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यहि सज्जनकौ काम ॥

लोभि - होइ बस दामतें, स्तब्ध जोरियें पानि।
जड़ अनुधृती[1] के चलें, बिबुध सत्य बदि बानि ॥३६६॥

शब्दार्थ :—दाम—पैसा, धन; स्तब्ध—घमंडी; पानी—हाथ; जड—मूर्ख; अनुवृती—अनु-वृत्ति, मर्जी के अनुसार करने पर, बिबुध—पंडित, बदि—बोलने से।

अर्थ :—लोभी रुपए-पैसे से, घमंडी हाथ जोड़ने से, मूर्ख (उसकी इच्छा का) अनुसरण करने से और पंडित सत्य बोलने से प्रसन्न होता है।

दारा निंदा[2], संपदा, परजन जिन करि प्यार।
प्यारी सोई प्रान लें, जैसी भाटकटार ॥३६७॥

शब्दार्थ :—दारा—स्त्री; निंदा—बुराई; संपदा—धन-दौलत, परजन—पराई; जिन करि—न कर।

अर्थ :—पराई-स्त्री, निंदा और सपत्ति से कभी प्यार न कर। इनमें से जो प्यारी होगी वही भाट की कटारी की भाँति प्राण ले लेगी।

बुरो बिचारें और कों, भलो आपकों च्हाइ।
रज डारें जिमि सूरपें, परें सु निजमुख आइ ॥३६८॥

शब्दार्थ :—रज—धूल, सूर—सूर्य।

अर्थ :—जो दूसरे का बुरा चाहे और अपना भला चाहे (तो उसी का बुरा होता है) जैसे कि सूर्य पर धूल डालने वाले की धूल उसी के मुख पर गिरती है।

अति हठकरि जो पर बुरों, करें न लहि सुख सोइ।
आई निजके सार हति, ज्व पकि[3] कच्ची होइ ॥३६९॥

शब्दार्थ :—न लहि सुख—सुख नहीं पाता है, सोइ—वह, सार—चौपड

---

१. अनुवृति, २. निंदा, ३. पकी।

की गोटी, भाइ निज के—अपने (घर में) आई हुई, हति—मारी, स्वपकी—अपनी पक्की (गोटी)।

अर्थ :—अत्यन्त हठ करके जो दूसरे का बुरा करता है, वह कभी सुख नही पाता है। अपने घर में प्रवेश करती दूसरे की चौपड की गोटी को पीटने पर स्वयं की पक्की गोटी भी कच्ची हो जाती है।

विशेष :—चौपड के खेल में दूसरे को हराने के लिए खिलाडी प्रायः दूसरे की पक्की (घूम-फिर कर उसके अपने घर में प्रवेश करती हुई) गोटी को पीटते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें अपनी एक पक्की गोटी बाहर निकालनी (कच्ची करनी) पडती है। दूसरे को हराने के लिए किये गये इस प्रयत्न से खिलाडी खुद मुश्किल में आ जाता है।

मुक्ती ज्हाँ माया नहीं, माया ज्हाँ नहि मुक्त।
सुने न देखे कहूँ कपू, तेज तिमिर द्वै युक्त ॥३७०॥

शब्दार्थ :— द्वै—दोनों, युक्त—एक साथ, तेज—प्रकाश, तिमिर—अंधकार।

अर्थ :—जहाँ मुक्ति है वहाँ माया नहीं है, जहाँ माया है वहाँ मुक्ति नही है। प्रकाश और अंधकार इन दोनों को कभी एक दूसरे के साथ रहते न देखा है, न सुना है।

जो करनी प्रभु सो कपू, मेटि सकें नहि कोइ।
नहि करिवेकी क्योंहु करि, काहू सों नहि होइ ॥३७१॥

शब्दार्थ :—करनी—कार्य।

अर्थ :—ईश्वर की करनी को कभी कोई मिटा नही सकता और जो ईश्वर को करना नही है वह कैसे भी करके कोई कर नही सकता।

शिशु रनभट, सुर स्तुति, सुहृद, नृपासीस निजदार।
इतने थल दोख न कपु, जो कीजे तुकार[1] ॥३७२॥

शब्दार्थ :—रन भट—रण में योद्धा, दुश्मन, सुहृद—मित्र, नृपासीस—राजा को आशीर्वाद देते समय, निजदार—अपनी पत्नी को, दोख—दोष, तुकार—'तू' का प्रयोग, इतने थल—इतने स्थानों पर।

---

१. जो कीजे तू कार।

अर्थ —बालक को, रण में (विपक्षी) योद्धा को, स्तुति में देवता को, मित्र को, आशीर्वाद देते समय राजा को और अपनी पत्नी को—इतने स्थानों पर यदि संबोधन के लिए 'तू' का प्रयोग किया जाय तो कभी दोष युक्त नहीं होता।

> सुख कहाँ बिना मिलाप हरि, हरि कहाँ बिन ब्रैहेताप[1]।
> ताप कहाँ बिन शुद्ध रति, कहाँ रति बिन सदछाप ॥३७३॥

शब्दार्थ —ब्रैहेताप—विरह-ताप, शुद्ध रति—निश्चल प्रेम, सदछाप—सज्जन पुरुषों का प्रभाव, सत्संग,

अर्थ —हरि से मिले बिना सुख कहाँ ? और विरह-ताप के बिना हरि-मिलन कहाँ ? निश्चल प्रेम बिना विरह-ताप कहाँ ? और सत्संग बिना निश्चल प्रेम कहाँ ?

विशेष —तात्पर्य यह कि सत्संग ही सुख का मूल है।

> बिना समुझ जो सुख करे, सो सुख-दुख व्है जाय।
> जब व्हो लपट्यो चमकसों, तब ज्यों परस छुवाय ॥३७४॥

शब्दार्थ —चमक—चकमक पत्थर, परस—पारस पत्थर जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है।

अर्थ —बिना समझे मनाया गया आनंद दुःख बन जाता है। जैसे कि (अपने प्रिय) चकमक से संयुक्त लोहा पारस के स्पर्श से सोना अवश्य हो जाता है, पर उसे अपने प्रिय से जुदा होना पड़ता है।

विशेष —आनंद मर्यादित होना चाहिए। अत्यधिक आनंद प्रायः दुःख का कारण बन जाता है।

> करता सबके स्वयंभू, कौन जाकि सम सीस।
> शेश, रमा, शिव, वेद, विधि, पति सु अनादी ईस ॥३७५॥

शब्दार्थ —करता—कर्ता, स्वयंभू—जो स्वयं उत्पन्न हुआ हो, परमात्मा, सीस—बड़ा, पति—स्वामी।

अर्थ —जो स्वयं उत्पन्न हुआ है वही (परमात्मा) सब कार्यों का कर्ता है। उससे बढ़कर या उसकी बराबरी करने वाला कोई नहीं है। वह शेष, रमा,

---

[1] ब्रह ताप।

शिव, वेद और ब्रह्मा का स्वामी है, अनादि ईश्वर है।

बड़े नामतें का भयो, काज बड़ो नहि होत।
कहें अरक सब आकको, पै न होत उद्योत ॥३७६॥

शब्दार्थ :—अरक—अर्क, सूर्य, आक—मदार, उद्योत—प्रकाश।

अर्थ :—नाम के बड़े होने से क्या लाभ? काम तो बड़ा होता ही नहीं। मदार को सब अर्क (सूर्य) कहते हैं, पर उससे प्रकाश तो हो नहीं सकता।

विशेष :—तुलना कीजिए —'कहत धतूरे सों कनक गहनो घड़्यो न जात'
—बिहारी

पचवें गुन अभिमान बिन, तियद्रग अद्रढ न होइ।
कातर बड़ सनमान लहि, अस जुग बिरला कोइ ॥३७७॥

शब्दार्थ :—पचवें—पचा ले, तियद्रग—स्त्री के नेत्र कटाक्ष, अद्रढ—ढीला, कातर—नम्र, जुग—युग, जग।

अर्थ :—गुण को अभिमान किये बिना पचा ले, स्त्री के कटाक्षों से विचलित न हो और बड़ा सम्मान प्राप्त करके भी नम्र रहे ऐसा जग (अथवा युग) में बिरला ही कोई होता है।

बड़े करे सब समुझिकैं, भूलें नहि को ठौर।
बिधि बेटीपैं चित धर्यो, नहि कछु कारन और ॥३७८॥

शब्दार्थ :—बिधि—ब्रह्मा, बेटीपैं—अपनी पुत्री (सरस्वती) पर, चित धर्यो—आसक्त हुए।

अर्थ :—बड़े आदमी जो भी काम करते हैं, सोच-समझकर करते हैं, वे किसी भी स्थान पर चूकते नहीं। कहा जाता है ब्रह्मा अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्त हुए, पर इसके पीछे भी कुछ और (अनुचित) कारण नहीं था।

विशेष :—ऐसा प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा कामातुर होकर अपनी पुत्री सरस्वती को पकड़ने दौड़े थे। पर कवि कहता है इसमें ब्रह्मा की भूल नहीं थी। क्योंकि

ब्रह्मा के हृदय में उस समय स्वयं विष्णु विराजमान थे और वे ही सरस्वती के पीछे दौडे थे। बडो को हम नही समझ पाते अत. हम भूल कहते हैं।

होनहार हुइ सो मती, प्रकट[1] प्रथमतें होइ।
ढांपें उर बिन उरजहू, कन्या जिमि नर जोइ ॥३७६॥

शब्दार्थ :—उरज—कुच, ढापे—ढँके, छुपावे।

अर्थ :—आगे जैसा होना होता है वैसी मति पहले से ही होने लगती है। जैसे कि बालिका अपने उरोजो से रहित वक्षस्थल को भी पुरुष को देखकर ढँकती है।

होनहार हियमे बसें, चितउ बरहिके बत्स[2]।
चलत अंबु प्रति पल लखत, प्रष्ट जदपि नहिं पत्स ॥३८०॥

शब्दार्थ :—चितउ—देखो, बरहि के बत्स—(सं० बर्हि) मयूर के बच्चे, अंबु—जल, प्रष्ट—पृष्ठ, पीछे का अग, पत्स—पूँछ।

अर्थ :—होनहार पहले से ही हृदय में बसती है, मयूर के बच्चों को देखो। पानी में चलते समय (नर बच्चे) प्रतिपल पीछे फिर-फिर कर देखते हैं। (कि कहीं हमारी पूछ भीग तो नहीं रही है) यद्यपि बाल्यावस्था में उनके पूँछ होती ही नहीं।

नोट —मयूर के बच्चों में नर-मादा को पहचानने के लिए उन्हें जल में चलाया जाता है। मादाएँ सीधी निकल जाती हैं, पर नर बच्चे पीछे मुड-मुडकर देखते हैं। कवि ने अपनी बात के प्रतिपादन के लिए इसी दृष्टांत का सहारा लिया है।

करबि खरी बडवें खरी, करनी करनि न संत।
रषभ[3] ग्यानि मनि थे लह्यौ, अशिव[4] कर्त्ता अरिहंत ॥३८१॥

शब्दार्थ .—वै—वाणी, कथनी, करनी—आचरण, करनीन—नही करनी चाहिए; ऋषभ—ऋषभदेव; श्रे—श्रेय, अशिव—अकल्याणकारी।

---

१. प्राप्त, २. पुच्छ, ३ ऋषभ, ४. अशिव।

अर्थ —बडो की कथनी (वाणी का अनुसरण) करना उचित है, पर उनकी करनी (आचरण) का अनुसरण करना उचित नही। ऋषभदेवजी की वाणी को जिसने माना उसने तो कल्याण प्राप्त किया, पर उनकी कृति का अनुसरण करने पर अरिहत का अकल्याण हुआ।

प्राप्त[1] कलेस कुसील को, मेटि सके नहि कोइ।
जिमि अजन को असितता, जाय न कोर्य[2] धोइ ॥३८२॥

शब्दार्थ · कुसील—बुरा स्वभाव, अजन—काजल, असितता—कालिख।

अर्थ —बुरे स्वभाव के कारण प्राप्त क्लेश को कोई नही मिटा सकता। जैसे कि काजल का कलुष नही धोया जा सकता।

दियों सत-सताप भल, बुरों दुष्ट सनमान।
सुर तचि बहु जलदान दे, खल जख भख लें प्रान ॥३८३॥

शब्दार्थ —तचि—तपकर, सुर—सूर्य, जख—मछली भख—भक्ष, खाने का पदार्थ।

अर्थ —सतों के द्वारा दिया गया सताप भी भला है और दुष्टों के द्वारा दिया गया सम्मान भी बुरा है। सूर्य तपकर (हमें तपाता है) तो जल की वृष्टि भी करता है, पर दुष्ट के द्वारा दिया गया भक्ष भी मछली का प्राण ले लेता है।

तेरो तन हरि लेखिलें, प्रतोबिम्ब तो सुर्त।
जो कछु अरपें ईस सो, तोहि मिलें लखि तुर्त ॥३८४॥

शब्दार्थ —लेखिले—समझ ले, मान ले, सुर्त—सूरत, तुर्त—तुरत।

अर्थ —अपने शरीर को तू हरि मान ले और फिर (दर्पण में) अपनी सूरत का प्रतिबिम्ब देख जो कुछ भी तू (अपने तन रूपी) ईश्वर को अर्पित करेगा वह देख तुझे भी तुरन्त मिलेगा।

क्रोध करें तो क्रोध पें, निंदे तों निज देह।
द्रोह करें तो अधर्म को, करि तो हरिसो नेह ॥३८५॥

---

१ प्रापस (मूल), २ कार्य।

शब्दार्थ :—द्रोह—शत्रुता, अहित-चिंतन, नेह—स्नेह।

अर्थ :—हे मन, अगर तुझे क्रोध ही करना है तो क्रोध पर कर, निंदा ही करनी है तो अपनी देह की कर, द्रोह ही करना है तो अधर्म का कर और स्नेह ही करना है तो हरि से कर।

दारु पूतरी जंत्र शुक, मरकट परबस बाल।
तैसें हरि बस जक्त सब, करें कराये ख्याल ॥३८६॥

शब्दार्थ :—दारुपूतरी—कठपुतली; जंत्र—यंत्र; मरकट—बन्दर; बाल—बालक; जक्त—जगत; ख्याल—तमाशा।

अर्थ :—कठपुतली, यंत्र (चलाने वाला) तोता और बन्दर का बच्चा (अथवा कठपुतली, यंत्र, शुक, बंदर और बालक) पराये बस होने पर इनसे जो खेल करवाये जाएँ, करते हैं। वैसे ही यह सारा संसार भी भगवान के वश में है और जैसा भगवान चाहते हैं वैसे ही खेल करते हैं।

विशेष :—भगवान सूत्रधार हैं, संसार रंगमंच है, संसार के समस्त जीव रंगमंच पर सूत्रधार के इशारे पर नाचने वाले पात्र हैं।

मुरुत देश या पुरटनग, भाग्यवान फल होय।
सिंधु, कूप, सरि कहुं भरो, मिलें पात्र सम तोय ॥३८७॥

शब्दार्थ :—मुरुत देश—मारवाड (मरु प्रदेश) रेगिस्तान; पुरट—स्वर्ण; पुरट नग—सोने का पर्वत, सुमेरु; भाग्यवान—भाग्य के अनुसार; सरि—सरिता; तोय—जल।

अर्थ :—मारवाड हो चाहे सुमेरु पर्वत (का प्रदेश) हो, भाग्य के अनुसार ही फल मिलता है। समुद्र, कूप या सरिता किसी में से भी भरिये, जितना बड़ा पात्र होगा उतना ही जल मिलेगा।

विशेष :—"कंचन, अर्जुन, कार्तस्वर, हेम, हिरण्य, सुवर्ण।
अष्टापद, हाटक, पुरट, शांत कुंभ हरि स्वर्ण॥

—भगवद्गोमंडल

किये भूत सो अब लह्यो, अब कृति आगें जानि।
भै भवीस को तो दिखें, करलें जो मनमानि ॥३८८॥

शब्दार्थ —भूत—भूतकाल में लह्यो—प्राप्त किया, भै—जो हो चुका, मनमानि—जो मन को उचित लगे।

अर्थ ,—जैसा तूने भूतकाल में किया वैसा अब पाया, अब जैसे कर्म करेगा वैसा (फल) आगे भोगेगा। भूत और भविष्य की बात तेरे सामने है। अब तू जैसा चाहे कर ले।

विशेष —वर्तमानेषु कार्येषु वतयन्ति विचक्षणा।

जाचक जाचन नहि अमे[1], अमे देन[2] मनु सीख।
समुझौं पुरव न हम दियौं, सो अब माँगें भीख ॥३८९॥

शब्दार्थ —जाचक—याचक, माँगने वाले, अमे—आये, पूरव—पूर्व।

अर्थ —ये याचक माँगने नहीं आये है, ये तो मानो हमें सीख देने आये है। ये कहते हैं कि हमने पूर्व जन्म में किसी को कुछ दिया नहीं इसलिए इस जन्म में हम भीख माँगते हैं। इनसे शिक्षा लो।

नर-विहार बरनन अश्रे, सो स्वस्तिद श्रीरंग।
जुरि घृत गर वहि[3] जिमि अमी होइ जुराकुस संग ॥३९०॥

शब्दार्थ —नर-विहार—मानवीय केलिक्रीडा, अश्रे—अश्रेय, अकल्याणकारी, श्रीरंग—श्रीकृष्ण, जुरि—जूडी, गर—गरल, जुराक्कुस—ज्वर में दी जाने वाली दवा।

अर्थ —मानवीय केलि-क्रीडाओं का वर्णन (यद्यपि अकल्याणकारी है, पर यदि वह) श्रीकृष्ण को लेकर किया जाय तो कल्याणकारी बन जाता है। जैसे कि ज्वर में धृत विष के समान होता है, पर जराकुस के साथ लेने पर वही घृत अमृत बन जाता है।

जो प्रभु प्रिय तो तप कहा, प्रिय न तोहू तप व्यर्थ।
कपुत कियौं जिमि सपुत तहुँ, सच्च योंहि पितु अर्थ ॥३९१॥

शब्दार्थ —सच्च योंहि—योंहि (व्यर्थ ही) सचय किया अर्थ—धन।

अर्थ —यदि प्रभु प्रिय हैं तो तप की क्या आवश्यकता है ? अगर प्रिय

१, नहीं आये, २ अये देन, ३ जुरि धृत विरही।

नही है तो तप भी व्यर्थ है। जैसे कि यदि पुत्र कपूत है तो पिता का अर्थ सचय व्यर्थ है (क्योकि वह उड़ा देगा) और यदि पुत्र सपूत है तो उसके लिए सचय करने की आवश्यकता ही नही है।

विशेष —मिलाइये—पूत सपूत तो क्यो धन सचै।
पूत कपूत तो क्यो धन सचै॥

बिन विवेक को ना फबै[1], रक किधौं हुई भूप।
नारि नवल ज्यौं नक बिहिन, लगे सुरूप करूप॥३६२॥

शब्दार्थ —रक—गरीब नक बिहिन—बिना नाक की फबै—फबना, शोभा युक्त होना नवल—नवयौवना करूप—बदसूरत।

अर्थ —रक हो चाहे राजा बिना विवेक के कोई भी सुशोभित नही होता। जैसे कि नवयौवना नारी सुन्दर होने पर भी नाक के बिना कुरूप लगती है।

अहार, गुडा, भीती, विषय, सकल देहि यह चार।
नर वर अधिक बिबेक सों, जो न तोसु[2] अनुहार॥३६३॥

शब्दार्थ —गुडा—(स० गुडाका) आलस्य, नीद सकल देहि—सब देहो या प्राणियो मे, बर—श्रेष्ठ तोसु—तस्मिन, उनमें, अनुहार—समान।

अर्थ —आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये चार वस्तुएँ सभी देहधारियो में होती है। पर नर में (एक पाँचवी वस्तु) विवेक और है जिसके कारण वह अन्य प्राणियो से श्रेष्ठ है। यदि नर में विवेक नही है तो वह भी उन्ही (साधारण प्राणियो) के समान है।

बडों वीर्य विग्रह नही, कुरु कोविद अनुमान।
दीघ देह सबलें करी, हरी लेत पल प्रान॥३६४॥

शब्दार्थ —वीय—पराक्रम, विग्रह—शरीर, विस्तार, करी—करि, हाथी हरी—हरि, सिंह।

अर्थ —पराक्रम प्रबल वस्तु है, शरीर नहीं। हे कोविदो, विचार कर देख लो। हाथी सबसे बड शरीर वाला है, पर सिंह पल में उसका प्राण हर लेता है।

---

१ ना फलें, २ तोसु।

जन कलंक कछु योंहि हरि[१] जानि दिखायें जात।
कमनिय बंत कुमार ज्यों देत दिठानों मात ॥३९५॥

शब्दार्थ :—जानि—जान-बूझ कर; कमनिय बंत—(कमनीयवंत) सुन्दर; दिठानो—दिठौना नजर न लगने के लिए बच्चों के लगाया जाता काला टीका।

बिन बिवेक बसु ब्यय किये, शोभा कोउ न पाय।
फूंकी बसुरी रस न ज्यों, अंगुरि बिना लगाय ॥३९६॥

शब्दार्थ :—बसु—धन।

अर्थ :—बिना विवेक के धन-व्यय करने से कोई शोभा नहीं पाता। जैसे कि अंगुली रखे बिना बसरी को फूंक मारने से रस की उत्पत्ति नहीं होती।

संपति बिपती पाय कें, अस गति हुइ बड़ छुद्र।
जेसें बरखा ग्रीष्म लहि, छोट सरी रु समुद्र ॥३९७॥

शब्दार्थ :—बड़—बड़ों की; छुद्र—छोटों की; छोट—छोटी; सरी—सरिता।

अर्थ :—संपत्ति और विपत्ति पाकर बडे और छोटे की वैसी ही गति होती है जैसी कि वर्षा और ग्रीष्म के कारण समुद्र और छोटी नदी की होती है।

विशेष :—समुद्र न वर्षा में उमड़ता है और न ग्रीष्म में क्षीण होता है; वह जैसा है वैसा ही रहता है। पर छोटी नदी में वर्षा में बाढ आ जाती है और ग्रीष्म में वह सूख जाती है। इसी प्रकार बडे आदमी संपत्ति प्राप्त करके या विपत्ति में पड़ने पर सदा एक से रहते हैं, पर छोटे आदमी थोड़ी सी संपत्ति पाकर फूल उठते है और थोड़ी सी विपत्ति पाकर त्राहि-त्राहि करने लगते हैं।

जाकों जाहि अगुन बस्यों, वे गुन क्योंहु न मान।
नवदों नवदो ज्यों कहें, नटि प्रयत्न केदान ॥३९८॥

शब्दार्थ :—अगुन—दोष; न बदो—नहीं बदता, नहीं मानता, नटि—नटी, नटनी; केदान—ढोल बजाने वाला।

अर्थ :—जिसके मन में जिसका अवगुण बस गया हो, वह उसका गुण किसी भी प्रकार नहीं मानता। जैसे कि नटी के प्रयत्न को देख कर केदान सदा 'न बदो,' 'न बदों' ही कहता है।

[१]. जन कलंक यों ही हरी।

विशेष —नटनी बाँस के ऊपर चढ़ कर जब तरह-तरह में खेल दिखाती है तब अन्य सब प्रशंसा करते हैं, पर केदान सदा 'न बदौं,' 'न बदौं' ही कहता है अर्थात यही कहता है कि मैं तो इसे कमाल नहीं मानता।

नाम विसभर कृष्ण कौं, जिन मन सोचे रंच।
न्हेवें धृढ धर करि हरी, चुगना[1] रचिकें चंच ॥३९९॥

शब्दार्थ —विसमर—विश्वभर, विश्व का पालन करने वाला जिन—मत, रंच—थोड़ा, न्हेंवें धृढ धर—दृढ निश्चय (विश्वास) कर, चुगना—चुगा, खाने का पदार्थ, चंच—चोंच।

अर्थ —हे मन तू रंच मात्र भी सोच-फिकर न कर। कृष्ण का नाम विश्वंभर है। उस पर दृढ (विश्वास) निश्चय रख। हरि ने पहले चुगा रचकर फिर चोंच बनाई है।

गर्थ न तो भव व्यर्थ प्रति, अर्थहु अनृत[2] दाय।
ज्यों तन अन बिनहु न रहे, अश भोजन जिय जाय ॥४००॥

शब्दार्थ गर्थ—(स० ग्रथ, गुज० गरथ), धन, भव—संसार, अर्थ—धन, अनृत—व्यर्थ, असत्य, अश—अतिशय।

अर्थ —धन के बिना संसार व्यर्थ है, पर अत्यधिक धन भी व्यर्थ है। जैसे कि अन्न के बिना तन नहीं रहता, पर अत्यधिक भोजन करने से प्राण चले जाते है।

सो सुद सो सोखद[3] भये, यह दिन बिन न प्रभाव।
ओर ओंर अनुपान तें, भेषज ज्यों हियभाव ॥ ४०१ ॥

शब्दार्थ —सोखद—सौख्यदायक, सुखदायक, सोखद—शोषण करने वाले, यह दिन —इन दिनों (गुज०) बिन—बिना बात, न प्रभाव—अकारण, भेषज—औषध, हियभाव—हृदय का भाव, अनुपान—औषधि के साथ ऊपर से खाई जाने वाली वस्तु पथ्य।

अर्थ —इन दिनो सुख देने वाले ही अकारण प्रभावहीन बनकर अकारण शोषण करने वाले बन गये है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे लोगो के हृदय का

---

१ चुगली, २ अनृथ, ३ सोषद।

भाव भी समय के साथ-साथ भेषज के प्रभाव की तरह मनुपानानुसार बदलता रहता है।

दुख सुख पचवन दोहुकों येही हैं उपचार।
अधिकों लखिये आपतें, क्लेश गरब सहार ॥४०२॥

शब्दार्थ —पचवन को—पचाने का, सहन का।

अर्थ —दुख और सुख दोनों को पचान का यही उपचार है कि सदा अपने से अधिक दुखियो और सुखियो की ओर देखिये। इसी से दुख के क्लेश और सुख के गर्व का सहार होता है।

विशेष —दु खे दु खाधिकान्पश्येत सुखे पश्येत सुखाधिकान।

सहज लहें सुखरूप दुहु, सुंदरि अरु सनमांन।
बिरस होइ बर जोरि तें, जैसें अरि को दांन ॥४०३॥

शब्दार्थ —सहज—स्वाभाविक रूप स, आसानी से लहें—मिले, प्राप्त हो, बिरस—विरस, बेमजा, बरजोर—जबरदस्ती, अरि—दुश्मन मलग।

अर्थ —सुदरी और सम्मान दोनो स्वाभाविक रूप से मिलें तभी सुखदायक प्रतीत होते हैं। जबरदस्ती करके प्राप्त करने पर मुडचीरे के दान की भाँति य वस्तुएँ भी बेमजा हो जाती हैं।

लघुता मे प्रभुता बसे, प्रभुता लघुता भोन।
दूब धरें सिर वानबा, तालखडाऊ कोन ॥४०४॥

शब्दार्थ —भोन—भवन, वानवा—विनायक ताल—ताड का लबा वृक्ष।

अर्थ —लघुता में प्रभुता निवास करती है और प्रभुता लघुता का भवन है। दूब लघु है तो उसे विनायक के मस्तक पर चढाते हैं और ताड के बड वृक्ष को कोई खडाऊ बनाकर भी नहीं पहनता।

रस रहस्यकों मिलतु सब, द्विर्द प्राप्त सुख मद।
बड बल दूर अदूर लघु, लहै कज मकरद ॥४०५॥

शब्दार्थ —रहस्य—(विशेष अर्थ में प्रयुक्त शब्द) स्वेच्छा से लघु रहने वाला, अपनी महानता को छिप न वाल अदूर—पास कज—कमल।

अर्थ —स्वेच्छा से लघु रहन वाले को सब सुख मिलता है, बडे बनने वाले को भी सुख मिलता है, पर कम। जैसा कि कमल की छोटी पखुडियो को मकरद के निकट होन के कारण बडी की अपेक्षा अधिक मकरद सेवन का लाभ मिलता है।

हरि बिसरो मनि-मान तजि, जिन मति कुरु को नीच।
मिलिहैं त्यो सुख सपदा ज्यो अयाच दुखमीच ॥४०६॥

शब्दार्थ —मनि मान—मणिरूपी मान जिन मति कुरु को नीच—(को नीच मति जिन कुरु) कोई भी (मागने की) नीच बुद्धि न करो अयाच —बिना माँग मीच—मृत्यु।

अर्थ —हरि को भूल कर मणिरूपी मान को तज कर कोई भी माँगने की नीच प्रवृत्ति न करे जैसे समय आने पर बिना माँग ही दु ख और मृत्यु मिलती है वैसे ही सुख और सपदा भी मिलेगी।

ढपें दोष गुन फुट करें, पर हरिजन यह चाल।
लखि शिव दुहु दधितें लहे, गरल गिल्यो शशिभाल ॥ ४०७॥

शब्दार्थ —ढपें—ढाँपे, छिपाकर रखे, फुट—प्रकाशित, पर—पराये, हरिजन—भगवद्भक्त, दधि—समुद्र, गरल—विष, गिल्यो—निगलना।

अर्थ —हरिजनो की तो यही रीति है व दूसरे के दोषो को ढाँपत है और गुणो को प्रकट करते है। देखिये, शिवजी को समुद्र से विष और शशि दोनों प्राप्त हुए, पर उन्होन विष को निगल लिया और शशि को भाल पर धारण किया।

दुख मे दुख सुख सुखन मे, दिन दिन बढतहि[1] जाय।
अपनी अपनी जात मे, सबको जात सुहाय ॥४०८॥

शब्दार्थ —जात—जाति, जात—जाते हुए।

अर्थ —दु ख के दिनो में दु ख और सुख क दिनो में सुख बढ़ता ही जाता है। सभवत इसलिए कि अपनी जाति म जाना सबको अच्छा लगता है।

भयो अहि ध्रुव जाहि मे, हरिको अरु हरि मोर।
बाधक साधक अहं मम, सहज बलावा चोर ॥४०९॥

शब्दार्थ —ध्रुव—अटल (विश्वास) म—मे अह—अहता मम—

---

[1] भ्बढतहि।

अर्थ —स्वच्छा से लघु रहने वाले को सब सुख मिलता है, बडे बनने वाले को भी सुख मिलता है पर कम। जैसा कि कमल की छोटी पखुड़ियों को मकरद के निकट होने के कारण बडो की अपेक्षा अधिक मकरद सेवन का लाभ मिलता है।

हरि बिसरी मनि मान तजि, जिन मति कुरु को नीच।
मिलिहे त्यो सुख सपदा ज्यों अयाच दुखमीच ॥४०६॥

शब्दार्थ —मनि मान—मणिरूपी मान जिन मति कुरु को नीच—(को नीच मति जिन कुरु) कोई भी (मागन की) नीच बुद्धि न करो अयाच —विना माँग मीच—मृत्यु।

अर्थ —हरि को भूल कर मणिरूपी मान को तज कर कोई भी माँगन की नीच प्रवृत्ति न करे जैसे समय आने पर विना माँग ही दु ख और मृत्यु मिलती हैं वसे ही सुख और सपदा भी मिलेगी।

ढपें दोष गुन फुट करें, पर हरिजन यह चाल।
लखि शिव दुहु दधितें लहे, गरल गिल्यो शशिभाल ॥ ४०७॥

शब्दार्थ —ढपें—ढापे छिपाकर रख फुट—प्रकाशित पर—पराये हरिजन—भगवद्भक्त दधि—समुद्र गरल—विष गिल्यो—निगलना।

अर्थ —हरिजनो की तो यही रीति है व दूसरे के दोषो को ढाँपते हैं और गुणो को प्रकट करते है। देखिए, शिवजी को समुद्र से विष और शशि दोनो प्राप्त हुए पर उन्होंने विष को निगल लिया और शशि को भाल पर धारण किया।

दुख मे दुख सुख सुखन मे दिन दिन वढतहिं[1] जाय।
अपनी अपनी जात मे, सबको जात सुहाय ॥४०८॥

शब्दार्थ —जात—जाति जात—जात हुए।

अर्थ —दु ख के दिनों म दु ख और सुख के दिनों में सुख बढ़ता ही जाता है। सभवत इसलिए कि अपनी जाति म जाना सबको अच्छा लगता है।

भयो अहि ध्रुव जाहि मे, हरिकों प्रभु हरि मोर।
बाधक साधक अह मम, सहज बलावा चोर ॥४०९॥

शब्दार्थ —ध्रुव—अटल (विश्वास) म—मै अह—अहता मम—

[1] व्यढतहिं।

गई सु गई गहिलें रहो, हरिगुन मनमनि पोय।
महुरत में खटवांग[1] लों, बहिहु सहिसी होय ॥४१५॥

शब्दार्थ :—गहिले—पकड़ ले; गुन—(१)गुण (२) डोरी; पोय—पिरोकर; महुरत—मुहूर्त, दो घड़ी का समय; खटवाग—एक राजा, बही—जो बह गई है, व्यर्थ; सही—सार्थक।

अर्थ :—तेरी (आयु) गई सो गई। अब जो रही है उसका ही सदुपयोग तू हरिरूपी गुण (डोरी) में मनरूपी मणि को पिरोकर खटवाग राजा की भाँति मुहूर्त में कर ले। इससे तेरी व्यर्थ गई आयु भी सार्थक हो जायगी।

विशेष :—खट्वांग—(पुराण) सूर्यवंशी इक्ष्वाकु वंश में एक राजा हुए। उन्होंने बड़ा भारी यज्ञ किया, जिसमें विश्वावसु आदि साठ हजार गंधर्व भी आमंत्रित थे। देवताओं ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने की बात कही। तब खट्वांग राजा ने पूछा कि मेरी आयु कितनी है? उत्तर में देवताओं ने उनकी आयु मुहूर्त भर की बताई। राजा तुरन्त विमान में बैठकर—अयोध्या पहुँचे और अपने पुत्र दीर्घबाहु का राज्याभिषेक करके परब्रह्म की समाधि में लीन हो गये। मतलब यह कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण का भी सदुपयोग किया।

सुमरन काल सु टरि गयो[2], सु मरनकाल टरें न।
काल काल सुमरें न हरि, काल काल सु मरें न[3] ॥४१६॥

शब्दार्थ :—सुमरन काल—भक्ति करने का समय, युवावस्था, टर गयो—टल गया, व्यतीत हो गया; मरन-काल—मृत्यु-काल, काल काल—(१) कल-कल (२) काल तो आखिर काल है।

अर्थ :—सुमरन करने का समय तो टल गया, पर मरने का समय टलने वाला नहीं है। तू कल-कल करता है, हरि का सुमरन नहीं करता। काल तो आखिर काल है। वह टलने वाला नहीं है।

जितों जतन निज तनु रखन, तितों तनुजतन रहोन।
कनक कस्यपु योंही पच्यो, करि हरि धारी सो न ॥४१७॥

शब्दार्थ :—निज तनु—अपना शरीर; तनुज तन—पुत्र-शरीर; रहोन—खोने के लिए; कनक कस्यपु—हिरण्यकश्यपु; पच्यो—प्रयत्न किया।

---

१. खड्वांगा, २. टर गयो, ३. मरें।

ऊख—(पु०) गन्ना, ऊख, अरस—नीरस।

अर्थ —अभ्यास और प्रयत्न करने से नीरस वस्तु भी रसवान बन जाता है। जैसे श्रम करने से नीरस कास रस वाले ऊख में परिवर्तित हो जाता है।

विशेष —गन्ने के बीज के अभाव म कास को बारह वर्ष तक बोते और सींचते है। बारह वर्ष के अंत में कास गन्ने के रूप में बदल जाता है।

तजत कुव्यसन रु देत रन, सुता मरत ततकाल।
कलेश पान ग्रोखद[1] करत, परि परिनाम खुसाल ॥४१३॥

शब्दार्थ —रु—अरु, और, रन—ऋण, ग्रोखद—औषध, खुसाल—खुशहाल, प्रसन्नता।

अर्थ —कुव्यसन तजते समय, ऋण चुकाते समय, पुत्री की मृत्यु के समय और औषधि पीते समय तत्काल कष्ट होता है, पर परिणाम में प्रसन्नता होती है।

गुननिकेत, अववात, रुज[2] सहि करि पर दुख नास।
ढांपतहें परगुह्यको, श्रीहरिदास कपास ॥४१४॥

शब्दार्थ —गुननिकेत—(१) गुण धाम (२) धागो का भडार, अवदात—(१) पवित्र, (२) उज्ज्वल, शुभ्र, रुज—कष्ट, वेदना, गुह्य—(१) दुर्गुण, (२) गुप्तांग।

अर्थ —श्री हरिभक्त कपास के समान हैं। वे गुणो के भडार, पवित्र, कष्ट सहकर परदु ख का नाश करने वाले और दूसरो के दुर्गुणो को ढँकने वाले है।

विशेष —कपास गुणो (धागो) का निकेत हैं तो हरिभक्त भी गुणो (सद्गुणो) का निकेत हैं। कपास अवदात (अर्थात् शुभ्र) है तो हरिभक्त भी अवदात (पवित्र) हैं। कपास जैसे (झूडी, लोढी, पीजी, काती और बुनी जाकर) अनेक रुज कष्ट सहती है उसी प्रकार हरिभक्त भी शीत-घाम इत्यादि सहते हैं और दोनो ही पराये दुख को हरते है। कपास जैसे लोगो के गुप्तागो को ढँकती है वैसे ही हरिजन दूसरे के दुर्गुणो को ढँकते है। हरिजन वास्तव में कपास के समान हैं।

---

१ ग्रावद, २ रुज 'मू०'।

गई सु गई गहिलें रही, हरिगुन मनमनि पोय ।
मुहुरत में खटवांग[1] लौं, वहिहू सहिसी होय ॥४१५॥

शब्दार्थ :—गहिले—पकड़ ले; गुन—(१)गुण (२) डोरी; पोय—पिरोकर; मुहुरत—मुहूर्त, दो घड़ी का समय; खटवाग—एक राजा; वही—जो वह गई है, व्यर्थ; सही—सार्थक ।

अर्थ :—तेरी (आयु) गई सो गई । अब जो रही है उसका ही सदुपयोग तू हरिरूपी गुण (डोरी) में मनरूपी मणि को पिरोकर खट्वाग राजा की भाँति मुहूर्त में कर ले । इससे तेरी व्यर्थ गई आयु भी सार्थक हो जायगी।

विशेष :—खट्वाग—(पुराण) सूर्यवंशी इक्ष्वाकु वंश में एक राजा हुए । उन्होंने बड़ा भारी यज्ञ किया, जिसमें विश्वावसु आदि साठ हजार गंधर्व भी आमन्त्रित थे । देवताओं ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने की बात कही । तब खट्वाग राजा ने पूछा कि मेरी आयु कितनी है ? उत्तर में देवताओं ने उनकी आयु मुहूर्त भर की बताई । राजा तुरन्त विमान में बैठकर—अयोध्या पहुँचे और अपने पुत्र दीर्घबाहु का राज्याभिषेक करके परब्रह्म की समाधि में लीन हो गये । मतलब यह कि उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण का भी सदुपयोग किया ।

सुमरन काल सु टरि गयो[2], सु मरनकाल टरें न ।
काल काल सुमरें न हरि, काल काल सु मरें न[3] ॥४१६॥

शब्दार्थ :—सुमरन काल—भक्ति करने का समय, युवावस्था; टर गयो—टल गया, व्यतीत हो गया; मरन-काल—मृत्यु-काल; काल काल—(१) कल-कल (२) काल तो आखिर काल है ।

अर्थ :—सुमरन करने का समय तो टल गया, पर मरने का समय टलने वाला नहीं है । तू कल-कल करता है, हरि का सुमरन नहीं करता । काल तो आखिर काल है । वह टलने वाला नहीं है ।

जितों जतन निज तनु रखन, तितों तनुजतन रखोन ।
कनक कस्यपु योंही पच्यो, करि हरि धारी सो न ॥४१७॥

शब्दार्थ :—निज तनु—अपना शरीर; तनुज तन—पुत्र-शरीर; रखोन—रखने के लिए; कनक कस्यपु—हिरण्यकश्यपु; पच्यो—प्रयत्न किया ।

---

१. खड्वागा, २. टर गयो, ३. थरें ।

अर्थ :—हिरण्यकश्यपु ने अपने तन की रक्षा का जितना प्रयत्न किया उतना ही प्रयत्न उसने अपने पुत्र के तन को नष्ट करने के लिए किया। पर उसका पचना व्यर्थ गया। जो हरि इच्छा थी वही हुई। हिरण्यकश्यपु का सोचा हुआ कुछ भी न हो सका।

जाती बरन विचित्र पैं, सब घट इक घनस्याम।
हरित अरुन सित पित असित, सब परछायो[1] स्याम ॥४१८॥

शब्दार्थ :—जाती बरन—जाति-पाँति, वर्ण, विचित्र—भिन्न, हरित—हरा, अरुन—लाल, सित—सफेद, पित—पीला, असित—काला, परछायो—छाया, परछाई।

अर्थ :—जाति और वर्ण भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके घट में उसी एक अन्तर्यामी घनश्याम का निवास रहता है। वैसे ही जैसे हरे, लाल, पीले, काले इत्यादि विभिन्न रंगों के पदार्थों की छाया तो सदैव काले रंग की ही पड़ती है।

सर निमग्न सिर सलिल अति, ताको तनक न भार।
अपनी करि इक गगरि लइ, लगत गरिष्ट अपार ॥४१९॥

शब्दार्थ :—सर—सरोवर; सिर—मस्तक पर, गरिष्ट—भारी।

अर्थ :—सरोवर में डुबकी लगाने पर सिर पर हजारों मन पानी आ जाता है, पर उसका तनिक भी भार नहीं लगता। पर उसमें से अपने लिए एक गगरी भर कर लेने पर वह छोटी सी गगरी भी बहुत भारी प्रतीत होती है।

विशेष :—अपनत्व की भावना दु:खदायक है।

सहसा, माया, निर्दया, असुचि, अनृत,[2] जड़ लोभ।
इते दोष[3] तिय स्वभाविक, क्यों न संग तस छोभ[4] ॥४२०॥

शब्दार्थ :—सहसा—अचानक, (साहस ?); असुचि—अपवित्रता; अनृत—झूठ; जड़—मूर्खता; छोभ—क्षोभ।

अर्थ :—सहसा (बिना विचारे) कार्य करना, माया (छल, कपट), निर्दयता, अपवित्रता इतने दोष नारी में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। फिर उसके संसर्ग से क्षोभ उत्पन्न क्यों न हो ?

१. परिछायो (मू०), २. अन्नत (मू०), ३. इत दोस, ४. छोह।

धरमीहित अधरम धरम, अहित धरम सु अधर्म।
वसुदेव दसरथ लखो, पाम्रे सुख दुख पर्न ॥४२१॥

शब्दार्थ :—धरमी—धरमात्मा (श्रीकृष्ण ?), पर्न—परम।

अर्थ :—धर्मात्मा के हित के लिए किया गया अधर्म भी धर्म है और उसके अहित के लिए किया गया धर्म भी अधर्म है। वसुदेव और दशरथ को देखो। एक ने सुख और दूसरे ने परम दु ख पाया।

विशेष :—वसुदेव ने धर्म (श्रीकृष्ण) की रक्षा के लिए कंस को दिये गये वचन को भंग करके अधर्म किया फिर भी वे सुखी हुए और वैकुंठ गये और दशरथ ने अपने वचन का पालन करके धर्म करते हुए भी धर्मावतार (राम) को वनवास देकर अधर्म किया, इसलिए उन्हें दु ख भोगना पड़ा।

सोभा वडपन सबनकों, जा बिच सब बिश्राम।
ऐसे है श्रीकृष्णजू, तातें श्रीजी नाम ॥४२२॥

शब्दार्थ :—श्री—शोभा, जी—आदरसूचक शब्द, श्रीजी—श्रीकृष्ण।

अर्थ :—श्रीकृष्ण का नाम श्रीजी इसलिए है कि वे सबकी शोभा और सबके वड्प्पन है और जिस प्रकार आदि 'श्री' और अंत में 'जी' के बीच सब नामों का विश्राम है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण में भी सब समाये हुए हैं। इसीलिए उनका नाम श्रीजी है।

जिय बिंदु दुरि अंकके, संग सु लेखो होय।
नातर सून्य सुन्य सम, परस करें नहिं कोय ॥४२३॥

शब्दार्थ :—जिय—जीव, बिंदु—शून्य नातर—नहीं तो, सुन्य—शून्य (२) श्वान (?)।

अर्थ :—जीवरूपी शून्य आदि हरिरूपी अंक के साथ लिखा जाय तभी उसकी सार्थकता है। नहीं तो शून्य शून्यवत् (श्वानवत् ?) है जिसे कोई स्पर्श भी नहीं करता।

विशेष :—हरि के साथ सम्पर्क होने पर ही जीव महत्ता प्राप्त करता है।

रे जिय तो भों कित गह्यों, क्यों न चलें अब ऊठि।
तूज कयौं निज मुर्खता, जस किस करसहि मूठि ॥४२४॥*

* डभोई वाली प्रति में पहले ४२४ और फिर ४२३ दोहा है।

शब्दार्थ —भौ—भव, ससार, किस—वानर, मूठि—मुट्ठी ।

अर्थ —हे जीव, तुझे ससार ने कहाँ पकड रखा है ? तू उठकर क्यो नही चल देता है ? यह सब वधन तूने ही बना रखा है । यह तेरी ही मूर्खता है, वैसे हा जैसे बन्दर के हाथ की (घडे के अन्दर बँधी हुई) मुट्ठी ।

विशेष —बन्दर चने के घडे में हाथ डालकर मुट्ठी बद कर लेता है और हाथ के न निकलने पर समझता है कि घडे ने उसे पकड लिया है ।

तूँहि अपनपौं बिसरि जिय, यौंही पैयतु पीर ।
सपर गिघाय घह्यो गयो, ज्यो नलिनीकों कीर ॥४२५॥

शब्दार्थ —अपनपौ—स्व स्वरूप, सपर—स+पर, पर सहित, पखवाला, गिघाय घह्यो गया—घबराकर पकडा गया, नलिनी—नलिका, कीर—तोता ।

अर्थ—हे जीव, तू (ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी) स्व स्वरूप को भूल बैठा है, इसीलिए दु ख पाता है । वैसे ही जैसे नलिनी का कीर पंखयुक्त होते हुए भी यह भूल बैठता है कि वह पक्षी है और घबराकर पकड लिया जाता है ।

विशेष —पारधी नली में डोरी बाँधकर तोते को पकडते है । इस डोरी से पकडे जाने वाले तोते को कवि ने 'नलिनी को कीर' कहा है ।

सु गुरु बानि भीती जटे, बिन मन[1] थिरत न पाई ।
इत उत अति रूरकत फिरें, मगरोराकी नाई ॥४२६॥

शब्दार्थ —बानि—वाणी, भीती—दीवार, थिरत न पाई—स्थिरता नही पाई रूरकत फिरे—ठोकरें खाते फिरते है, मगरोरा—रास्ते का रोडा ।

अर्थ .—सद्गुरु की वाणी की भित्ति में जडे बिना तेरा मन कभी स्थिर नहीं होगा । रास्ते के रोडे की तरह वह इधर-उधर ठोकरें ही खाता रहेगा ।

विशेष —सद्गुरु के वचनो में श्रद्धा रखे बिना भ्रम से मुक्ति सम्भव नही क्योकि अनेक मत-मतातरो और विचारो के चक्कर में फँसकर मन मार्ग के रोडे की भाँति इधर-उधर ठोकरें खाता रहता है । गुरु-वचनो में श्रद्धा रखने से स्थिरता प्राप्त होती है ।

ऐसे प्यारे चाहियें, सतति प्रब र तात ।
वहि तुसार प्रहिचेलिपत, शत फोसहु जर जात ॥४२७॥

[1] मप (!) (मू०)

शब्दार्थ —सतति—सतान, अब—माता, तात—पिता, तुसार—हिम-पात, अहिवेलि—नागरवेल, कोस—एक कोस = दो मील।

अर्थ :—माता-पिता और सतान में ऐसा प्रेम होना चाहिए (जैसा नागर-वेल और उसके पत्तो में होता है) जब नागरवेल पर तुषारपात होता है तो सौ कोस दूर होते हुए भी उसके पत्ते (पान) जल जाते हैं।

> छह्यों मन्यु मन जब लगें, ऊँच नीच सम रूप।
> जिमि कुहु म्हानिसि वय दिखें, सब समान नग कूप ॥४२८॥

शब्दार्थ :—मन्यु—क्रोध, छह्यो—छाया हुआ हो, कुहु निसि—अमावस्या की अँधेरी रात, नग—पर्वत।

अर्थ :—जब मन पर क्रोध छाया हुआ हो तब छोटे-बडे का विवेक लुप्त हो जाता है और सब एक से दिखाई देते हैं। अर्थात् कुछ भी दृष्टिगोचर नही होता।

विशेष —क्रोध में बडे-छोटे का विवेक नही रहता।

> प्रिय अप्रिय[1] तिय प्रसव वय, शुक्रखलित नर नारि।
> अस धी उभय अचल रहें, तो न दूर गिरिधारि ॥४२६॥

शब्दार्थ —प्रसव वय—प्रसवावस्था, शुक्रखलित—जिसका वीर्य स्खलित हो चुका हो, धी—बुद्धि, उभय—दोनो, गिरिधारि—कृष्ण।

अर्थ .—स्त्री को प्रसवावस्था में पति के प्रति और पुरुष को स्खलन के पश्चात् नारी के प्रति जो अरुचि उत्पन्न होती है। वह (विवेक-बुद्धि) यदि दोनो में स्थायी रहे तो फिर कृष्ण-सयोग दुर्लभ नही।

विशेष —स्त्री-पुरुषो में विराग की भावना क्षणिक होती है, वह यदि स्थायी हो तो ईश्वर-प्राप्ति में शका नहीं समझनी चाहिए। यथा सस्कृत सुभाषित —

> भोजनान्ते श्मशानान्ते मैथुनान्ते च या मति।
> सा मति सर्व कार्येषु नरो नारायणो भवत् ॥

> जैसों चित समसान[2] गत, प्रान देखि कें और।
> अैसों निति रहि हरि कहें, वह न परें भव व्हौर ॥४३०॥

शब्दार्थ : ओर—और, अन्य, नीति—नित्य, भव—ससार, व्होर—

१ प्रिय अप्रिय, २. समसान।

बहुरि, फिर।

अर्थ —किसी को स्मशानगत देखकर चित्त जैसा होता है वैसा यदि नित्य बना रहे और वह हरि-स्मरण करे तो फिर उसे बारबार ससार के जन्म-मरण के बधन में न पडना पडे।

पुत्र जन्म लखि जन्म दुख, तात मरन गति मर्न।
समुझि ग्रापको ग्रेहि बिधि, सर्न गहें गिरिधर्न ॥४३१॥

शब्दार्थ —मर्न—मरण, सर्न—शरण गिरिधर्न—गिरि को धारण करने वाले।

अर्थ —पुत्र-जन्म को देख कर जन्म के कष्ट और पिता के देहावसान को देख कर मृत्यु की गति का अपने आप पर अनुभव करो और श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करो।

कछु दुख सुख बहु सुख कछुक, दुख अति क्रति सब ठौर।
पँ मत्सरि को कहु न सुच, क्लेश अवें फिर व्होर॥४३२॥

शब्दार्थ . क्रति—कृत्य, कृति, काय, मत्सरि—ईर्ष्या, सुच—सतोप।

अर्थ —किसी कृत्य में थोडा दु ख और सुख अधिक, किसी म थोडा सुख और दु ख अधिक होता है। ऐसा सदैव होता है। पर मत्सर-कृत्य (ईर्ष्या) को कही भी सुख-सतोष नही मिलता। ईर्ष्या करत समय तो क्लेश होता ही है उसका अतिम परिणाम (नरक-यातना) भी क्लेशप्रद है।

ग्रह बागुर रचि रुकि[1] गयौ, म्हूर न अब निकसाय।
जेसें कीट कुसीट कौं, आप मुरझि मर जाय॥४३३॥

शब्दार्थ —ग्रहबागुर—घर रूपी फदा, म्हूर—मूढ, कुसीट—(स०कोष) रेशम के कीडे का घर, कीट कुसीट को—रेशम का कीडा।

अर्थ .—हे मूढ, रेशम के कीड की तरह तूने भी स्वत घर रूपी फँदे की अपने लिए रचना की है और बदी हो जाने के कारण अब तू निकल नही पाता है। जैस रेशम का कीडा अपने ही बनाये हुए घर में क़ैद होकर अकुलाकर प्राण दे देता है, वैसी ही तेरी दशा है।

केकी पतत्री पच्छ अधम, शीश धरे नदलाल।
तब निर बिराई जनन को, प्रिय करि करे न न्हाल॥४३४॥

---

१ रूंध।

शब्दार्थ :—केकी—मयूर, पतत्री—पक्षी; पक्ष—पंख, न्हाल—निहाल।

अर्थ :—मयूर, एक तो पक्षी, फिर उसके पंख अधम, फिर भी उन्हें (मयूर-पंखों को) नंदलाल अपने शीष पर धारण करते हैं। (जब निर्विषयी पक्षी का नंदलाल इतना आदर रखते हैं) तब निर्विषयी जनों को अपनाकर वे निहाल क्यों न करेंगे ?

अरी मीत, अधरम धरम, पथ्य हुई म्हा बीष[1]।
विपरित सुपरित सब सबा, जो प्रसीद जुगदीश ॥४३५॥

शब्दार्थ :—प्रसीद—प्रसन्न।

अर्थ :—यदि जगदीश प्रसन्न हो जाएँ तो अरि मीत हो जाता है, अधर्म धर्म बन जाता है, विष पथ्य बन जाता है और जो प्रतिकूल होते हैं वे सब सदैव अनुकूल बन जाते हैं।

हो हों हो रापभ[2] कहे, बोज ढोव लहि प्रहार।
मेन नाम ही मात्र सब, स्मरके वस संसार ॥४३६॥

शब्दार्थ :—हो—मैं, अहंकार सूचक उद्‌गार; रापभ—गर्दभ; बोज—बोझ, लहि प्रहार—मार खाकर; मेंन—मैं नहीं हूँ, कामदेव, स्मर।

अर्थ :—गधा अहंकारसूचक उद्‌गार 'हो हो' प्रकट करता है। परिणाम-स्वरूप उसे बोझा ढोना पड़ता है और मार खानी पड़ती है। कामदेव का नाम ही दीनता-सूचक 'मेंन' (मैं नहीं हूँ) है, परिणामस्वरूप सारा संसार उसके वश में है।

काम, क्रोध, मद, मोह सो, छुधलों प्रकट र शात।
कबहू लोभ अकाशलों[3], धावत मिलें न अंत ॥४३७॥

शब्दार्थ :—काम, क्रोध, मद, मोह, आदि तभी तक रहते हैं जब तक उनकी क्षुधा रहती है। क्षुधा के शांत होने पर वे शांत हो जाते हैं। किन्तु लोभ तो आकाश के जैसा है। कितनी ही भाग-दौड़ कीजिए फिर भी उसका अंत नहीं आता।

विशेष :—षड्‌रिपुओं में लोभ सबसे अधिक दुःखदायी है। यथा.—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभ. पापस्य कारणम् ॥

१. बीज, २. रासभ, ३. आकाशलौं।

तून दुष्ट-उर सरासन, रसना छुटि बच बान ।
छमा-कोटि की ओट व्हैं, तू उबरेगो का न ॥४३८॥

शब्दार्थ :—तून—तूणीर; सरासन—धनुष, बच—वचन, छमा-कोट—छमारूपी कोट ।

अर्थ :—दुष्ट उर—तूणीर है, रसना सरासन है जिससे कटु वचन-रूपी बाण छूटते है । तू छमा-रूपी कोट की ओट ग्रहण कर, तभी तू उबरेगा ।

आस अगन बूजी नही, कहा धनी धनकोस[1] ।
साचे धनि सों सत जिहिं अखूट धन सुख तोस ॥४३९॥

शब्दार्थ —बूजी—बुझी, तोस—सतोष, अखूट—कभी कम न होने वाला, अक्षय ।

अर्थ —वह धनी भी क्या धनी है और उसका धनकोश भी क्या है, जिसकी आशारूपी अग्नि बुझी नही है । सच्चे धनी तो वे सत-जन है जिनके पास सुख-सतोष का अखूट धन भडार है ।

दीठ दिखत सब जात हैं, गये धन्न तन छाडि ।
रे जिय तु का अचल हैं, बेठो माया मांडि ॥४४०॥

शब्दार्थ —दीठ दिखत—देखते-देखते, बेठो माया माडि—मोहमाया मे लिप्त होकर बैठा है ।

अर्थ —देखते ही देखते सब जा रहे हैं । तन और धन को छोडकर कितने ही चले गये है । हे जीव, क्या तू अमर है जो इस तरह मोहमाया में लीन होकर बैठा है ?

दया न दिल तें छाड़िये, जधपि पैयें पीर ।
लखिले जिन लगि भर्तने, धारे जुग्म सरीर[2] ॥४४१॥

शब्दार्थ .—जिन लगि—जिनके लिए (पीडितो के लिए), धारे—धारण किये, जुग्म—दो ।

अर्थ .—दया करना कभी मत छोडिये चाहे कितनी ही पीडा क्यो न हो; देखिये भरत ने पीडितो के लिए दो शरीर और धारण किये ।

विशेष —प्रियव्रत वश में ऋषभदेव राजा के जयती नामक पत्नी से

---

१. धनकोश, २ शरीर ।

उत्पन्न पुत्र का नाम भरत था। भरत की पत्नी का पचज नाम था। इसके पाँच पुत्र थे। यह भरत राजा हजार प्रयुत वर्ष राज्य करके चक्र नदी के किनारे तप करने गये। दैवगति से एक हिरन के बच्चे में इनकी ममता रह गई। प्रतः आगे इन्हे हिरन योनि प्राप्त हुई। इन्हें इसके बाद जड भरत की योनि मे मोक्ष प्राप्त हुआ।

ऋषभदेव के पुत्र भरत को दो शरीर और धारण करने पड़े :—
(१) हिरण के रूप में, मोक्ष नहीं मिला
(२) जड़ भरत के रूप में मोक्ष प्राप्त हुआ

> अग जग जिय मिच चबेनो, अंड गोदितें खाय।
> कितो तुंड कछु हाथ कन, मिहि हरिजन गिरिजाय ॥४४२॥

शब्दार्थ :—अग—स्थावर, मिच—मृत्यु, काल; अड—ब्रह्माड; तुड—मुँह, मिहि—महीन, में से।

अर्थ :—इस स्थावर और जंगम (जगत) के समस्त जीव महाकाल का चबेना हैं। यह ब्रह्माड उसकी गोद है, जिसमें रखे चबेने को वह उठा-उठाकर खाता है। कितना ही चबेना उसके मुख में है, कुछ हाथ में है। हरिजन-रूपी लघुकण हाथ में से गिरकर बच जाते हैं, शेष सब काल का भक्ष्य बन जाते हैं।

विशेष :—निरभिमान, आत्मदैन्य और नम्रता के कारण हरिजन दीर्घायु भोगते हैं। मिलाइये "जगत चबेनो काल को, कछु मुख में कछु गोद।"

> निंदे हरि हरकों भजें, कियो पुण्य बड पाप।
> भव पावे तहुं प्रेत हैं, यह प्रभुद्वेष प्रताप ॥४४३॥

शब्दार्थ :—हरि—कृष्ण; हर—महादेव, भव—महादेव।

अर्थ :—हरि की निंदा की और महादेव को भजा, यह पुण्य है और बडा पाप भी है। पुण्य इसलिए कि शिव जी की प्राप्ति हुई और पाप इसलिए कि शिव जी को प्राप्त करने पर भी प्रेत ही बनना पड़ा, यह हरि की निंदा करने का फल है।

विशेष :—कवि का अभिमत है कि वैष्णव भक्ति शिवोपासना से श्रेयस्कर है।

करनी-करनी चुप छुपी, तितनी बद कहि वेद।
समुझो सब अनुमानसो, प्रकट न भाखे भेद ॥४४४॥

शब्दार्थ —बद—खराब न भाखे भेद—भेद नही कहे हैं।

अर्थ —जो कम चुपचाप और छुप कर किये जाते हैं उन सब को वेदो ने बुरा बताया है। सब उन्हें अनुमान से समझ लें। हमने उनके भेदो को खोल कर नही कहा है।

अरुनसीख जनु टेरि कहि, चुटकी बजइ गुलाब।
अरि अतक सिर[1] तहुँ न क्यो, हरि जप करे सताब ॥४४५॥

शब्दार्थ —अरुनशीख—अरुनशिखा, मुर्गा अरि अतक—कालरूपी शत्रु, सताब—(फा० शताब), शीघ्र, फौरन।

अर्थ —मुर्गा बाँग लगाकर और गुलाब की कलियाँ चटक कर प्रात तुझे पुकार कर कहती है, (कालरूपी) दुश्मन तेरे सिर पर खडा है। फिर तू अविलम्ब हरि-भजन क्यो नही करता ?

साहस कबू न कीजियें, होइ पुन परिताप।
भयो विचारे बिनहि ज्यो, गहे छछूँदर साप ॥४४६॥

शब्दार्थ —परिताप—दु ख, पश्चात्ताप।

अर्थ —बिना विचार कभी साहस नही करना चाहिए क्याकि इससे फिर परिताप होता है। वैसे ही जैसे यदि बिना विचारे साँप छछूँदर को पकड ले तो उसे पश्चात्ताप होता है। वह उसे न छोड सकता है न खा सकता है।

विशेष —ऐसा प्रसिद्ध है कि छछूँदर को खा लेने से साप को कोढ और छोड देने से अधा हो जाने का भय रहता है। इसीलिए 'साप छछूदर की गति' प्रसिद्ध है। मिलाइये 'भइ गति साँप छछूदर केरी"—तुलसी।

धुनेधार दारिदि रुनि,[2] भो वैरागी जाय।
जाके न्हाने[3] दुख टर्यो, का न होइ हरि गाय ॥४४७॥

शब्दार्थ —धुनेधार—गुनहगार, दारिद—दरिद्र, रुनी—ऋणी, भो—हुआ।

अर्थ —जब गुनहगार, दरिद्र और ऋणी का विरक्त होने के बहाने

१ शिर, २ रुनी, ३ वाने (मू०)।

दु ख टल जाता है तो फिर सच्चे हृदय से भगवान को भजने से क्या नही हो सकता ?

सदाकाल यह नहि रहैं, यों बिचारे प्रतिछन्न।
हरष शोक[1] व्यापे नहीं, रहैं ग्रेक रस मन्न ॥४४८॥

शब्दार्थ —शोक—शोक, दु ख ।

अर्थ —यदि तू प्रतिक्षण यह विचारे कि 'यह सदैव नही रहेगा' तो तुझे न हर्ष व्यापेगा और न शोक और तेरा मन सदा एक-रस रहेगा ।

जीवतलो भच्छन[2] ग्ररु, मरन टारि हैं ताप।
ग्रहार-योग रच्छन[3]-मरम, करिहे ग्रायुर ग्राप ॥४४९॥

शब्दार्थ —मरम—मृत्यु का कारण, मर्म स्थान, ग्रायुर—ग्रायु ।

अर्थ —जीते जी तू खाने-पीने की ग्रौर मृत्यु की, दोनो चिंताग्रो को त्याग दे। तेरी ग्रायु स्वयं तरे लिए ग्राहार जुटा देगी ग्रौर मृत्यु से तेरी रक्षा करेगी।

विशेष —ईश्वर ने जितनी ग्रायु तुझे दी है तू उतना जियेगा फिर तू ग्राहार ग्रौर मृत्यु की चिंता क्यो करता है ?

करनी के वस सगती, सगत के बस मन्न।
मन हीं के बस रसिक सब, रसिकन के बस तन्न ॥४५०॥

शब्दार्थ —रसिक—रस का ग्रास्वादन करने वाली इद्रियाँ ।

अर्थ —पूर्व जन्म में जैसे कर्म किये हो वैसी सगति मिलती है, जैसी सगति होती है वैसा मन होता है। जैसा मन होता है वैसी इद्रियाँ होती हैं ग्रौर जैसी इद्रियाँ होती हैं वैसा तन होता है।

विशेष —तात्पर्य यह कि ग्रच्छे कम करने चाहिए ।

ग्राछो ग्रज्ञानी[4] कियो, नीको पूरन-ज्ञान[5]।
बुरो जु[6] सकर जाति सो, जानहु खरो ग्रजांन ॥४५१॥

शब्दार्थ —ग्राछो—ग्रच्छा, सकर—वर्णसकर, ज्ञानी-ग्रज्ञानी का सकर रूप।

---

१ अरघ शोष, २ भच्छन, ३ ग्रहार-योग रच्छन, ४ ग्राछयो ग्रग्यानी (मू०), ५ ग्यान(मू०), ६ जु,

अर्थ :—अज्ञानी भी अच्छा और पूर्ण-ज्ञानी भी अच्छा। जो ज्ञानी और अज्ञानो का मिला रूप (संकर जाति) का हो वह बुरा। उसी को सच्चा अज्ञानी समझो।

विशेष :—जो अज्ञानी है वह प्रत्येक कार्य पूछ कर करता है। ज्ञानी प्रत्येक कार्य सोच-विचार कर करता है। पर जो संकर जाति का होता है अर्थात् जो अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको ज्ञानी समझता है वह वास्तव में बुरा होता है क्योंकि वह मूर्खतापूर्ण कार्य करता है।

दानों दुसमन हू भलों, बुरो मीत नादांन।
अहित हु में हित सुज्ञके, लें जड़ कों हित प्रान ॥४५२॥

शब्दार्थ :—दानो—बुद्धिमान; नादान—मूर्ख; सुज्ञ—समझदार, जड—मूर्ख।

अर्थ :—दाना दुश्मन अच्छा, नादान दोस्त बुरा। समझदार के द्वारा किये गये अहित में भी हित होता है और मूर्ख के द्वारा किया गया मूर्खतापूर्ण हित भी प्राणघातक होता है।

विशेष :—पण्डितोऽपि वरं शत्रुः न मूर्खो हितकारकः

जतन कियों सम्यक प्रथम, सब कृतिमांज सुजांन।
रुक्यो न रहि फिरि गुल्म ज्यो, बरि[1] बरियान कमान ॥४५३॥

शब्दार्थ :—सम्यक—उचित; गुल्म—गोला; बरि—जलकर; कमान—धनुष, यहाँ तोप के अर्थ में प्रयुक्त; बरियान—बत्ती।

अर्थ :—हे सुजान पुरुषो, सब कामो में पहले से प्रयत्न करना (सावधानी रखना) ही उचित है। तोप के गोले की बत्ती सुलग जाने के बाद उसे रोका नहीं जा सकता।

समय समुझि सुखकर सुघर, सदा सुखद इक नांहि।
उष्ण सीत सित उष्णदा, जिमि कुप अप बर छांहि ॥४५४॥

शब्दार्थ :—सुघर—चतुर; कुपअप—कूप का जल; बर-छांह—वटवृक्ष की छाया।

अर्थ :—जो समय को देखकर तदनुकूल प्रिय कार्य करे वही चतुर है क्योंकि कोई भी वस्तु सदैव एक-सी सुखद नहीं होती। कुऐं का जल और वड

१. बरि (मू०)।

की छाया श्रेष्ठ है क्योंकि वह ग्रीष्म में शीत और शीतकाल में ऊष्ण है।

सिमल सुमन स्त्री सैल लगि, रम्य समर बत दूर।
कृष्ण सुमन सरवत्र इक, लखि असमीप हजूर ॥४५५॥

शब्दार्थ—सैल—शैल, पर्वत, रम्य—सुन्दर, समरबत—युद्ध की बात, सुसम—सुषमा, सौंदर्य, असमीप—दूर, हजूर—पास।

अर्थ—सेमल का फूल, स्त्री, पर्वत और युद्ध की बात दूर से ही सुहानी प्रतीत होती हैं। किन्तु कृष्ण की सुषमा सर्वत्र एक-सी है, चाहे उसे दूर से देखिये चाहे पास से।

तनक बुराई तुरत भल, जामे अति परिनाम[1]।
कठ कटै कटु ना कहैं, सो न सयानो काम ॥४५६॥

शब्दार्थ—सयानो काम—समझदारी का काम, उचित कार्य।

अर्थ—जिस ('ना' कहने) का परिणाम शांतिदायक हो उसके लिए तनिक बुराई सह लेना भी उचित है। जिसके परिणामस्वरूप आगे चलकर कठ कटने की नौबत आये उस 'ना' को समय पर न कहना कोई सयाना कार्य नहीं है।

हरि होनो करने हरी, हरि यह बातें सैल।
पै मन क्रम बच हरि हरी, बननों सो मुसकेल ॥४५७॥

शब्दार्थ—हरि होनो—आत्मज्ञान से हरि-रूप होना, करने हरी—हरि को हरि करके (सब दु:खों को हरनेवाला) मानना, सैल—सरल, हरि हरि बननो—हरि के हरिरूप के समान बनना (अपना दु:ख कहकर हरि को दुखी न करना और हरि की पुष्टिमार्गीय पद्धति से सेवा करना), मुसकेल—मुश्किल, कठिन।

अर्थ—आत्मज्ञानी बनना और ईश्वर से दु:खों को हरने की प्रार्थना करना बहुत आसान है। पर मन, वचन और कर्म से (पुष्टिमार्गीय पद्धति के अनुसार) हरि की सेवा करना बहुत कठिन है।

गो पालन ललचाइ तूं, गोपाल न चित चाहि।
गो पालन भे नाहि अब, गोपाल न गहि बाहि ॥४५८॥

---

[1] शांत परिनाम।

शब्दार्थ —गो—(१) इंद्रियाँ, (२) वाणी (वचन)।

अर्थ — तू इंद्रियो पर आसक्त हो गया है और इसीलिए अब गोपाल का ध्यान नही करता। तुझे अपने वचन के पालन का भी अब भय नही है। याद रख गोपाल बाँह पकड़कर तेरा उद्धार नही करेंगे।

विशेष —जन्म से पूर्व जीव ने वचन दिया था कि वह मनुष्य-देह धारण करके ईश्वर का भजन करेगा, पर इंद्रियासक्ति के कारण वह अपने वचन को भूल बैठा।

हरिसत्तासो भल अभल, कृति सबहीतें होइ।
पन जिमि दिनमनि दीप लो, अलग उभय फल सोइ ॥४५९॥

शब्दार्थ —दिनमनि—सूर्य, उभय-फल—पाप-पुण्य दोनो का फल।

अर्थ .—हरि की सत्ता से ही सब लोगो से भले-बुरे कर्म (पाप-पुण्य) होते है। वैसे ही जैसे दिनमणि और दीप के प्रकाश से ससार के सब कर्म होते है। पर कर्मों के पाप-पुण्य का फल जैसे इन्हे नही व्यापता, वैसे ही हरि को भी नही लगता। फल सदा कर्म करनेवाला ही भोगता है।

चित्त अेक द्वैं अैन[1] दें, कोउ न लहियतु च्हैंन।
गड फुलेंवो गायवों, दुहु जस सग बनें न ॥४६०॥

शब्दार्थ —अैन—अयन, स्थान।

अर्थ .—एक चित्त को दो स्थानो पर देकर कोई चैन नही पा सकता। गाल फुलाना और गाना जैसे कभी भी एक साथ सम्भव नहीं हो सकता।

परदु ख दे अस लेत सुख, पर-सुख दे अस दूख।
पी पानी दे रुधिर वे ले पय पलटि पियूख[2] ॥४६१॥

शब्दार्थ —पियूख—अमृत।

अर्थ —दूसरा को दु ख देकर लिया गया सुख और दूसरो को सुख देकर लिया गया दु ख क्रमश पानी पीकर बदले में दिये गये रुधिर के समान (निकृष्ट) कष्टदायी है और दूध देकर लिये गये अमृत के समान (श्रेष्ठ) सुखदायी है।

साध्य असाध्यहुँ होय क्षित[3], कियें समुझि अभ्यास।
हरि अति अजितहु बस करे, प्रेम भजन तें दास ॥४६२॥

---

१ चैन, २ पियूष, ३ कि।

शब्दार्थ —अजित—जिसे न जीता जा सके।

अर्थ —समझ करके अभ्यास करने से असाध्य भी साध्य हो जाता है। हरि अत्यंत दुर्जय हैं, पर उनके दास प्रेम-भक्ति से उन्हें भी वश में कर लेते हैं।

सो०—जब तरुवर को फूल तब वाको फल होत हैं।
वे लखि नर मत भूल, जो[1] फल्यो तो फल गयो ॥४६३॥

शब्दार्थ —तरुवर—वृक्ष, फूल्यो—पुष्पित हुआ (२) घमंड किया।

अर्थ —जब वृक्ष फूलता है तभी फल होते हैं। पर हे नर, तू उसे देखकर भूल मत कर बैठना। यदि तू फूला तो फल गया ही समझना।

विशेष —फूलना वृक्ष को ही शोभा देता है, मनुष्य को नहीं। जो मनुष्य फूलता है (घमंड करता है) वह फलों (सुपरिणामों) से वंचित हो जाता है।

गुनि रिपु औगुन तें न मरि, गुन अमि और मिलत।
घ्रत मधु सम सजोग गर, त्यौं मनुवे मनियत ॥४६४॥

शब्दार्थ —गुनि—गुणी, अमि—अमृत, गर—गरल, विष, त्यों मनुवे मनियत—ऐसा ही करो तभी वे मानते हैं।

अर्थ —गुणी शत्रु अवगुणों से नहीं मर सकता (क्योंकि गुण अमृत रूप है, उसे अवगुण-रूपी विष नहीं व्यापता) उसे मारने के लिए तो गुण हैं, रूपी अमृत और मिलाना चाहिए। जैसे कि घृत और मधु दोनों अमृत हैं, पर सम भाग में मिलने पर विष बन जाते हैं, वैसे ही गुणी शत्रु गुण करने से ही अपना अंत मानता है।

प्राकृत फलदा धरम-सो, मुढ फांसि अे मानि।
बिख मोदिक दे राज सुख व्होर नक[2] असुहानि ॥४६५॥

शब्दार्थ —प्राकृत फलदा—माया के फल को देने वाला, व्होर—बहुरि, फिर, असु—प्राण।

अर्थ —माया रूपी फल देने वाले धर्म को निश्चित रूप से फाँसी के समान मानो। विष के लड्डू प्रत्यक्ष रूप से राजसुख देते हैं, पर पीछे उनसे प्राणों की हानि होती है और नरक प्राप्त होता है।

---

१ ज्यों २ कर्ण।

सोच पोच जिय क्यों करे, हरि कृति सब सुखदाय।
तुरत उलट समुझ न परे, अतिहि गुप्त अभिप्राय ॥४६६॥

शब्दार्थ —पोच—निकृष्ट, तुच्छ, तुरत—तुरत, तत्काल।

अर्थ —हे पोच जीव, तू सोच क्यों करता है? हरि की सभी कृतियाँ सुखदायी हैं। तत्काल वे तुझे उल्टी अर्थात् दु:खदायी प्रतीत होती हैं, वे तुझे समझ नही पड़ती, क्योंकि उनका अभिप्राय अत्यंत गूढ होता है, पर होती वे सभी तेरे हित में हैं।

शिक्षा विवेक

भलो भले को सब दिखे, बुरो बुरेको होइ।
दुष्ट युधिष्ठिर ना मिल्यो, साधु सुयोधन कोइ ॥४६७॥

शब्दार्थ —सुयोधन—दुर्योधन।

अर्थ —भले को सब भले और बुरे को सब बुरे दीखते हैं। (हस्तिनापुर में घूमते समय) युधिष्ठिर को कोई दुष्ट नही मिला और इसी प्रकार दुर्योधन को कोई सज्जन नहीं दिखाई दिया।

सज्जन दुरिजन सो भिडी, कबहू बिजै[1] न पाय।
क्योंहू छुरि ऊँचे निचे, ककरी काटी जाय ॥४६८॥

शब्दार्थ —भिडी—भिडकर, लडकर बिजै—विजय।

अर्थ —सज्जन दुर्जन से लडकर कभी भी विजय नहीं पा सकता। छुरी ऊपर हो चाहे नीचे, कटती हमेशा ककडी ही है।

नीच न नीको श्रुति लग्यो, बडेहु कों दुखदाय।
कीस तुपक ज्यो[2] करन लगि, उदर उठावें लाय ॥४६९॥

शब्दार्थ —श्रुति—कान, कीस—बदर, बदूक चलाने का खटका, तुपक—छोटी तोप, बदूक, लाय—अग्नि।

अर्थ —नीच को कान लगाना (मुँह लगाना) अच्छा नहीं। बडा को भी ऐसा नीच दु:खदायी सिद्ध होता है। तोप के कान में यदि बदर लगे तो उसके उदर में अग्नि धधक उठती है।

---

१ बिजैय २ कीस लगावे तुपक ज्यों।

पुष्ट रहे पर कष्ट मे, ग्रेही दुष्ट सुभाय।
ग्राक जवासा ग्रीस्म मे, हरे ग्रोर दुख पाय ।।४७०।।

शब्दार्थ :—पुष्ट—फूले हुए, तृप्त; सुभाय—स्वभाव।

ग्रर्थ :—परकष्ट में पुष्ट रहना, यही दुष्ट का स्वभाव है। गर्मी में जब ग्रौर सब पेड़-पौधे दु.ख पाते हैं तब ग्राक ग्रौर जवासा हरे-भरे रहते हैं।

स्वारय विनहु श्रम करो, ग्रोंर बिगारें कांम।
ग्रेसें जग में दोई हैं, मूसा ग्रोर गुलांम ।।४७१।।

शब्दार्थ :—मूसा—चूहा।

ग्रर्थ :—बिना किसी स्वार्थ के श्रम करके दूसरो का काम बिगाड़ने वाले इस संसार में दो ही हैं : एक तो मूसा ग्रौर दूसरा गुलाम।

ग्रेंतों गुन न मिल्यों भलों, करि, ग्रहि, गो, मृग, सूर।
जातें सुख कछु हे न गुनि, प्रानहानि तन चूर ।।४७२।।

शब्दार्थ :—गुण—विशिष्टता; करि—हाथी; ग्रहि—सर्प; गो—गाय, मृग—हरिण; सूर—शूरवीर; न गुनि—नगण्य-सा; चूर—नाश।

ग्रर्थ :—ऐसा गुण (वैशिष्ट्य) तो न मिला ही भला जैसा कि गज को (गजमुक्ता), सर्प को (नागमणि) गाय को (पुच्छ-चामर), मृग को (कस्तूरी) ग्रौर शूरवीर को (वीरता) के रूप में मिला है। इससे सुख तो कुछ है नहीं ग्रौर यदि है तो नगण्य-सा। इससे तन का नाश ग्रौर प्राणों की हानि होती है।

विशेष :—तन ग्रौर प्राणों का त्याग करने पर ही ये विशिष्ट वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।

दियो गयों प्रिय दुसह दुख, ततछन महा बियोग।
वारो ताके कदन पें, ग्ररब खरब क्षेंरोग ।।४७३।।

शब्दार्थ :—कदन—मरण, दुख; दुसह दुख—भारी दु ख; महावियोग—मृत्यु।

ग्रर्थ :—किसी प्रियजन को उसके प्रेमपात्र की ग्रोर से किसी कारणवश दुस्सह दु.ख दिया गया, जिसके फलस्वरूप तत्काल उसकी मृत्यु हो गई। यह देखकर उस जीवित प्रेमीजन को जो दु.ख हुग्रा वह ग्रकथनीय है। कवि कहता है

कि उसके दुःख पर वह अरब-खरब क्षय रोगों को वार सकता है।

विशेष :—वियोग का दुख जीवित रहकर सहना अरब-खरब क्षय रोगों से भी अधिक दु.खदायी है।

सुखदायक जो सबल कों, दुष्ट, लगें दुख दाय।
होत ज्योंन[1] सुच[2]ज्योंन निसि, दस्यु लिखत दुलखाय ॥४७४॥

शब्दार्थ :—ज्योन—जोन्ह (सं० ज्योत्सना) चाँदनी (२) ज्योन—(फा० जहान) संसार (३) ज्योन—ज्यो न; सुच—सुख, दुलखाय—दुलखाय का उल्टा, दुलखाय, दुखी; दस्यु—चोर।

अर्थ :—जो वस्तु सब को सुखदायक लगती है वह भी दुष्ट को दु.खदायी प्रतीत होती है। चाँदनी रात सारे ससार को सुखदायक प्रतीत होती है, पर चोर को वही दु.खदायी प्रतीत होती है।

विशे :—इस दोहे का दो तरह से अर्थ हो सकता है (१) होत जहान सुख (२) होत ज्यों न सुख।

निबल होय बड़ बात कहि, सो काहू न पत्याय।
नभ थाबन कों कुररि जस राखें ऊँचे पाय ॥४७५॥

शब्दार्थ :—पत्याय—पतियाय, विश्वास करे; कुररि—टिटहरी।

अर्थ :—निर्बल होकर यदि कोई बड़ी बात कहता है तो उसकी बात पर कोई भी विश्वास नही करता। जैसे कि टिटहरी आकाश को थामने के लिए ऊँचे पाँव रखकर सोती है।

गुन पें गुन सब करतु हैं, यह जग रीति प्रकास।
पें औगुन पें गुन करें, हरि कैधों हरिदास ॥४७६॥

शब्दार्थ :—गुन—गुण, भलाई; कैधो—किधौं, अथवा; हरिदास—हरि-भक्त।

अर्थ —गुण पर तो सभी गुण करते हैं, यह जग की प्रकट रीति है। *किन्तु अवगुण पर गुण करने वाले या तो हरि है या हरिभक्त हैं।*

धन, तिय, निंद, कलंक-पर, पंगु, क्लीब, मुक, अंध।
बिरला जानी जग करे,[3] जाकों संत समंध[4] ॥४७७॥

१. ज्योंन, २. सुख, ३. बिरला जानि होत जग, ४. सन सनेप।

शब्दार्थ —तिय—स्त्री, निंद—निंदा, कलक-पर—दूसरे की बुराई क्लीब—नपुसक, मुक—मूक, सत-समव—सत्सवध ।

अर्थ —दूसरे के धन को प्राप्त करने के लिए पगु, दूसरे की स्त्री क सामने नपु सक, दूसरे की निंदा करन क अवसर पर मूक और दूसरे के कलक देखने के अवसर पर अधे के समान आचरण विरला ही कोई इस ससार में करता है और वही करता है जिसे जीवन में सत्सग का अवसर मिला है।

दुष्ट हृदैं कपट कवु, टरे न सतसग लागि ।
जल निमग्न निति तहुँ रहें, पाहन उर जसि आगि ॥४७८॥

शब्दार्थ —कवु—कबहु, कभी ।

अर्थ —सत्सग के प्रभाव से भी दुष्ट के हृदय से कभी छलकपट दूर नही होता। पत्थर सदैव जल में डूबा रहे फिर भी उसके उर की आग सुरक्षित रहती है।

हरें और अज्ञान बुध, ताकों फिर बुध और ।
मिलत दीप ज्यो परस्पर, टरें तिमिर दुहुँ ठोर ॥४७९॥

शब्दार्थ —बुध—पडित, तिमिर—अधकार ।

अर्थ —पडित दूसरा का अज्ञान हरत हैं, पर उनका अज्ञान दूसरे पडित हरते हैं। (अर्थात् कोई पडित स्वय का अज्ञान नहीं हर सकता) जैसे कि दो दीपक जब परस्पर मिलते है तो (दोनो ही प्रकाशित हो उठते हैं और) दोना के पीछे की ओर का तिमिर नष्ट हो जाता है।

करें अंक भल अभल कृति, दुख सुख अति जिय होय ।
भगिरथ अरु ज्यों शक्रकृति, गगा हत्या दोय ॥४८०॥

शब्दार्थ —अभल—बुरी, जिय—जीव, प्राणी, शक्र—इन्द्र, हत्या—इन्द्र के द्वारा की गई ब्रह्महत्या का प्रसग ।

अर्थ —यदि कोई भला अथवा बुरा कृत्य करता है तो उसका सुख-दु खदायी परिणाम अनेक प्राणिया का भोगना पडता है। उदाहरणार्थ भगीरथ के प्रयत्नो से गगावतरण हुआ जिसके प्रभाव से अनेक जीव पाप मुक्त हुए। इसी प्रकार इन्द्र की ब्रह्महत्या का पाप लगा। इस पाप का फल जड-जगम सभी को भोगना पडा।

दे सो पावे वेद वच, पैं क्यों कहियें सत्य।
बकि माधो माहुर दयो, कस पाई सुभ गत्य ॥४८१॥

शब्दार्थ —सो—वैसा ही देसो पावँ—जैसा करता है वैसा ही भरता है वच—वचन, बकि—पूतना, महुर—विष, कस—कैसे, गत्य—गति।

अर्थ —जो जैसा करता है वह वैसा ही भरता है—यह वेद वचन है, पर इसे सत्य कैसे कहें? पूतना ने श्रीकृष्ण को विष दिया, फिर वह सद्गति को कैसे प्राप्त हुई?

ब्रह्म कहें भगवत हू, दें फल भाव प्रमान।
हरियें सर को व्याध वें, लह्यो सतन सुरथांन ॥४८२॥

शब्दार्थ —ब्रह्म—वेद सर—वाण, व्याध—शिकारी, सुरथान—स्वग।

अर्थ —वेदो का कथन है कि भगवान भी भाव (श्रद्धा-भक्ति) के अनुसार फल देते हैं। व्याध ने हरि के चरणो में बाण मारा, किन्तु बदले में उसे सदेह स्वर्ग जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सो बड़ सूधे मग चलें, कुटिल गती मतिमद।
लख लेहू शतरज ज्यो,[1] सूतर ग्रौर गयद ॥४८३॥

शब्दार्थ —सूधे मग—सीधे रास्त, कुटिल—टेढ़ी, सूतर—ऊँट, गयद—हाथी।

अर्थ —जो बडा बुद्धिमान होता है वह सीधे सरल मार्ग पर चलता है, जो नीच मतिमद होता है वह कुटिल गति ग्रहण करता है। शतरज के खेल में हाथी ग्रौर ऊट को देख लो।

विशेष —शतरज के खेल में हाथी सीधा ग्रौर ऊँट टेढ़ा चलता है। टेढो-वक्र गति के सबध मे निम्नलिखित उक्तिया द्रष्टव्य हैं — प्यादा से फरजी भयो टेढो-टेढो जाय'—रहीम। 'चलत जोंक जिमि वक्रगति'—तुलसी।

हरि न गड़े उर बडे सो, ग्रैसे जग मे जानि।
सब ज्यो कहत बडो भयों, होत दीप जब हानि ॥४८४॥

शब्दार्थ —बडो भयो—बुझ गया।

अर्थ —जिनके हृदय में हरि नही गडे, (अर्थात् आ भगवद्भक्त नहीं हैं)

---

१ ल्यों।

ऐसे बड़े आदमियो को जग में बढ़े (बुझे) हुए दीपक के समान जानो। जब दीपक बुझता है तो सब कहते हैं कि वह बढ़ गया, बड़ा हो गया।

जंबिर रस हरिजन बचन, छत सों कछुक कुबांन।
लगे दुसह व्हां सकल तन, सीतल सुरभि समांन ॥४८५॥

शब्दार्थ :—जंबिर—जबीर, नीबू; छत—क्षत, घाव, कुबान—कुटेव, लत।

अर्थ :—हरिजन के वचन नीबू के रस के समान लगने में तीक्ष्ण पर परिणाम में गुणकारी हैं। जिस तरह नीबू का रस क्षत पर लगने पर दुसह दु:ख देता है, पर परिणामस्वरूप सकल तन को शीतल सुरभि के जैसा आनन्द देता है, उसी तरह हरिजन-वचन प्रकट में कुटेव वालो को कटु, पर प्रच्छन्न रूप से हितकारी सिद्ध होते हैं।

विशेष :—"हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः"—(कालि०)

सुखद सकल इक दुःखद को, पोच कहे अग्यांत[1]।
आज अखिल आनंद कर, ज्यों कुपथ्य जुरमांत ॥४८६॥

शब्दार्थ :—आज—आज्य, घृत; जुरमान—ज्वरमान, ज्वर ग्रस्त।

अर्थ :—सब के लिए जो सुखद है, वही यदि एक के लिए दु:खद है तो उसे बुरा कहने वाले अज्ञानी है। इसमें उसका कोई दोष नही, जिसे वह दुःखद प्रतीत होता है उसी का दोष है। घृत सब के लिए आनंददायक है, किन्तु ज्वरग्रस्त को कुपथ्य के कारण दु:खदायी बन जाता है।

गुन सों सबको जीव हैं, अगुने मृतक समान।
बिना जियारी जंत्र ज्यों, फीकों रुचें न कान ॥४८७॥

शब्दार्थ :—गुन—गुण (२) डोरा; जियारी—जवारी, तंबूरे के तार के नीचे का डोरा जिसके सहारे तार देर तक झंकृत होता है (३) साज के झंकृत होने का गुण।

अर्थ :—गुण ही सब वस्तुओं का जीव है। गुण के अभाव में सब मृतक-

१. अज्ञान।

समान है। देखिये बिना जवारी का साज फीका लगता है और कान को नहीं रुचता।

विशेष :—बडी मौलिक एवं सुन्दर उक्ति है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दयाराम को वाद्य संगीत की बारीकियों का अच्छा ज्ञान था।

किसब बड़ों तिहुँ लोक में, पैयें दे जुगदीश।
ज्यों पार्यें पघरी-त्रिया, चढ़ी मरद के शीश ॥४८८॥

शब्दार्थ :—किसब—कसब, काम, पेशा, व्यवसाय (२) पगडी के छोर का चिल्ला, पघरी-त्रिया—पगडी स्त्रीलिंग है।

अर्थ :—कसब की महिमा अपार है। तीनो लोक में उसका सम्मान है, पर वह मिलता है जगदीश की कृपा और इच्छानुसार ही। पगडी के 'कसब' है तो देखिये स्त्री होते हुए भी वह मर्द के शीष पर चढ़ बैठी है।

विशेष :—व्यवसाय सब से बडी वस्तु है। उसी से मनुष्य का सम्मान है। ईश्वर जो व्यवसाय दे उसे प्रामाणिकता से करना चाहिए।

सौभरि को उदवाह का, कित गुनिका कित ग्यान[1]।
पात पावद[2] श्रेय बकि[3], हरि इसा बलवान ॥४८९॥

शब्दार्थ :—सौभरि—एक ऋषि जो जल के अंदर बैठकर तपस्या करते थे; उदवाह—लग्न, विवाह; गुनिका—गणिका, पिंगला; पात—पतन, पारपद—पार्षद (जय, विजय नामक); बकि—पूतना; इसा—इच्छा।

अर्थ :—कहाँ सौभरि ऋषि और कहाँ लग्न ! कहाँ गणिका (पिंगला) और कहाँ ज्ञान ! जय विजय पार्षदों का स्वर्ग से पतन और पूतना का मोक्ष। ये सभी अनहोनी बातें हुई। हरि इच्छा बलवान है।

विशेष :—सौभरि ऋषि दुसंग से इतना डरते थे कि जल में बैठकर तपस्या करते थे, पर विधि की विचित्रता देखिये कि उन्हें पचास नारियों से विवाह करना पड़ा।

आज न अैसो कृष्ण को, अप्त करें तुव नाम।
अघ अघाय कें जियेंगों, पठयौं मो उरधाम ॥४९०॥

शब्दार्थ :—अघ अघाय कें—पापो से तृप्त होकर, नाम—कृष्ण, अर्थात् पाप हरने वाला दे० कर से करम कान्ह ते कहिये। -

---

१ ग्यान, २ पारपद, ३, बकि श्रे।

अर्थ —हे कृष्ण, आज ऐसा कोई भी नहीं है जो आपके नाम को आहार देकर तृप्त कर सके। आप अपने नाम को मेरे उर धाम में भेज दीजिए (यहाँ पाप ही पाप हैं) वहाँ वह तृप्त होकर जियेगा।

विशेष —'नाम' का आहार पाप है। कवि कहता है मेरा हृदय पाप का भंडार है वहाँ अपने नाम को भेज दीजिए। कवि व्याज से कृष्ण नाम की महिमा का वर्णन करता है और उसे हृदय में धारण करना चाहता है।

बूयौं तारो आप बल, तब तारन सत नाम।
चाहि उपल उद्धर्न को[1], प्लव तुम्बा कों काम ॥४६१॥

शब्दार्थ —बूयौं—बूड्यो, डूबा हुआ उपल—पत्थर, प्लव—नौका (उडुप, पोत, नौका, प्लव, तरि, वहित्र, जलयान—भ० गो० म०)।

अर्थ —डूबे हुए को आप अपने बल से तारें तभी आप का तारनहार नाम सत्य सिद्ध हो। पत्थर उद्धार की अपेक्षा रखता है। नाव और तूबे का तो (तैरना) कार्य ही है।

विशेष —आप मेरे जैसे अधम का उद्धार करें तभी आपका तारनहार नाम सार्थक हो।

साधन बल हो तरूंगो, प्रभु का तुम[2] अँसांन।
करिहो तारन बरद का, डारि सिधानो लोन ॥४६२॥

शब्दार्थ —अँसान—एहसान सिधाना—सैंधव, सैंधा नमक, अचार।

अर्थ —हे प्रभु, यदि मैं अपने साधन बल से ही तरूँगा तो फिर उसमें आपका एहसान ही क्या है ? लेकिन यह तो बताइए कि आप अपने तारन विरुद (यश) का क्या करेंगे। क्या नमक डालकर उसका अचार बनायेंगे ?

कुश्चित कृति जानो बनो, अँहि अविद्या जोर।
नट नारी बनि लेत ज्यों[3], जानहु को चित चोर ॥४६३॥

शब्दार्थ —कुश्चित—कुत्सित, अविद्या—माया, जानहु को—जानने वाले का।

---

१ को 'मु०', २ तुव, ३ त्यों।
नोट मूल प्रति में ४६० के पश्चात् ४६२ वाँ दोहा है तदनन्तर दोहा नं० ४६१ है।

अर्थ —जो जानता है कि यह कर्म कुत्सित है वह भी कुत्सित कर्म करता है। यही तो अविद्या का जोर है। नट ही नारी बनता है, यह सब जानते हैं। पर जानने वालो का भी वह चित चोर लेता है।

जस जाने हरि होइ तस, यह न्हैंचें निसश।
भाव मान भासें सवन, रगस्थल प्रह[1] कस ॥४६ ॥

शब्दार्थ —न्हैंचे—निश्चय, निसश—बिना सशय के, भासें—प्रतीत हुए।

अर्थ —यह निश्चित और सशयरहित बात है कि भगवान के प्रति जिसकी जैसी भावना होती है उसे वह वैसा ही दिखाई देता है। देखिये कस के घर रगमडप म जब श्रीकृष्ण पधारे तब जैसा जिसका भाव और जैसी जिसकी मान्यता थी उसे व वैसे ही दिखाई दिये।

विशेष —तुलसी के राम के प्रति कहे गये निम्नलिखित उद्धरण से मिलाइये—'जिन्ह क रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।'

कछु मति कुट सिद्धान्त यो, दें द्रष्टात बताय[2]।
अनु अच्छर उपनयन जिमि, दें फुट वृद्ध दिखाय ॥४९५॥

शब्दार्थ —कछु-मति—साधारण बुद्धि वाला, कुट सिद्धात—कूट, गूढ सिद्धात, अनु अच्छर—छोटे अक्षर, उपनयन—चश्मा, फुट—स्फुट, वृद्ध—वृद्ध, बूढ़ा।

अर्थ —साधारण बुद्धि वाले को भी दृष्टात कूट सिद्धात समझा देता है। वैसे ही जैसे चश्मा वृद्ध आदमी को छोटे-छोटे अक्षरो को स्पष्ट करके दिखा देता है।

ऊच, अवच, बड, छोट कृति[3], बनि तासों अनु ओर।
मौली, पनही, असि, छुरी भलें सवें निज ठोर ॥४९६॥

शब्दार्थ —अवच—(स० वि०) अवच अधम, नीच, मौली—मौलि, मुकुट, पनही—जूती, असि—तलवार।

अर्थ —ऊँच हो चाहे नीच, बडा हो चाहे छोटा। जो जिसका काम है वह उसी से होता है। मुकुट उत्तम और जूती निम्न है, तलवार बडी और छुरी छोटी है पर सभी अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। छोटी चीज की आवश्यकता

१ ग्रहें, २ बुताय 'मू०', ३ बड स छोट कृति 'मू०'।

कभी बड़ी चीज से पूरी नहीं हो सकती।

विशेष —मिलाइये—जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवार।

सुलट उलट दुरबिदसों,[1] परम लछ्छ कवि म्हूर।
वस्तु मीच बुध यों दिखें दूर निकट ढिग दूर ॥४६७॥

शब्दार्थ —दुरबिंद—दूरबीन, लछ्छ—लक्ष्य, कवि—ज्ञानी, म्हूर—मूढ़ ढिग—निकट।

अर्थ —ज्ञानी और मूढ़ का देखने का स्वभाव दूरबीन की सुलटी और उलटी तरफ के जैसा है। दूरबीन से सुलटी तरफ से देखने पर पास की चीज भी दूर दिखाई देती है। मृत्यु जैसी चीज ज्ञानी को दूर होते हुए निकट और मूढ़ को निकट होते हुए भी दूर दिखाई देती है।

म्रड मन्यू बिधि अपुज ससि[2] लक्ष्म क्षार ककोस।
ऐसे सकल सदोष हैं, हरि एकहिं निरदोस ॥४६८॥

शब्दार्थ —म्रड—शिव, मन्यु—क्रोध विधि—विधाता, अपुज—अपूज्य, जिसकी पूजा न हो लक्ष्म—कलंक ककोष—(क=जल, कास=कोष) सागर।

अर्थ —शिव जी में क्रोध है, विधाता की पूजा नहीं होती, शशि में कलंक है और सागर में खार है। इस प्रकार सभी सदोष हैं, निर्दोष तो केवल परमात्मा है।

अंतरजामी तें कछु, दुरै न सत्य असत्य।
मन मूस्यो मनसुब न ज्यों, रहि आतें उत्पत्य ॥४९९॥

शब्दार्थ —मूस्यो—छिपा हुआ मनसुब—मनसूबा, विचार।

अर्थ —अंतर्यामी से सत्य असत्य कुछ भी छिपता नहीं। वैसे ही जैसे मन से उत्पन्न होने वाला मनसूबा मन से नहीं छिप सकता।

जाको कृष्ण समद्ध सो वृथा न बोलें बात।
गडकि सिल[3] ज्यों कसोटी, कहैं कनक जो जात ॥५००॥

शब्दार्थ —समध—सबध, गडकि—गलकी (गडका) नदी, गडकि सिल—

१ दुर्बिद 'मु०' २ रासा, ३ सिर।

काला पत्थर, कसौटी, सिल—शिला।

अर्थ —जिसका कृष्ण से सबध है वह कभी वृथा बात अर्थात् झूठ नही बोलता। जैसे कि गडकी नदी के काले पत्थर से बनी कसौटी स्वर्ण की जो भी जात होती है तुरत बता देती है।

विशेष —गडकी नदी का पत्थर काला होता है। उसका यह कालापन, रग की दृष्टि से कृष्ण से सबधित है। शालिग्राम-स्वरूप है। इसीलिए सोने के खरे-खोटे को वह परखता है।

जड हारद समुझे बिना, ले भाजें[1] बतबोल।
भाखा भाखें[2] सकल ज्यो, बिन बीवी चडोल ॥५०१॥

शब्दार्थ —जड—मूर्ख, हारद—(स० हार्द), मनोभाव, मर्म, बतबोल—बात के शब्द, बीवो—तीव्र इच्छा (भ० गो० म०)।

अर्थ :—मूर्ख, बात का मर्म समझे बिना ही उसके शब्द ले दौडते हैं। जैसे कि चडोल पची अनिच्छा से अर्थात् समझे बिना सब भाषाएँ बोलता है।

रचना रजें जाहि को, मोह बढावें मन्न।
वह करता मे का कमी, क्यो न भजे हरि जन्न ॥५०२॥

शब्दार्थ —रजे—रजन करे, करता—कर्ता।

अर्थ —जिसकी रचना रजन करती है और मन का मोह बढ़ाती है, उस कर्ता में क्या कमी है ? हे जन तू उस हरि को क्यो नही भजता है ?

जिन मार्यो ताको असि, पार्यो, ताको ध्रह्म।
ताकी बिद्या जिन पढ़ी, भजें वाहिके ब्रह्म ॥५०३॥

शब्दार्थ —ताको—उसका, असि—तलवार।

अर्थ :—जिसने मारी उसकी तलवार, पाला उसका धर्म, पढी उसकी विद्या और भजा उसका ब्रह्म—ये चार वस्तुएँ जो श्रम करता है उसी की होती हैं।

विशेष —कवि ने 'असि का प्रयोग पु० मे किया है।

भर्यो करस आनद रस, नये बिन और लहैं न।
भये त्रिभगी ताहि तें, कृष्ण कृपा के अँन ॥५०४॥

---

[1] भाजत, [2] भाषा भाखें।

शब्दार्थ :—करस—कलश, नये बिन—झुके बिन; लहैं—प्राप्त करे, मॅन—प्रयत्न ।

अर्थ :—आनंद रस से भरे कलश को झुकाये बिना उसमें से कोई कुछ प्राप्त नही कर सकता। कृपा के प्रयत्न थो कृष्ण इसीलिए झुके हुए (त्रिभंगी बने हुए) है कि जिससे भक्त को कष्ट न हो।

सरनों ताकों लीजियें, जिहि अरि चलें न जोर।
काम बामतें बैर जब, भें ज्यों कृष्ण किशोर ॥५०५॥

शब्दार्थ :—रसनो—शरण, अरि—दुश्मन; वाम—महादेव; कृष्ण-किशोर—कृष्ण का पुत्र।

अर्थ :—अपने से अधिक शक्तिशाली से बैर होने पर किसी ऐसे की शरण लेनी चाहिए जिस पर दुश्मन का जोर न चले। जब कामदेव का महादेव से बैर हुआ तो कामदेव ने कृष्ण के पुत्र रूप में जाकर जन्म ले लिया।

सपट जेभ्ररी[1] कलश बधि, डारि कूप कछ पानि।
व्हालों[2] आस अखील की, त्यों समद्ध हरि जानि ॥५०६॥

शब्दार्थ :—सपट—पट सहित, जेहरी—जेभ्ररी, राज० जेवडी, डोरी, अखिल—सब कुछ।

प्रसग कल्पना :—कवि एक प्यासे आदमी का दृष्टात देता है। जो गहरे कुएँ से पानी निकालने के लिए डोरी के साथ अपने कपडे भी बाँध देता है और कपडे का अतिम छोर हाथ में पकड कर कुएँ से पानी निकालने का प्रयत्न करता है।

अर्थ :—वस्त्र बाँधकर लम्बी की गई डोरी को कलश से बाँधकर कुछ पानी के लिए जिसने कुएँ में डाल दिया है उसे तब तक सभी वस्तुओं की (वस्त्र, डोरी, कलश, पानी इत्यादि) की आशा रखनी चाहिए, जब तक वस्त्र का छोर हाथ से न छूटे। छोर के हाथ से छूटते ही सब गया समझना चाहिए।

विशेष :—हरि का सबंध भी इसी प्रकार का है। यदि भक्त थोडा-सा सबध भी बनाये रखे तो वह सब कुछ पाने की आशा रख सकता है।

नाम बड़ों नहि, सगुन यड़, करे प्रनत को ख्याल[3]।
का गुपाल इक नंदसुत, और न गोप गुपाल ॥५०७॥

१ जेहरी, २ व्हॉलों, ३ न्ह्याल।

शब्दार्थ :—प्रनत—शरणागत; न्याल—निहाल।

अर्थ :—नाम बडा नही है। गुण बडा होता है। बडा वही है जो शरणागत को निहाल करे। क्या नन्दसुत ही एक गोपाल है? क्या अन्य गोप गोपाल नही है? पर कृष्ण ही गोपाल कहलाते हैं क्योंकि वे बडे गुणों से विभूषित हैं।

> अपेय रससों रसधि रस, रस भो मिलि रस अंग।
> फिरि रसधर मुख रस बन्यो, लखि फल भल खलसंग ॥५०८॥

शब्दार्थ :—रस—पानी (२) जहर; रसधि—समुद्र, रसधर—सर्प।

प्रसग :—कवि ने सुसग और कुसग के प्रभाव को दिखाया है।

अर्थ :—न पीने योग्य समुद्र का खारा पानी, मेघ के साथ मिलकर सुस्वादु बन गया। किन्तु वही सुस्वादु जल सर्प के मुख में पड़कर कुसग के प्रभाव से विष बन गया। भले और बुरे के साथ का परिणाम इससे स्पष्ट हो जाता है।

विशेष :—रस शब्द के विशेषार्थ देखने योग्य हैं।

> रसन बसन पर श्रम न कछु, श्रीशगोत्र बड़ ग्यांन।
> क्यों न रटैं आयुर घटैं, कहैं तो बरजें कान ॥५०९॥

शब्दार्थ :—रसन—रसना, जीभ; बस न पर—पर बस न, पराये वश में नही है; श्रीश—श्रीकृष्ण; गोत्र—नाम; तो—तुझे, बरजना—रोकना, इन्कार करना।

अर्थ :—तेरी जीभ पराये वश में नही है, कुछ श्रम भी तुझे नही करना पड़ता, श्री कृष्ण के नाम के माहात्म्य से भी तू परिचित है। फिर भी तू (नाम) रटता नही, तेरी आयु घटती जा रही है। बता तुझे रोकता कौन है?

> जूठ भखन कों पाप वड़, जूठ भखन कों पुन्य।
> परहितु इक पर-भाव बिन, दोहू[1] फलमे सुन्य ॥५१०॥

शब्दार्थ :—जूठ भखन—(१) झूठ बोलना (२) जूठा खाना; पर-भाव —(भाव = प्रेम) अन्य के प्रति प्रेम।

---

१. दोउ।

अर्थ—झूठ बोलना बडा पाप है और जूठा खाना बडा पुण्य है, पर यदि परहित के लिए झूठ बोला जाय तो उसका फल अर्थात् पाप शून्यवत् हो जाता है। इसी प्रकार महापुरुषो का उच्छिष्ठ अन्न खाना पुण्य है, पर यदि वह पर-भाव बिन (श्रद्धा के अभाव में) खाया जाय तो उसका फल अर्थात् पुण्य भी शून्यवत् हो जाता है।

विशेष :—जूठ भखन को पुण्य—दयाराम वैष्णव भक्त थे। वैष्णव संप्रदाय में गोसाइयों के उच्छिष्ठ (जूठन) का बडा भारी महत्त्व है। भावुक भक्त उसे बडी श्रद्धा के साथ प्रसाद मानकर आरोगते है।

गुह्य समुझि कृति जो करैं, कठिन सरल सु अचीर।
बरतुल बिध सत ताल ज्यों, अेक तीर रघुबीर ॥५११॥

शब्दार्थ—गुह्य—मर्म, अचीर—अचिर, अल्प समय में।

अर्थ—मर्म को समझकर जो कार्य करता है, उसके लिए कार्य कठिन होते हुए भी सरल होकर अल्प समय मे ही सम्पन्न हो जाता है। जैसे कि रामचन्द्र ने गोलाकार में उगे हुए सात ताडो को एक ही तीर से बेंध डाला।

विशेष :—वर्तुलाकार म उगे हुए ये सात ताड-वृक्ष एक अजगर पर उगे हुए थे। रामचन्द्र जी ने इस मर्म को समझ कर उसकी पूँछ दबाई जिससे अजगर सीधा हो गया। तब रामचन्द्र जी ने एक ही तीर से सातो ताडों को बेंध डाला।

रसिकराय[1] रागी सुघर, नटवर नंदकिशोर।
कामिनिकंदा कामजित, बंधे सिर पर मोर ॥५१२॥

शब्दार्थ :—कामिनिकदा—(कामिनि+क+दा) कामिनियों को सुख देने वाले, रागी—प्रेमी।

अर्थ—श्री नदकिशोर रसिकराय, प्रेमी, चतुर, सुदर, कामिनियो को सुख देने वाले काम को जीतने वाले है। (इतने गुणो से विभूषित होने के कारण ही संभवतः) उन्होंने शीश पर मयूर पख धारण किया है कि यदि किसी अन्य में इतने गुण हो तो वह स्पर्धा करे।

विशेष :—बिहारी से तुलना कीजिए—'मनु ससि सेखर की अकस,
किय सेखर सतचंद।'

---

१. रसिकराज (मू०)।

मन विचार पल-पल पृथक, अकथ सकत कथि कान ।
जिमि कुसअनि उपकनि[1] वरन, पलटैं प्रति भामान ॥५१३॥

शब्दार्थ —कुसअनि—डाभ अकथ कान—अकथनीय ह, कोई कह नही सकता उपकनि—ओस के कण भामान—प्रकाशमान ।

अर्थ —मन क विचार प्रतिपल बदलत हैं । मन की यह प्रक्रिया अकथनीय ह । कोई भी इस कह नही सकता । जिस प्रकार कुश की नोक पर पडी हुई ओस की बूदा का वण सूयरश्मियो के पडन पर निरतर परिवर्तित होता रहता है वैसे ही मन के विचार बदलत रहत हैं ।

नाथ उदर नाहक दियौं, भल कर, पद श्रुति बाक ।
ग्रेक याहि लगि जात सब, धम, तेज, बल नाक ॥५१४॥

शब्दार्थ —याहि लगि—इसी के कारण वाक—वाक् वाणी नाक—प्रतिष्ठा ।

अर्थ —ह नाथ ! आपन मुझ पेट व्यथ ही दिया । हाथ पग कान, वाणी दी, सो ठीक ह । क्योकि इसी (पेट) क कारण धम तेज बल और प्रतिष्ठा चली जाती ह ।

मीत मीत सहजहिं अरी, अरि अरि सहजहिं मीत ।
बाली बैर सुग्रीव का, कवि मयक कहा[2] हीत ॥५१५॥

शब्दार्थ —मीत—मित्र (विशषाथ म पत्नी), कवि—शुक्राचाय ।

अर्थ —मित्र (प्रिया) का मित्र स्वाभाविक रूप से वरी और वैरी का वैरी स्वाभाविक रूप से मित्र होता ह । बाली और सुग्रीव म कहाँ का बैर था तथा शुक्राचाय और चद्रमा म कौन-सा प्रेम था ?

विशेष —सुग्रीव का अग्रज वाली अपन अनुज की पत्नी रूमा का मित्र था । अत 'मीत मीत सहजहिं अरि' याय से वाली और सुग्रीव म वैर हुआ । इसी प्रकार चद्रमा का वैर देवगुरु बृहस्पति से था क्योकि चद्रमा उनकी पत्नी तारा को हर लाया था किन्तु देवगुरु बृहस्पति का वैर दैत्यगुरु शुक्राचाय से था अत अरि अरि सहजहि मीत' याय से चद्रमा और शुक्राचाय मित्र हुए ।

जो जिहि फल को पात्र हे तातैं रिझियत तेह ।
स्वकिया अथ न रज ही सामान्या पति नेह ॥५१६॥

१ उपकली उसकनी, २ कहा ।

शब्दार्थ :—स्वकिया—स्वकीया नायिका = पत्नी; रंजही—संतुष्ट होती, रंजित होती; सामान्या—वेश्या।

अर्थ :—जो जिस फल का पात्र होता है वह उसी फल से रीझता है। स्वकीया अर्थ से और सामान्या प्रेम से नही रीझ सकती। अर्थात् स्वकीया प्रेम और सामान्य अर्थ की अपेक्षा रखती है।

तिमिसे अघ मो अमित को, यादस सुकृत न संक।
हरि रावरि इक तिमिंगल, अनक्रोस[1] पुर रंक॥५१७॥

शब्दार्थ :—तिमि—भीमाकार पौराणिक कछुआ (२) समुद्र; यादस—(सं० यादस्), जलजंतु; सुकृत—सुकृत्य, पुण्य, तिमिंगल—एक बड़ी (पौराणिक) मछली; अनुकोश—कृपा।

अर्थ :—मेरे पाप समुद्र से अथवा तिमि रूप कछुए के समान अमित हैं, उन्हें जलचर रूपी सुकृत्यों का भय नहीं है। हे हरि, आपकी तिमिंगल रूप मछली के सामने ही वह वहाँ दीन हो सकेगा।

विशेष :—भगवत्कृपा विना महापापी से मुक्ति सभव नहीं।

कासिप, रावन, सुयोधन, धाता हर बल पच्छ[2]।
स्वजन द्रोहि लहि हरि हते, तब न भई विन रच्छ[3]॥५१८॥

शब्दार्थ :—कासिप—हरिण्यकशिपु, धाता—विधाता; हर—महादेव, वल—वलदेव जी; पच्छ—पक्ष, रच्छ—रक्षा।

अर्थ :—हरिण्यकशिपु, रावण और दुर्योधन को क्रमशः विधाता, महादेव, और वलराम का आश्रय था, पर जब स्वजन-द्रोह करते देखकर हरि ने उन्हें मारा तब उनकी रक्षा कोई नही कर सका।

अंब, त्रपा, रुज[4] दें बितथ, काहि धर्यो जन देह।
भर्यो अज ग्रिव उरजसों, कीजत नां हरिनेह॥५१९॥

शब्दार्थ :—अब—माता; त्रपा—लज्जा; रुज—कष्ट, वितथ—मिथ्या, व्यर्थ; अजग्रिव उरज—(अजा + ग्रीव + उरोज) बकरी के गले के स्तन, व्यर्थ की वस्तु।

अर्थ :—हे जन! तुझे ईश-भजन नही करना था तो यह देह क्यों धारण

१. अनुकोस, २ पक्ष, पक्ष ३. रक्ष, रच्छत, ४ रुझ।

की ? माँ को तूने व्यर्थ ही लज्जित किया और कष्ट दिया। अब बकरी के गले के स्तन के समान तेरा अस्तित्व है, तू हरि से स्नेह क्यो नही करता ?

होइ न कहूँ कनिष्टसों कबहू काज महान।
सुन्यों न देख्यों आज ल्यों[1], फूंक चल्यों जलजांन ॥५२०॥

शब्दार्थ :—कनिष्ट—छोटा; जलजान—जलयान, जहाज।

अर्थ :—कही भी कभी छोटे से बडा काम नही होता। फूंक से जलयान को चलता हुआ न कही देखा, न कभी सुना।

विशेष :—रहीम से तुलना कीजिए —

रहिमन छोटे नरनसो, होत बडो नही काम।
मढो दमामो ना बने, सो चूहे के चाम॥

अनिपें धीर सुबीर बड, अनिजित तस न कहाय।
यह भय क्रूर कृतांततें, सब जिहि जाय घिघाय॥५२१॥

शब्दार्थ :—अनि—अग्रभाग (सेना आदि का), (२) भारी विपत्ति; तस—वैसा; कृतात—यमराज; जाय घिघाय—भयभीत हो जाय, छक्का छूट जाय।

अर्थ :—सेना के अग्रभाग मे अथवा भारी विपत्ति में जो दृढ एवं धैर्यवान बने रहते है, वे ही बडे वीर है। सेना को जीतने वाले भी वैसे (वीर) नही कहला सकते। क्योंकि इस (विपत्ति) का भय यमराज से भी अधिक डरावना होता है, जिसे देखकर सब घिघिया जाते है।

छनमे तुष्ट अतुष्ट छिन, नहिं थिरता मन बैंन।
भूत केसि वह संगती, हुइ निदांन दुख अैंन॥५२२॥

शब्दार्थ :—तुष्ट—संतुष्ट, प्रसन्न, अतुष्ट—असंतुष्ट, अप्रसन्न; छिन—क्षण; थिरता—स्थिरता, बैंन—शब्द।

अर्थ :—जो क्षण मे प्रसन्न और क्षण मे अप्रसन्न हो, जिसके मन और वचन मे अस्थिरता हो। उसकी संगति अन्त मे भूत के समान दुखदायी सिद्ध होती है। अत ऐसे व्यक्ति से दूर ही रहना चाहिए।

---

१. लौं।

कूकर हार चबाय ह्वाँ, आवत लखें गयंद।
भुस भाजें ले समुझि यों, लेंगो यह मतिमंद ॥५२३॥

शब्दार्थ :—कूकर—कुत्ता, हार—हड्डी।

अर्थ :—मतिमंद कुत्ता हड्डी को चबाते समय हाथी को आता देखकर भूकने लगता है और यह समझकर कि यह मेरी हड्डी छीन लेगा, वह मतिमंद अपने खाद्य को लेकर भागता है।

जीत ओर सब जक्त है, हारे कों हरि अेक।
मरम समुझि कें बोलिवों, अेसो बिरल बिवेक ॥५२४॥

अर्थ :—जीतने वाले की ओर सारा जगत रहता है। हारने वाले की ओर केवल एक हरि रहते हैं। बात के मर्म को समझकर बोलने का विवेक बहुत कम लोगों को होता है।

विशेष :—इस दोहे मे प्रथम और द्वितीय पक्ति में पारस्परिक सम्बन्ध नहीं दृष्टिगत होता। खीचन्तान कर ऐसा अर्थ बैठाया जा सकता है कि ऐसा विवेक विरल, बहुत कम, लोगों में होता है जो मर्म की बात समझकर हारे हुए की भी सराहना करें। अन्यथा हारे हुए का अवलंब तो एकमात्र श्री हरि है।

जनम देत जुगदीस जिहि, तस बल होइ निभाव।
ज्यों हिम बिच बिल करि बसत, मूपक न अवर बचाव ॥५२५॥

शब्दार्थ :—मूपक—चूहा।

अर्थ :—जिसको जगदीश जहाँ जैसा जन्म देते हैं वहाँ उसका निर्वाह हो जाय ऐसा बल भी देते हैं। जैसे कि हिम में रहने वाले चूहे अन्य कोई बचने का उपाय न देखकर बर्फ के बीच ही बिल बनाकर बसते हैं।

जनमपत्रि सब जगत की, रचि राखी गोपाल।
तामें तें फिरि अब्दफल, लखत बिधाता भाल ॥५२६॥

शब्दार्थ :—जनमपत्रि—जन्मकुण्डली; अब्दफल—वर्षफल; भाल—ललाट (२) देखकर।

अर्थ :—श्रीकृष्ण ने सारे संसार की जन्मपत्री रच रखी है। विधाता तो केवल उसमें से भाल पर अब्दफल लिखता है। अथवा विधाता तो उसमें से देखकर केवल अब्दफल लिखता है।

दहत दुःख दुस्तर हु सद, जो करतब हरि आप।
वज्रनभि उद्धव न क्यों, लाग्यो द्रुजकों श्राप[1] ॥५२७॥

शब्दार्थ :—सद—सद्य, तत्काल, करतव—कार्य, कर्तव्य; वज्रनाभ और उद्धव—यादव कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण के प्रपौत्र, मित्र; द्रुज—द्विज, दुर्वासा।

अन्वय :—'दु.ख दुस्तर हु सद दहत'

अर्थ :—दुस्तर दु ख भी, यदि श्री कृष्ण चाहें तो तुरन्त भस्म हो सकते हैं। दुर्वासा ने जब यादवों को घोर शाप दिया तो कृष्ण की कृपा से वज्रनाभ और उद्धव को वह पाप नही लगा।

हरिजन तन करनी न बस, धरत तजत नहि ताप।
होत ईस ईंत्साहितें, जैसें कचुंकि साप ॥५२८॥

शब्दार्थ :—तन—शरीर, ईंत्साहितें—इच्छा हो से।

अर्थ .—हरिजन तन-करनी के वश में नही है। उसे तन को धारण करने मे अथवा त्यागने में उसी प्रकार पीडा नही होती जैसे कि सर्प को कंचुकी उतारने में। यह सब कार्य, ईश्वरेच्छा ही से होते है।

जनक जननिगत परित्सा, सुनु अशक्य पितु मात।
मित संकट, दारिद्र तिय, बाटा बांटत भ्रात ॥५२६॥

शब्दार्थ :—परित्सा—परीक्षा; सुनु—पुत्र; अशक्य—अशक्त; बाटा बाटत—सपत्ति का बँटवारा करते समय।

अर्थ :—पिता की परीक्षा माता की मृत्यु के पश्चात्, पुत्र की परीक्षा माता-पिता के अशक्त हो जाने पर, मित्र की परीक्षा सकट के समय, पत्नी की परीक्षा दरिद्रता में और भाई की परीक्षा सपत्ति के बँटवारे के समय होती है।

सोरठा : भासें अपने दोष[2], सकल ठौर गुन और के।
सो भौं सुधरम कोस, परता प्रति प्रतिबिंबसी ॥५३०॥

शब्दार्थ :—भासे—कहे; भौ—हुआ; कोस—कोश; परता—परायापन।

अर्थ :—जो अपने दोष और दूसरों के गुणो का सब जगह बखान करे, उसके पास सुधर्म का कोश सचित हुआ ऐसा मानना चाहिए। उसे पराये भी अपने प्रतिबिम्ब के समान अपने ही प्रतीत होते हैं।

---

१. शाप, २. दोख।

दोहा :—क्रोधी तोंहू अमल भल, कपटी शांत हु निष्ट।
जानहुं बीछु सांप ल्यो, आरति कर इक रिष्ट ॥५३१॥

शब्दार्थ :—अमल—निष्कपटी; निष्ट—नीच; आरति कर—कष्टदायक; रिष्ट—मृत्युदायक।

अर्थ :—कपट-रहित क्रोधी भला। क्रोध रहित (शांत) कपटी बुरा। जैसे कि बिच्छू और सर्प में—बिच्छू-दंश कष्टदायक होते हुए भी प्राणघातक नहीं है। अतः भला है। किन्तु सर्पदंश कष्टदायक न होने पर भी प्राणघातक है, अतः बुरा है। सारांश यह कि निष्कपट क्रोधी शांत कपटी से अच्छा है।

दर राख्यो हरि तब रमा, तम फिरि तो अरि तेज।
विभुहैं तहुं सावध लिख्यों, गरुर ध्रुज अहिसेज ॥५३२॥

शब्दार्थ :—दर—शंख; रमा—लक्ष्मी, तम फिरि—अंधकार (माया) की ढाल; अरितेज—तेजयुक्त सुदर्शन; विभु—प्रभु; गरुरध्रुज—गरुडध्वज; अहिसेज सर्प-शैया, दारिद्रय।

अर्थ :—प्रभु होते हुए भी विष्णु ने कितनी सावधानी बरती है। उन्होंने यदि (दारिद्रय-सूचक) शंख को ग्रहण किया तो समृद्धि की स्वामिनी रमा को भी अपनाया। यदि मायारूपी अंधकार की ढाल रखी तो तेजयुक्त सुदर्शन चक्र भी रखा। यदि सर्प को शय्या रखी तो गरुड की ध्वजा भी रखी।

प्रियमिलाप, अरि हानि अरु, आत्मस्तुति तियनैंन।
इप्सितफल सब काहु कों, लगि अमृत के अॅन ॥५३३॥

शब्दार्थ —इप्सित—इच्छित; अॅन—अयन, भंडार।

अर्थ :—प्रिय से मिलाप, दुश्मन को हानि, अपनी बड़ाई, नारी के प्रेम-कटाक्ष और अभीप्सित फल की प्राप्ति, प्रत्येक को अमृत के भंडार के समान सुखदायी लगते है।

समुझ परी हरिबात कछु, अनत[1] लग्यो चित जाय।
विख मिलाय अमृत पिवत, जस तस स्वाद वहु पाय[2] ॥५३४॥

शब्दार्थ :—अनत—अन्यत्र।

अर्थ :—जब कुछ हरि (भक्ति) की बात समझ में आई तभी चित्त अन्यत्र

१.अनृन, २. विप मिलाय सिंधु पिवत अन, तस सवाद वह पाय।

(माया म) जा लगा। अमृत और विष मिला कर पीने के जैसा ही स्वाद इस प्रकार की विरोधी प्रवृत्तिया म रस लन वाल व्यक्ति को आता है।

विशष —आध्यात्मिक प्रवत्ति का उदय होन के पश्चात् सासारिक प्रम का उपभोग करन वाल को विष मिश्रित अमृत का सा स्वाद आता ह।

परको देखें दोष[1] अनु, अपनो अति समझें न।
कुरुप झेरि विछु अं कहे, ज्यो अहि बनि गुनग्रेंन ॥५३५॥

शब्दार्थ —अनु—अणुवत सूक्ष्म अहि—सप।

अर्थ —जो पराय के अणुमात्र दोप का देख और जो अपन महान दोप को भी दोप न समझ एसा मनुष्य उस सप के समान ह जो विच्छू को कुरूप और जहरी कह तथा अपन आपका गुणो का भडार मान।

चिता तू सुघर हु सदय, करे च्यतुर[2] कों सग।
ज्ञानी मुग्ध नचिंतता, बहुत रक पे रग ॥५३६॥

शब्दार्थ —सुघर—चतुर सदय—दयावान मुग्ध—मूढ।

अर्थ —ह चिता तू सुघर और सदय है इसीलिए तो तू चतुर और रक का सग करती ह। हाँ, ज्ञानी और मूढ निश्चित रहत हैं, उनस तरी नही बनती।

विशेष —वक्रोक्ति।

साच ठरेगो बरद क्यो, अधमुद्धर हरि आप।
सुभ कृति निति प्रति पचूगो, जो न करूगो पाप ॥५३७॥

शब्दाथ —बरद=बिरुद, यश अधमुद्धर—अधमो का उद्धार करन वाल।

अर्थ —ह हरि, यदि मै पाप न करक शुभ कृत्य करन का ही नित्य प्रति प्रयत्न करूँगा तो फिर आपका अधम उधारन बिरुद कैसे सत्य होगा? (मै तो आपके हित को ध्यान में रखकर ही पाप कर रहा हूँ।)

विशेष —बिहारी से तुलना कीजिए—

करो कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।'

---

१ दाख, २ चतुर।

सहज विलोकत वदन छव, लगत कलक श्रमंद ।
मनों भये व्रजचंद तुम, नभीचोय[1] के चंद ।।५३८।।

शब्दार्थ :—ग्रमद—तुरंत; नभीचोय—भाद्रपद की चौय (गणेश-चतुर्थी) उस तिथि को चंद्र-दर्शन से कलक लगता है ।

संदर्भ :—गोपिका-वचन व्रजचन्द के संबंध में ।

श्रर्थ :—हे व्रजचन्द, ग्रापके मुख की शोभा के दर्शन मात्र से तुरंत कलक लगता है (लोग बातें बनाने लगते हैं) मानो आप व्रजचन्द से नभी चोथ चंद, चौथ के चन्द्रमा बन गये हैं ।

हरि के सघरी वामता, ग्रोर वासना वाम ।
करि तो सुठि उर वामसों, वसो कृष्ण व्हा वाम ।।५३९।।

शब्दार्थ :—हरिकैं—हरकर; सधरी—समस्त; वामता—कुटिलता; वाम—१. कुटिल, २. कामदेव, ३. महादेव, ४. सुन्दर ।

श्रर्थ :—समस्त कुटिलता ग्रौर कामवासना को हरकर मेरे हृदय को शिव-समान पवित्र करके हे सुन्दर श्री कृष्ण ग्राप वहाँ वसिये ।

भव भय हरि हरि करि सुभव, दीजे भव रस पान ।
मेरौं वहैं भव तव सुफल, विनती कृपानिधान ।।५४०।।

शब्दार्थ :—भव-भय—सासारिक भय, सुभव—कल्याण, भव-रस—महादेव पान करते हैं वह (प्रेम) रस; भव—संसार ।

श्रर्थ :—हे कृपानिधान, सासारिक भय को हर कर मेरा कल्याण कीजिये ग्रौर प्रेमरस का पान कराइये तभी मेरा जीवन सार्थक होगा । मेरी ग्रापसे यही विनती है ।

काम कृष्ण, तम भ्रिह्य, मद, जनत्व हरिजन मोह ।
लोभ भजन, मत्सर ग्रध्रम, करि यो कनक जु लोह ।।५४१।।

शब्दार्थ :—तम—क्रोध; भ्रिह्य—ग्रालस्य; मद—ग्रहंकार; जनत्व—दासत्व; मत्सर—ईर्ष्या ।

ग्रवतरण :—कवि जीवात्मा से कहता है ।

ग्रर्थ :—हे जीव, कामवासना ग्रर्थात् ग्रासक्ति रखनी है तो कृष्ण के

---

[1] नभचोथी ।

प्रति रख, क्रोध करना हो तो अपने आलस्य पर कर अहंकार करना हो तो दासत्व पर (कि मैं कृष्ण का दास हूँ) कर, मोह करना हो तो हरिजन से कर, लोभ करना हो तो भजन का और ईर्ष्या करनी हो तो अधम से (पाप न करने से) कर। ऐसा करके लोहे को स्वर्ण बना ले।

विशेष —कवि षट्रिपुओं को वश में करने की युक्ति बताता है।

> ज्हा न काम चातुर्ज को, ग्रैसो नहि को काम।
> कबु न बने पकवान ज्यो, बिना स्नेह को ठाम ॥५४२॥

शब्दार्थ —चातुर्ज—चातुर्य्य, चतुरता स्नेह—घृत, तैल।

अर्थ —ऐसा कोई भी काम नहीं जिसमें चातुर्य्य की आवश्यकता न हो। बिना घी के जैसे कभी कहीं पकवान नहीं बन सकते।

> उत्तम मध्यम अधम की, कृपा रीस अस भाइ[1]।
> गाठि[2] लोम प्रतिलोम जिमि, पाट, दुकूल रजाइ[3] ॥५४३॥

शब्दार्थ —रीस—रिस, क्रोध, पाट—रेशमी वस्त्र लोम-प्रतिलोम—सीधा-उलटा।

अर्थ —उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के मनुष्यों की कृपा और रिस पाट, दुकूल और रजाई की गाँठ के जैसी लोम-प्रतिलोम होती है।

विशेष —पाट की गाँठ एक बार पड़ने पर फिर नहीं खुलती, इसी तरह सज्जन की कृपा और अधम का क्रोध भी एक बार बनने पर स्थायी रहता है। दुकूल की गाँठ मध्यम कोटि के मनुष्य की कृपा और रीस (क्रोध) के जैसी मध्यम होती है। रजाई की गाँठ अधम पुरुष के स्नेह और उत्तम के क्रोध की जैसी तुरत खुलने वाली होती है।

> व्रखा[4] कृष्णनिसि सरुचि उड दुर्पे जिगनु झलकार।
> तैसें कलि बलि खल, प्रबल, साधु सुगुन भडार ॥५४४॥

शब्दार्थ —व्रखा—बरखा, वर्षा, कृष्णनिसि—अंधेरी रात, सरुचि—कांति सहित, उड—उडुगण, तारे।

अर्थ —वर्षा ऋतु में प्रकाशवान तारागणों का प्रकाश क्षीण हो जाता है और जुगनुओं के अल्प प्रकाश में वृद्धि हो जाती है। इसी भांति आज कलियुग में सगुणों के भंडार साधुओं का बल क्षीण होकर दुष्टों के बल में वृद्धि हो रही है।

---

[1] भाइ, [2] गाँठि, [3] रजाई, [4] व्रखा।

जो मति पाछे ऊपजी[1] सो क्यों भई[2] न बेग ।
अहो इत्सा कृष्णकी, जिन मन धरि उद्वेग ॥५४५॥

शब्दार्थ '—बेग—पहले, इत्सा—इच्छा, उद्वेग—चिंता, पश्चाताप ।

अर्थ —हे मन, मन में उद्वेग मत धारण कर कि जो मति पीछे उत्पन्न हुई वह पहले क्यों नहीं हुई ? कृष्ण की यही इच्छा थी ।

गुनगन पै अभिमान कछु, होमे बिन न रहाइ ।
पगा पाय गभीर ज्यों, भौंरि यौंहि परिजाइ ॥५४६॥

शब्दार्थ —पगा—(सं० आपगा) नदी, पाय—(सं०पायस्) जल, भौंरि—भँवर ।

अर्थ —गुणों के अधिक होने पर अभिमान हुए बिना नही रहता है । जैसे कि नदी में जल अधिक हाने पर भँवर पड़ ही जाता है ।

हरि प्रसाद गुन वृद्धि ज्यों, मद छिनता त्यो पाय ।
जिमि सालीफल सुद्रुम रस, लहि तस नये हि जाय ॥५४७॥

शब्दार्थ —गुन—गुण, छिनता—क्षीणता, साली—(सं० शालि) चावल, धान, सुद्रुम—अच्छे वृक्ष, नये हि जाय—नीचे झुकते जाते हैं ।

अर्थ '—हरि के प्रसाद से प्राप्त गुणा में ज्यो-ज्यो वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यो मद क्षीण होता जाता है । धान और फलवाले वृक्षा के फलो के रस में ज्यों-ज्यो वृद्धि होती जाती है, त्यो-त्यो वे नीचे झुकते जाते हैं ।

विशेष —भवन्ति नम्रास्तरव फलागमैः ।

अब न काम कछु राम कहु, लह्यो अस न को काल ।
कढ्यो सु अपनो बरत ग्रह, ले यों नाम गुपाल ॥५४८॥

शब्दार्थ —लह्यो—अनुभव किया, कढ्यो ग्रह—(कहावत) जलते घर में से जो निकला सो अपना ।

अर्थ —'अब मुझे कुछ काम नहीं है, चलो राम का ही नाम लूं'—ऐसा तूने कभी नहीं अनुभव किया । खैर, जलते घर में से जो बचे उसे ही अपना समझ । अब (शेष आयु में) यो गोपाल का स्मरण कर ले ।

पराधीन आर्थे रहे, वह किल हतेहि जाइ ।
जस इराव को मोंहरा, आपन मरत न घाइ ॥५४९॥*

---

१ ऊपजी, २ भई, *मूल में ५४६ दोहा पहले है, ५४८ बाद में ।

शब्दार्थ —किल—निश्चित, हतेहि जाइ—मारे जायें, इराव—अडदब, ऐरा, शतरज की बाजी की एक विशेष स्थिति ।

अर्थ —जो पराधीन के आश्रय में रहता है वह निश्चय ही मारा जाता है। जैसे कि शतरज के खेल में (अडदब में पडे हुए मोहरे के जोर पर पडा हुआ मोहरा पिट जाता है।) अडदब का मोहरा अपने आश्रित को बचा नही पाता ।

विशेष —पराधीन का आश्रित निश्चय ही मारा जाता है।

जाकों मूल हिमायती, रचि ता घर उस्ताद ।
हनि ताकों म्होरा उडत, हतत सबल ज्यों बाद ॥५५०॥

शब्दार्थ —हिमायती—हिमायत करने वाला, सहायक, रक्षक, बाद—व्यर्थ ।

अर्थ —जिसे मारना हो उसके मूल हिमायती के लिए उस्ताद पैदा करो। (ऐसा करने से उसका बल व्यर्थ हो जायगा) जैसे कि शतरज के खेल में (उडत मारते समय) सजोरा मोहरा भी (सबल) राजा को शह लगने के कारण पिट जाता है।

विशेष —दुश्मन के मूल हिमायती को मारो, दुश्मन बेजोरा होकर स्वय मर जायगा ।

जूठ वचन, निज पराजय, वल्लभ को दुख पूर ।
सबे अरुच रुचहूँ कदा, जानत[1] रसिक चतूर ॥५५१॥

शब्दार्थ —वल्लभ—प्रियतम, पूर—पूर्ण, कदा—कभी ।

अर्थ —झूठा वचन, अपनी पराजय, प्रिय को अत्यत पीडा सभी को अरुचिकर होती है। पर चतुर रसिक जानते हैं कि कभी-कभी उपर्युक्त तीन वस्तुएँ रुचती भी हैं।

विशेष —रति-क्रीडा के समय नारी की झूठी 'ना,' पुन से पराजय और अपने प्रेम में पागल प्रिय की वदना भी आनददायी होती है।

जो शत्रु कों सहज बुरि, सो शत्रु सें प्रान ।
ज्यों जन करि कों जसम जुर, उलट सुलट अनुमान ॥५५२॥

शब्दार्थ —करि—हाथी, जुर—ज्वर, उलट सुलट—क्रम बदलकर, उलट-पुलट करके ।

---

१ अनेन ।

अर्थ :—जो वस्तु एक के लिए साधारण दुःख मात्र होती है, वही दूसरे के लिए प्राणघातक भी हो सकती है। जैसे कि (जन के लिए ज्वर और हाथी के लिए घाव की पीड़ा साधारण होती है पर यदि) जन को जखम और हाथी को ज्वर हो तो वह प्राणघातक सिद्ध होता है।

लोभा व्हां सोभा नहीं, नहो प्रेम जिहि[1] नेम।
जिहां[2] कांम व्हां रांम नहि[3], नां कुसंग जिहि छेम ॥५५३॥

शब्दार्थ :—लोभा—लोभ; सोभा—शोभा, सम्मान; नेम—नियम; छेम—कुशलता, कल्याण।

अर्थ :—जहाँ लोभ होता है वहाँ सम्मान नही होता, जहाँ नियम की पाबंदियाँ (कायदे कानून) होते है, वहाँ प्रेम नही होता। जहाँ कामवासना होती है, वहाँ राम, आध्यात्मिक भक्ति भावना और जहाँ कुसंग हो वहाँ कल्याण नही होता।

काव्य देखि हुइ करामलक, कवि के हिय की वात।
मूल रूप प्रतिनिधी तें, हुबहू जांन्यो जात ॥५५४॥

शब्दार्थ :—हुइ—होती है; करामलक—हाथ में रखे आमले की भांति स्पष्ट; प्रतिनिधी—प्रतिमा। यहाँ कवि ने प्रतिनिधि शब्द का प्रयोग प्रतिमा के अर्थ में किया है।

अर्थ :—काव्य को देख कर कवि के हृदय की बात हाथ में रखे आंवले की भाँति स्पष्ट हो जाती है। प्रतिमा को देखने पर मूल रूप (जिसकी प्रतिमा होती है उस) की हूबहू जानकारी मिल जाती है।

काम परो मति काहुसों, बिना भक्त भगवंत।
सब को नीके वांहिलौं, ज्यो लौं कियों न तंत ॥५५५॥

शब्दार्थ :—सबको—सब कोई; वाहिलों—तभी तक; तंत—(सं० तंतु अथवा तत्व) काम की बात।

अर्थ :—भगवान और भक्त जनो के अतिरिक्त अन्य किसी से काम न पडे। वैसे तो सभी अच्छे हैं, पर तभी तक जब तक उनसे काम न पड़े, या उनकी जाँच न की जाय।

१. जहँ, २. जिहाँ, ३. नतु।

बड़े छोट सों मति लरों[1], दुहु विधि दुःख जा मांहि।
जो हारे अपकीर्ति अति, जीते हू जस नांहि ॥५५६॥

अर्थ :—हे बडे आदमियो, तुम छोटो से मत लड़ो, क्योकि इसमें दोनों ही तरह से दु.ख है। यदि हारे तो भारी बदनामी होगी और यदि जीत गये तो भी यश नही प्राप्त होगा।

जठर बडो बड बोल[2] पर, जो नहि आनें चंच।
काहू समय को गुन कियो, बड़ मानें जे रंच ॥५५७॥

शब्दार्थ :—जठर बडो बड—जिसका पेट बड़ा है वही बडा है, अर्थात् जो बात मन मे रख सके वही बडा है, नहि आने चंच—चंचुपात न करे, जानने का प्रयास न करे।

अर्थ .—जो वात मन में रख सके, जो दूसरे के दोषो को भी न देखे, जो दूसरे के द्वारा किसी समय किये गये साधारण से उपकार को भी वड़ा माने, वही बड़ा है।

सब ठांइ सुख सितल हिय, असितल दुःख तस जान।
दिसा देखिये दोहुकी[3], तोखो विरही आन ॥५५८॥

शब्दार्थ :—ठाइ—स्थान; दिसा—दशा; तोखी—संतोषी।

अर्थ :—शीतल हृदय वाले को सर्वत्र सुख और वैसे हो अशीतल हृदय वाले को सर्वत्र दु ख की प्रतीति होती है। दोनों की दशा देख लीजिए। संतोषी सदा सुखी और असंतोषी (विरही) सदा संतप्त रहता है।

पोथी, प्रमदा, लेखनी, गइ सुगई परपांनि।
फिरि कबु लहि तहु मरगजी, भ्रष्ट भग्न लिहु जांनि ॥५५९॥

शब्दार्थ :—प्रमदा—स्त्री; मरगजी—विमर्दित, फटी हुई; परपानि—पराये हाथ।

अर्थ :—पोथी, प्रमदा और लेखनी पराये हाथ गई सो गई। वापस आती है तो भी क्रमशः फटी, भ्रष्ट और भग्न होकर।

विशेष :—यह दोहा निम्नलिखित संस्कृत सुभाषित का भाषानुवाद मात्र प्रतीत होता है :—लेखनी पुस्तिका नारी पर हस्ते गता-गता।
आगता दैवयोगेन नष्टा, भ्रष्टा च मर्दिता ॥

१, बड़ छोटे सौं लरहु मति, २. दोष, ३. दोउ की।

उदासत्व, ससांर भित, बियोग, मद दु संग।
हरि हरि इतनो धर रह्यो[1], बरन करत धर भंग ॥५६०॥

शब्दार्थ :—उदासत्व—उद्वेग; भित—भीति; हरि—१. भगवान २. हर-कर; धरभंग—धारण करने वाला (प्रथम, आद्य) वर्ण निकालकर; त—तत्व, अर्थ; द—दाता; धर रह्यो बरन—शेष वर्ण रहने दीजिए।

अर्थ :—उदासत्व, ससार, भीत, वियोग, मद, दु.संग, हे हरि, इतना हर कर इन शब्दो के प्रथम वर्ण को निकाल कर (धर भग कर) जो शेप है वह (दासत्व, सार, त, योग, द और संग) रहने दीजिए।

सार असार न समुझ जिहि, गुड़ रु खोल इक तोल।
व्हां सब की सुनिबों गुनी, उचित न बदिबो बोल ॥५६१॥

शब्दार्थ :—खोल—खली, तेल निकालने के बाद तिलहन की बची हुई सीठी; बोल बदिबो—मुहा० मुहं की बात भारपूर्वक कहना।

अर्थ :—जहां अच्छे और बुरे के बीच भेद न हो, जहाँ गुड़ और खली एक भाव विकती हो, हे गुनी, वहाँ सबकी बात सुननी ही उचित है, अपनी ओर से बोल बदना उचित नही।

जिय पट बरन अनेक ग्हे, मन बन धोवत जाय।
चढ्यों चित्त जल रंग जो, सो फिरि जल न बहाय ॥५६२॥

शब्दार्थ :—गहें—गहे; बन—(सं० वन) जल।

अर्थ :—जी रूपी वस्त्र अनेक रंग ग्रहण करता है, पर मन रूपी जल से वे रग धुल जाते है। किन्तु चित्त रूपी जल का जो रंग एक बार चढ़ता है वह फिर किसी भी जल से धुल नही सकता।

मिलि सजाति द्वै सजाती, अेक बिजाति न मास।
सभर तून सर ओर द्वै, सकत धनु न समास ॥५६३॥

शब्दार्थ :—सभर—भरा हुआ; समास—मिल पाना, समाना।

अर्थ :—सजातियो में दो और सजातीय बंधु समा सकते हैं, पर विजातीय एक भी नही समा सकता। भरे हुए तूणीर में दो तीर और समा सकते हैं, पर (विजातीय) धनुष एक भी नहीं समा सकता।

१, हरि हरि इन नोधा रख्यो।

हरि भगती ही छांहि तों, मुकति मुकति बत पाय ।
हरि भगती ही छांहि तो, मुकति मुकति बत पाय ॥५६४॥

शब्दार्थ :—हरि—१. स्वर्ण २. श्री कृष्ण; भगती—१. भग + तिय २. भक्ति; ही—१. हिय २. निश्चय; छाहि—१. छा रहा हो २. छाया मात्र हो; मुकति मुकति—१ मोच से मुक्ति, अकल्याण, २. अनेक प्रकार की मुक्ति; बत—वत्, पाय—१. पग २. प्राप्त करे ।

अर्थ :—जिसके हृदय में कंचन और कामिनी के सेवन की ही लालसा हो उसका अकल्याण (मुक्ति से मुक्ति अर्थात् अमुक्ति) एक कदम आगे ही है, पर जिस पर हरिभक्ति की छाया मात्र भी पड़ी हो उसे निश्चित रूप से विविध प्रकार की मुक्ति का आनंद प्राप्त होता है ।

झूठ वस्तु बहु तहु नभल, नीको तनकहु सांच ।
अल्प अमी कों काम जिमि, करें न पय मन पांच ॥५६५॥

शब्दार्थ :—वस्तु—वस्तु; अमी—अमृत; पय—जल ।

अर्थ :—खोटी वस्तु बहुत हो तो भी अच्छी नही, खरी वस्तु थोड़ी हो तो भी अच्छी । जैसे कि जल पांच मन हो तो भी थोडे से अमृत का काम नही कर सकता ।

मो हिय संशय यह हरी, सूझत नाहि कछु जुक्त ।
प्रेमी भुक्त का देहुगे, अरि असुरें दै मुक्त ॥५६६॥

शब्दार्थ :—जुक्त—युक्ति ।

अर्थ :—हे हरि, मेरे हृदय में यही संशय है जिसे दूर करने की कोई युक्ति नहीं सूझती है कि जब आपने अरि-असुरो को मुक्ति दी है तो अब अपने प्रेमी भक्तो को क्या देंगे ?

काहु न मालुम कौन विधि, तुष्ट रुष्ट भगवंत ।
गिध, गुनिका बैकुंठ में, भूतल भटकत संत ॥५६७॥

अर्थ :—यह किसी को ज्ञात नही है कि भगवान कैसे तुष्ट अथवा रुष्ट होते हैं । देखिये गिद्ध और गणिका वैकुण्ठ मे हैं और संत भूतल पर भटक रहे हैं ।

बड विवेक बलवीर तुम, क्यों कहियें अंधेर।
अजामेल सों हू न में, सुनत न मेरी टेर ॥५६८॥

शब्दार्थ :—बलवीर—श्रीकृष्ण; सो हू न—के जैसा नही हूँ।

अर्थ :—हे बलवीर, आप बडे विवेकी है, फिर यह कैसे कहा जाय कि (आपके राज में) अंधेर है। पर एक बात अवश्य कहनी पडेगी कि मै अजामिल के जैसा पापी भी नही हूँ। फिर आप मेरी टेर क्यो नहीं सुनते ?

विशेष :—अजामिल भगवत् द्रोही; परस्त्रीगामी, मद्यप ब्राह्मण था जिसने मरते समय अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा था और स्वयं भगवान उपस्थित हो गये थे। फलस्वरूप उसे मोक्ष की प्राप्ति हुई थी।

सुख दुख रूप अविद्य बुध, लहि कहि सब समुझाय।
अहो माय बलवंत[1] हरि, त्रासें फिरि फस जाय ॥५६९॥

शब्दार्थ :—अविद्या—अविद्या, (अविद्य—सुख-दुःख रूप) माया; बुध—ज्ञानी, पंडित; माय—माया।

अर्थ :—माया सुख-दुःखमूलक है यह बात सभी ज्ञानी जानते हैं और सबको समझाते तथा कहते हैं, पर हे हरि, आपकी माया कितनी प्रबल है कि जानते हुए और उससे डरते हुए भी ज्ञानी उसके वशीभूत हो जाते हैं।

हरिन चरन आकार चित्त, हरिन चरन आगार।
वाकों फल ससार है, वाकों फल ससार ॥५७०॥

शब्दार्थ :—हरिन चरन आकार—हरिन के चरण के आकार वाली वस्तु, भग, योनि (२) हरि चरण रूपी स्थान; संसार—भवबंधन, आवागमन (२) सं + सार, सब सुखों का सार, मोक्ष।

अर्थ :—हरिण के चरण के आकारवाली वस्तु (भग) में चित्त लगा हुआ है, हरि-चरण-आगार में नही लगता, उसका फल भवबंधन है और इसका फल सब सुखों का सार मोक्ष है।

बपु बलतें बलधी अधिक, यें जो दें अविनास।
बिखधर[2] ज्यो भरनी हनें, केकी ज्यो फकलास ॥५७१॥

१. बलवत्, २. विषधर।

शब्दार्थ —वपु बल—शारीरिक बल, बलधी—धीबल, बुद्धिबल, अविदना नास—ईश्वर, बिखधर—सप, भरनी—भाऊमूसा•(?), क्रकलास—(स० कृकलास, गुज० काचीडो) गिरगिट।

अर्थ —शारीरिक बल से बुद्धिबल अधिक होता है, पर तभी जब ईश्वर की कृपा से वह प्राप्त हो। बुद्धिबल से भरनी अपने से प्रबल सर्प को और कृकलास केकी को मार गिराता है।

विशेष —भरनी (भाऊ मूसा) सर्प की पूँछ पकडकर मुँह अदर कर लेता है, सर्प उसके काँटे वाले शरीर पर फन मार-मार कर स्वत मर जाता है। इसी प्रकार क्रकलास मोर की गरदन दबाकर उसकी आँखें निकाल लेता है।

सतत बेन अनृत कहा, सत्य परें न प्रतीत।
जैसें मान्यो जात नहिं, दुष्ट करें कछु हीत ॥५७२॥

शब्दार्थ —बेन—वचन अनृत—असत्य, प्रतीत—विश्वास।

अर्थ —सदैव असत्य वचन बोलने वाला कभी सत्य बोले तो भी विश्वास नही होता, वैसे ही जैसे दुष्ट कभी हित करे तो भी लोगो को विश्वास नही होता।

सुघर सनेह सनेह रस, परी न पेंरें कोइ।
फीन तुच्छ म्हा मूर्ख जिय[१], पेंरक देखे सोइ ॥५७३॥

शब्दार्थ —सुघर—सयाने, चतुर, पेंरें—तैरकर पार करना, फीन—भाग।

अर्थ —सयाने लोगो का प्रेम तेल के सदृश है, जिसमें पडकर कोई तैर नही सकता। किन्तु महामूर्खों का स्नेह तुच्छ भाग के सदृश होता है जिसमें हर एक को तैरते देखा है।

विशेष —चतुर आदमियों के प्रेम पाश से छूटना सभव नही।

बरजो सज्जन कीजियें, मानि हेत ता माहि।
ज्यों बिच जलधि सिकदरी, कहि सब आवन नाहि ॥५७४॥

शब्दार्थ —बरजो—बरजना, मना करना, सिकन्दरी—एक पुतली [ऐसा प्रसिद्ध है कि पुराने समय म भारत और लका के बीच के समुद्र मार्ग में सिकन्दरशाह द्वारा बनवाई पुतली (सिकदरी) उस मार्ग पर जाने वाले यात्रियो को हाथ हिला-हिलाकर आगे बढने के लिए मना करती थी]।

---

१ फ़ीन तुस म्हा मूर्ख निय।

अर्थ :—सज्जन जिस काम को करने से रोकें उसे अपने हित के लिए त्याग देना चाहिए। जैसे किजलधि के बीच सिकंदरी के न आने के संकेत को मानकर मुसाफिर अपनी यात्रा स्थगित कर देते हैं।

मिले तुं निति प्रिय.जाय मन, क्यों न संग द्रग लेत।
पायो वाकों जाहितें, बिसयौ ताकों हेत ॥५७५॥

प्रसंग :—एक विरही अपने मन को संबोधित करके कह रहा है।

अर्थ :—हे मन, तू नित्य प्रति प्रिय से जाकर मिलता है। मेरे नेत्रों को तू अपने साथ क्यो नहीं ले जाता। प्रिय को तूने जिन (नेत्रों) के द्वारा पाया आज तू उन्हीं को भूल बैठा।

बिरहानल उपचारतें, बढ़ें अनोखी चाल।
पय परसत ज्यों उठत बड़, तप्त तैलतें ज्वाल ॥५७६॥

अर्थ :—यह अनोखी रीति है कि उपचार करने से विरहानल बढ़ता है। वैसे ही जैसे शीतल जल के स्पर्श मात्र से तप्त तैल से ज्वालाएँ प्रज्वलित हो उठती हैं।

रूपवंत तहू गुनरहित, तज भज गुनि बिन रूप[1]।
इंद्र वायना अरुन का, मृगमद असित अनूप ॥५७७॥

शब्दार्थ :—तज—तजिए; भज—भजिए; इन्द्रवायना—इन्द्रायण फल, जो देखने में सुंदर, पर गुणरहित होता है; मृगमद—कस्तूरी; अरुन—लाल; असित—श्याम, काली।

अर्थ :—सुन्दर व्यक्ति यदि गुणरहित हो तो उसे तजिये, गुणी यदि कुरूप हो तो उसकी आराधना कीजिए। इंद्रायण कैसा लाल और सुन्दर होता है और कस्तूरी कितनी काली होती है। पर इससे क्या ? (इंद्रायण सुन्दर होने से सम्मान का अधिकारी नहीं बनता और कस्तूरी काली होते हुए भी अनूप गिनी जाती है)।

कछुहू गुनतें रीझियें, खिजि न दोख[2] प्रति होइ।
मिष्ट सोत सागर अहो[3], मानत क्षार न कोइ ॥५७८॥

---

१. न भज गुनी बिन रूप, २. दोष, ३. मिष्ट सोत सौं सागर हु।

शब्दार्थ :—खिजि—खीजना, झुँझलाना; सोत—जल-स्रोत; ग्रहो—धन्य।

ग्रर्थ :—किसी में यदि किंचित मात्र भी गुण हो तो उस पर रीझिये, उसके ग्रत्यधिक दोषो पर खीजिए मत। खारे सागर में मीठे पानी की धारा को देखकर सब उसे सराहते हैं, उसके खार गुण को निन्दा व्यर्थ समझकर कोई भी नही करता।

संत न भद्र ग्रभद्र दें, निज मन कीजे[1] खोज।
जेसें बाली शत्रु[2] को, जीतें ताके ग्रोज ॥५७६॥

शब्दार्थ :—भद्र—उचित, कल्याण; ग्रभद्र—ग्रनुचित, ग्रकल्याण।

ग्रर्थ :—संत किसी का कल्याण ग्रथवा ग्रकल्याण नही करते; ग्रपने मन में विचार कर देख लीजिए। जैसे बाली किसी भी शत्रु को ग्रपने बल से न जीतकर उसी के बल से जीतता था।

विशेष :—बाली को वरदान था, जिसके फलस्वरूप लडते समय शत्रु का ग्राधा बल उसे प्राप्त हो जाता था। सत भी इसी प्रकार हमारे मन में निहित ग्रसद्वृत्तियो का उद्घाटन करते हैं, जिससे हमारा कल्याण होता है।

जेहैं बैभों तो तजी, कें तुं तजेंगों ताहि।
मीत ग्रनीत न चित्त दें, हरि भज निति सुख ग्राहि ॥५८०॥

शब्दार्थ :—बैभो—वैभव; ग्राहि—है, निति—नित्य।

ग्रर्थ :—ये वैभव ग्रनित्य हैं, ग्रत: एक दिन तुझे त्याग कर चले जाएँगे ग्रथवा तू उन्हें छोडकर चला जायगा क्योंकि यह भौतिक शरीर नाशवान है। ग्रतः हे मित्र, ग्रनीति मे चित्त मत दे ग्रौर हरि का स्मरण कर, इसी में नित्य सुख है।

दिये[3] ग्रोंत संताप कबु, शातहु कूं होइ रोस।
ग्रति घरसनतें होत जिमि, चंदन चिनगि न दोस ॥५८१॥

शब्दार्थ :—संताप—पीडा, दु ख, रोस-क्रोध।

ग्रर्थ :—ग्रत्यधिक कष्ट देने से कभी शात (प्रकृति-पुरुष) को भी क्रोध ग्रा जाता है। जैसे कि ग्रत्यधिक घर्षण से चन्दन में भी चिनगारी उत्पन्न हो जाती है। इसमें (चंदन ग्रथवा व्यक्ति का) कोई दोष नही है।

---

१. कीनी, २ सत्रु, ३. दिय।

जोखिम जूठ सदा बनी, नहीं साच कबु आच।
तुरत दिखे कछु अंत तहु, मनि-मनि काच सुकाच ॥५८२॥

शब्दार्थ :—जोखिम—हानि होने का भय।

अर्थ :—झूठ बोलने में सदा भय बना रहता है। सांच को आंच कभी नहीं आती। कुछ समय के लिए भले ही भ्रम रहे, पर अंत में मणि मणि ही सिद्ध होती है और कांच, कांच।

अधरम पछ्छ[1] न कीजियें, तुछ्छ[2] दिखें निज रूप।
बरबट कहि को कौमुदी, धूप सु ठरे न धूप ॥५८३॥

शब्दार्थ :—पछ्छ—पक्ष; बरबट—जबरदस्ती; कौमुदी—चाँदनी।

अर्थ :—अधर्म का पक्ष-समर्थन न कीजिए, इससे लाभ तो कुछ होता ही नहीं; निज रूप तुच्छ प्रतीत होता है, अर्थात् हम अपनी नज़र में गिर जाते हैं। यदि कोई हठपूर्वक चाँदनी को धूप कहे तो उसके कहने मात्र से वह धूप नहीं हो जाती।

काम परे तें सबन कों, जान्यों जाय सरूप।
मोल बोल कृतितें मिलें, रंक, पोच, बड भूप ॥५८४॥

शब्दार्थ :—सरूप—स्वरूप, पोच—कमजोर आदमी; रंक—गरीब; भूप—राजा।

अर्थ :—काम पड़ने पर ही सबके वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। बातचीत और कृति से ही रंक, पोच और भूप का पता चलता है।

विशेष :—इस संबंध में एक लोककथा प्रचलित है:—एक वन में एक अंधा साधु रहता था। एक राजा उस वन में शिकार करते कहीं भटक गया। राजा का नौकर, मंत्री और फिर स्वयं राजा, तीनों अंधे साधु के पास गए। क्रमशः नौकर ने कहा—'अबे अंधे!' तो साधु ने कहा—'बोल बे बंदे।' फिर मंत्री आया। उसने कहा—'अजी सूरदास!' तो अंधे ने कहा—'बोलो भाई खवास।' फिर राजा ने कहा—'हे साधुराज!' तो अंधे ने कहा—'पधारिये महाराज।' इस प्रकार अन्धे साधु ने संबोधनों के द्वारा ही नौकर, मंत्री और राजा को पहचान लिया।

---

१. पक्ष, २. तुच्छ।

दुति न दुतिय को पाति सी, छानि बाति[1] कहि मीत ।
साचि अमदो गंभीर अति, सहज करें वहु हीत ॥५८८॥

शब्दार्थ :—दुति—दूती; दुतिय—द्वितीय, दूसरी; पाति—पत्र; छानि—(सं० छन्न) चुपके से; अमदी—अभिमान रहित; सहज—(बिना कुछ लिये) यूँ ही ।

अर्थ :—पाती के समान कोई दूसरी दूती नहीं है। वह दूती की ही तरह चुपचाप जाकर प्रिय से मन की बात कह देती है। किन्तु दूती से उसमें चार विशेषताएँ हैं—वह जो कुछ कहती है सत्य कहती है, अभिमानरहित होती है, अत्यन्त गम्भीर होती है और उपकार करने के बदले में कुछ भी नहीं लेती ।

अति दुर्लभ जन जन्म जिय, हरि भजि आयों दाव ।
व्हो न मिलिहें जोग यह[2], ज्यो लोहा गत ताव ॥५८९॥

शब्दार्थ :—दाव—सु अवसर; व्हो—बहुरि, फिर, गत—गया हुआ ।

अर्थ :—हे जीव, यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसे एक सुअवसर समझ कर तू हरि का भजन कर। यह सुअवसर लोहे के उतरे हुए ताव की भाँति फिर नहीं मिलेगा ।

सहज कृपा हरि दीन लहि, अभिमानी न प्रयास ।
क्योंहुं[3] न नग रहि नीर ज्यों, सो सर आपुन वास ॥५९०॥

शब्दार्थ :—नग—पर्वत, आपुन—अपने आप ।

अर्थ :—जो हरि-कृपा दीन को सहज ही प्राप्त हो जाती है, वह अभिमानी को प्रयास करने पर भी नहीं मिलती। पर्वत पर पानी किसी प्रकार नहीं ठहरता, पर वही पानी स्वतः सरोवर में जाकर इकट्ठा हो जाता है ।

विशेष :—तुलना कीजिए :—सिमटि सिमटि जल भरहिं तलावा ।
जिमि सद्गुण सज्जन पह आवा ॥—तुलसी

अधम कृती विश्वास फल, तस उत्तम दृढ़ होइ ।
आसु अंघ्रि अरविंद हरि, लहे न संशय कोइ ॥५९१॥

शब्दार्थ :—आसु—आशु, शीघ्र ही; अंघ्रि अरविंद—चरण-कमल ।

अर्थ :—अधम कृति के फल के विश्वास के सदृश ही यदि उत्तम कृति के फल का विश्वास भी दृढ़ हो तो निश्चित रूप से हरि के चरणारविंदों में स्थान मिले ।

---

१. छानि बाति, २. ज्योग यह, ३. कटां हू ।

जानि पाप करियें न कवु, पाप ताप दे ल्याय ।
तासुं पाप फिरि ताप यह, संषल तुटन न पाय ॥५६२॥

शब्दार्थ :—संखल—शृंखला ।

अर्थ :—जान-बूझ कर कभी पाप नही करना चाहिए, पाप से ताप उत्पन्न होता है और ताप फिर पाप को जन्म देता है । और यह शृंखला वृद्धिगत होती रहती है, टूटती नही ।

कलि हरि नाउप्रभाव बड़, तब चित लूंटालूंट ।
घो चोडी ग्रहि लंब ज्यों, दमडे मेद्यांऊंट ॥५६३॥

शब्दार्थ :—घो—पाटा गोह, घो······ ज्यों—कहा०—गो चौडी और सांप लम्बा । दमडे····ऊंट—कहावत, दमड़ी में ऊँट ।

अर्थ :—कलि में हरि नाम का बडा प्रभाव है, (नाम लेने मात्र से मोक्ष होती है, सतयुग की भाँति लम्बी तपस्या नही करनी पड़ती) पर चित्त एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं होता । भगवान ने सांप लम्बा बनाया तो गोह को चौडा बनाया (अर्थात् सतयुग के लोगो के लिए तपस्या का समय लम्बा रखा और कलियुग के लोगो के लिए क्षणमात्र पर्याप्त समझा । दमड़ी के बदले ऊँट वाली बात चरितार्थ कर दी । पर दमड़ी न हो तब कोई क्या करे) ।

गुन गुपाल संगत करे, सो गुपाल सद पाय ।
ज्यो देखे वे सहज सुर, जो आतप मे जाय ॥५६४॥

शब्दार्थ :—सद (सद्य)—शीघ्र; सुर (सूर)—सूर्य ।

अर्थ :—जो गोपाल के गुणो की सगत करे वह गोपाल को तत्काल पाता है । जैसे कि धूप मे जाने वाला सूर्य को सहज ही देखता है ।

अनुभवि सचराचर, बिखें, देखें जुगजीवन्न ।
अंजनविद्या जाहि रें, सो लखि ज्यों सब धन्न ॥५६५॥

शब्दार्थ :—सचराचर—जड और चेतन; बिखें—विषे, के सम्बन्ध में; जुगजीवन्न—श्रीकृष्ण ।

अर्थ :—अनुभवी व्यक्ति सचराचर में व्याप्त श्रीकृष्ण को देख लेता है । (पचभूतो का अंतराय उसके लिए कोई व्यवधान उपस्थित नही करता) वैसे ही जैसे अंजन विद्या जानने वाला जमीन में गड़े हुए धन को सहज ही देख लेता है ।

हरि समध बिन बैखरी, खरी खरीसी मानि।
जो हैं तो वे गो सरखि[1], अखिल इड्य सुख दानि ॥५९६॥

शब्दार्थ —बैखरी—वाणी, खरी—सत्य (२) खर पु० = खरी स्त्री० = गधी खरी सी—गधी के समान, अपवित्र), गो—गाय, इड्य—पूजनीय।

अर्थ —हरि-सबध बिना वाणी सचमुच (खरी के जैसी) अपवित्र है। और यदि हरि से वाणी का सबध है तो वह गाय के समान पवित्र और पूजनीय तथा सब को सुख देने वाली सिद्ध होती है।

बड उत्तम आगम सुनें, नीच अधम चखतीर।
सिंह हस नहिं देखियतु, काक स्याल की भीर ॥५९७॥

शब्दार्थ —आगम—शास्त्र, चखतीर—आँख के पास।

अर्थ —बडे और उत्तम कोटि के पुरुषो की गाथाएँ तो शास्त्रों में ही सुनी है, उन्हें देखा नही है। नीच और अधम सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। सिंह और हस कहीं दिखाई नहीं पडते। कौवों और गीदडो की भीड लगी हुई है।

हरि व्यापक सब ठाइ पें, चक-अग्यांन[2] बिच आहि।
छह्यो काहि ज्यो सर सजल, लहि विद्या बल वाहि ॥५९८॥

शब्दार्थ —चक—चिक, परदा, आहि—है, काहि—काई।

अर्थ —हरि सभी स्थानो पर व्याप्त हैं। अज्ञान का परदा बीच में पडा हुआ है। जिस तरह से जल से परिपूर्ण सरोवर पर काई के छा जाने पर जल दृष्टिगोचर नही होता, पर विद्याबल रूपी बाह से काई दूर करने पर जल स्पष्ट दिखलाई पडने लगता है।

विशेष —ज्ञान से अज्ञान के परदे को हटाने पर सर्वव्यापी हरि दृष्टिगत होते हैं।

तन सब जगको बदन हरि, पोखत[3] उपजे तोख[4]।
समाधान प्रत्येक श्रम, अफल और बड़ दोख[5] ॥५९९॥

शब्दार्थ —बदन—मुख, पोखत—पोषत, तोख—तोष, सतोष, समाधान प्रत्येक—प्रत्येक इन्द्रियो का समाधान, दोख—दोष।

---

१. जो हैं तो गो सारखि।

२. चक अज्ञान, ३ पोषत ४ तोष, ५ दोष।

मिलता है। इसके विपरीत बछड़ा दूर बँधा रहता है, पर फिर भी गाय उसे स्नेह से दूध पिलाती है।

विशेष —बिना श्रद्धा-स्नेह के बड़ों का सान्निध्य भी व्यर्थ है।

> प्रभुकू कहत[1] बनें न कछु, जाकी गति अकलीत।
> अहितें बँधे अहि नथ्यो, यवन भजे हर जीत ॥६०३॥

शब्दार्थ —अकलीत—अवर्णनीय अहि—सर्प।

अर्थ —प्रभु को कुछ कह नहीं सकते। उनकी गति ही विचित्र है। कभी सर्प से बँधे और कभी सर्प को नाथ लिया। कभी तुच्छातितुच्छ कालयवन से डरकर भागे और कभी महादेव को भी जीत लिया।

विशेष —कालयवन—गार्ग्य के पुत्र कालयवन ने अपने पिता का बदला लेने के लिए यादवों पर हमला किया। सब यादव डर कर भागे। कृष्ण ने एक युक्ति की। वे भी एक गुफा में जा छिपे जिसमें मुचकुंद सो रहे थे। कालयवन ने कृष्ण के धोखे में मुचकुंद को लात मारी। मुचकुंद की दृष्टि पड़ते ही कालयवन भस्म हो गया। शेष प्रसंग सुविदित है।

> राखि साखि गत लाख करि, बही न लहि को फीर।
> कोटि जतन जिमि ना मिलें, गयो मुक्त[2] को नीर ॥६०४॥

शब्दार्थ —साखि—साख, प्रतिष्ठा बही—नष्ट हो जाने पर, बही—बह जाने पर न लहि—नहीं मिलती।

अर्थ —लाख को त्याग कर भी साख रखिये। एक बार चले जाने पर फिर साख नहीं जमती। करोड़ों यत्न करने पर भी जैसे मोती की आब वापस नहीं मिलती।

विशेष —कहावत भी है —'जाय लाख रहे साख।'

> जुक्ति अधिक बल विद्यतें, जो दै[3] दोनों होइ।
> सुरसरि, अनुजा सुद्र की, ना कहि सके[4] न कोइ ॥६०५॥

शब्दार्थ —जुक्ति—युक्ति विद्य—विद्या दै—विधाता, सुद्र—शूद्र।

अर्थ —युक्ति में (यदि विधाता ने दी हो तो) विद्या से अधिक बल

---

१ कहन, २ मुक्ति, ३ दव, ४ शके।

है। जैसे कि गंगा को शूद्र की अनुजा कहें तो इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसे युक्तिपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है।

विशेष :—ऐसी मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में विराट पुरुष के चरणों से शूद्र और तत्पश्चात् गंगा की उत्पत्ति हुई। अतः विद्या से भले सिद्ध न हो, युक्ति से गंगा को शूद्र की बहिन सिद्ध किया जा सकता है। अतः युक्ति विद्या से बड़ी है।

लहे जाय गुन कहेतें, सो गुनि कहे न जाय।
दीसें जो मनि दीप सों, वह ज्यों मनि कहाय ॥६०६॥

शब्दार्थ :—लहे—जान पड़े।

अर्थ :—जिनके गुणों की प्रतीति, परिचय देने पर ही हो, वह गुणी नहीं कहा जा सकता। गुणी के गुण तो स्वयं प्रकाशित होने चाहिए, उनके परिचय की आवश्यकता नहीं। जैसे कि जो मणि दीपक की सहायता से दिखलाई दे वह मणि नहीं कही जाती।

गुन अनंत मे दोख अनु, सो करि सके न बाध।
ज्यों न लोन डलिके मिलें, क्षारपयोधी गाध ॥६०७॥

शब्दार्थ :—दोख—दोष; अनु—अणु, थोड़ा; बाध—बाधा; गाध—अगाध, पयोधि—क्षीर सागर; क्षार—खारा।

अर्थ :—अनंत गुणों में अणु-मात्र दोष, बाधा उपस्थित नहीं कर सकता। जैसे कि अगाध क्षीर पयोधि को नमक की डली खारा नहीं बना सकती।

सब रस भोगें संत कबु, तहू रहें निप्पाप।[1]
स्निग्ध पगी रसना जिमी, अलेप अगन प्रताप ॥६०८॥

शब्दार्थ :—रसना—जीभ, अलेप—अलिप्त, स्वच्छ।

अर्थ :—यदि संत कभी सब रसों का सेवन करें तो भी वे हरि कृपा से निष्पाप ही रहते हैं। जैसे कि जिह्वा स्निग्ध पदार्थ में डूबने पर भी अग्नि के प्रताप से अलिप्त रहती है।

ओछों जो ऊंचो बनें, नमे भारि अभ्रात।
ना प्रतीति तो लेहु लखि, ताकडि को द्रष्टात[2] ॥६०९॥

१. निरशप, २. ताकडी को द्रष्टान्त।

शब्दार्थ :—अभ्रात—भ्रातिरहित, निस्संदेह; ताकडी—तराजू; ऊँचो बने—आत्म-प्रशंसा करे।

अर्थ :—(१) जो ऊँचो बने (अपने मुँह अपनी बड़ाई करे) वह ओछा और जो विनम्र रहे वह निस्संदेह भारी (बडा)। यदि विश्वास न हो तो तराजू के दृष्टात को देख लो।

(२) ओछा मनुष्य यदि वडा बन जाय तो बहुत नमता है। यदि विश्वास न हो तो तराजू का दृष्टात देख लो।

*बिन अलच्छ विधि लच्छहु न, सुख सुलच्छ परलच्छ।
ज्यों चौपट बिन अच्छबल, जितें न दच्छ सपच्छ ॥६१०॥

शब्दार्थ :—अलच्छे—अलच, अदृष्ट, भाग्य; विधिलच्छ—लच विधि, लाख तरह से; चौपट—चौपड़ का खेल; अच्छ—चौपड़ के पासे, दच्छ—दच; सपच्छ—पच सहित, पासे की अनुकूलता से।

अर्थ :—भाग्य के साथ दिये बिना लाख प्रयत्न करने पर भी सुख प्राप्त नहीं होता। इसे प्रत्यच देख लीजिए कि जैसे चौपड के खेल मे बिना पासे के बल के चतुर खिलाडी भी नही जीत सकता। जीत तभी होती है जब पासा साथ दे।

समय समुझि कृति कीजियें, हठसुं होइ सुखहानि।
वालि, सुयोधन, कंधदस, गत असुसह रजधानि ॥६११॥

शब्दार्थ :—कंध दस—दसकंध, रावण; असुसह—प्राण सहित।

अर्थ :—समय विचार कर काम कीजिए, हठ करने से सुख की हानि होती है। असमय हठ करने के कारण ही वालि, दुर्योधन और रावण को प्राणो और राजधानी से हाथ धोने पडे।

विशेष :—बाली, दुर्योधन और रावण की कथा सुविदित है।

मराल, बक, पिक, काक, सम, बरन कछुक आकार।
पें गुन सम नहि भिन्नकृति, पय जल जलपत बार ॥६१२॥

शब्दार्थ :—मराल—हंस; बक—बगुला; जलपत वार—बोलते समय।

अर्थ :—हंस और बगुला तथा कोयल और कौवा वर्ण एवं आकार में कुछ

---

*बिन अलच्छ्य विधि लछ्य हुन, सुख सुलक्ष परलक्ष।
ज्यों चोपट बिन अक्ष बल, जितें न दक्ष सपक्ष ॥ (मू०)

है। जैसे कि गंगा को शूद्र की अनुजा कहें तो इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसे युक्तिपूर्वक सिद्ध किया जा सकता है।

विशेष :—ऐसी मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में विराट पुरुष के चरणों से शूद्र और तत्पश्चात् गंगा की उत्पत्ति हुई। अतः विद्या से भले सिद्ध न हो, युक्ति से गंगा को शूद्र की बहिन सिद्ध किया जा सकता है। अतः युक्ति विद्या से बड़ी है।

लहे जाय गुन कहेतें, सो गुनि कहे न जाय।
दीसें जो मनि दीप सों, वह ज्यों मनि कहाय ॥६०६॥

शब्दार्थ :—लहे—जान पड़े।

अर्थ :—जिनके गुणों की प्रतीति, परिचय देने पर ही हो, वह गुणी नहीं कहा जा सकता। गुणी के गुण तो स्वयं प्रकाशित होने चाहिए, उनके परिचय की आवश्यकता नहो। जैसे कि जो मणि दीपक की सहायता से दिखलाई दे वह मणि नहीं कही जाती।

गुन अनंत में दोख अनु, सो करि सके न बाध।
ज्यों न लोंन डलिके मिलें, क्षारपयोधी गाध ॥६०७॥

शब्दार्थ :—दोख—दोप; अनु—अणु, थोड़ा; बाध—बाधा; गाध—अगाध; पयोधि—क्षीर सागर; क्षार—खारा।

अर्थ :—अनंत गुणों में अणु-मात्र दोष, बाधा उपस्थित नही कर सकता। जैसे कि अगाध क्षीर पयोधि को नमक की डली खारा नहीं बना सकती।

सब रस भोगें संत कबु, तहु रहें निष्पाप।[1]
स्निग्ध पगी रसना जिमी, अलेप अगन प्रताप ॥६०८॥

शब्दार्थ :—रसना—जीभ; अलेप—अलिप्त, स्वच्छ।

अर्थ :—यदि संत कभी सब रसो का सेवन करें तो भी वे हरि कृपा से निष्पाप ही रहते हैं। जैसे कि जिह्वा स्निग्ध पदार्थ में डूबने पर भी अग्नि के प्रताप से अलिप्त रहती हैं।

ओछों जो ऊंचो बनें, नमे भारि अभ्रांत।
ना प्रतीति तो लेहु लखि, ताकडि को दृष्टांत[2] ॥६०९॥

१. निश्पाप, २. ताकडी को दृष्टांत।

शब्दार्थ —अभ्रात—भ्रातिरहित, निस्संदेह, ताकडी—तराजू, ऊँचो वने —ग्रात्म प्रशसा करे।

अर्थ —(१) जो ऊँचो वने (अपने मुँह अपनी बडाई करे) वह ओछा और जो विनम्र रहे वह निस्सदेह भारी (बडा)। यदि विश्वास न हो तो तराजू के दृष्टात को देख लो।

(२) ओछा मनुष्य यदि बडा बन जाय तो बहुत नमता है। यदि विश्वास न हो तो तराजू का दृष्टात देख लो।

*बिन अलच्छ विधि लच्छहु न, सुख सुलच्छ परतच्छ।
ज्यों चौपट बिन अच्छबल, जितें न दच्छ सपच्छ ॥६१०॥

शब्दार्थ —अलच्छे—अलच, अदृष्ट, भाग्य, विधिलच्छ—लच विधि, लाख तरह से, चौपट—चौपड का खेल, अच्छ—चौपड के पासे, दच्छ—दक्ष, सपच्छ—पक्ष सहित, पासे की अनुकूलता से।

अर्थ —भाग्य के साथ दिये बिना लाख प्रयत्न करने पर भी सुख प्राप्त नहीं होता। इसे प्रत्यक्ष देख लीजिए कि जैसे चौपड के खेल में बिना पासे के बल के चतुर खिलाडी भी नहीं जीत सकता। जीत तभी होती है जब पासा साथ दे।

समय समुझि कृति कीजियें, हठतु होइ सुखहानि।
बालि, सुयोधन, कधदस, गत असुसह रजधानि ॥६११॥

शब्दार्थ —कध दस—दसकध, रावण, असुसह—प्राण सहित।

अर्थ —समय विचार कर काम कीजिए, हठ करने से सुख की हानि होती है। असमय हठ करने के कारण ही बालि, दुर्योधन और रावण को प्राण और राजधानी से हाथ धोने पड।

विशेष —बाली, दुर्योधन और रावण की कथा सुविदित है।

मराल, बक, पिक, काक, सम, बरन कछुक आकार।
पैं गुन सम नहि निप्रकृति, पय जल जलपत बार ॥६१२॥

शब्दार्थ —मराल—हस, बक—बगुला, जलपत बार—बोलते समय।

अर्थ —हस और बगुला तथा कोयल और कौवा वर्ण एव आकार में कुछ

---

*बिन अलच्छ्य विधि लछ्य हुन, सुख सुलछ्य परतछ्य।
ज्यौं चोपट बिन अछ्य बल, जितें न दछ्य सच्छ ॥ (मू०)

समानता रखते हैं। किन्तु उनके गुण-कर्म भिन्न हैं। नीर-क्षीर को अलग करते समय हंस और बगुले का और बोलते समय कोयल और कौवे का भेद स्पष्ट हो जाता है।

मतलब प्यारी सबन को, बस्तु प्यार नहिं कोय।
ज्यों जेमुत जीवन[1] सकल, अरूच अनोसर होय ॥६१३॥

शब्दार्थ —जैमुत—मेघ, अनोसर—बेमौके।

अर्थ —वस्तु-विशेष से किसी को प्यार नही होता, सबको मतलब प्यारा होता है। जैसे कि जलद जीवनदाता हैं, पर बेमौके बरसन पर वे अरुचिकर ही प्रतीत होते हैं।

अल्पादर भल अत्य जिहिं, अत्यादर तुछ अल्प।
लकनिवासी करत जस, काक चचु ककल्प ॥६१४॥

शब्दार्थ —अत्य—अति, अत्यधिक, तुछ—तुच्छ, अल्प—कम, काक चचु—काँच की दवात, क—स्वर्ण, कल्प—विभाग, खंड।

अर्थ —भली वस्तु का भी यदि वह बहुतायत से हो तो आदर कम हो जाता है। और तुच्छ वस्तु भी कभी कम मात्रा मे होने के कारण आदर पाती है। जैसे कि लकानिवासी स्वर्ण के ढेर का आदर नही करते और काँच की दवात का अत्यधिक आदर करते हैं।

विशेष —दुष्क्रमत्व के कारण अर्थ बिठाने में कठिनाई होती है।

ज्यों[2] तेरी कबु औरकी, क्योंहू न बनिहे बस्त।
दुख प्रयत्न तज और किन, त्यो परिहें तो हस्त ॥६१५॥

शब्दार्थ —वस्त—वस्तु, हस्त—हाथ।

अर्थ —जो वस्तु तेरे भाग्य में लिखी है वह कभी किसी दूसरे को नहीं मिल सकती। इसी प्रकार जो दूसर की वस्तु है वह कभी तुझे नही मिल सकती। इसलिए दुःख और प्रयत्न त्याग दे।

स्नेह स्नेह सों कृष्ण विनु, गुनो गुनी सम जानि।
हरख हरख[3] सोही समुझि, शोख[4] शोष परमानि ॥६१६॥

---

१ जीवन, २ जो, ३ हरष, ४ शोष।

शब्दार्थ :—स्नेह—प्रेम (२) तेल; गुनी—गुणी (२) नीचे दर्जे के वाघरो जाति के लोग जो जंतरमंतर भी करते हैं; हरख—प्रसन्नता (२) एक रोग, शोख —शौक (२) शोषण।

अर्थ :—कृष्ण की कृपा के विना स्नेह तेल के समान (मैला करने वाला) गुणी वाघरी जाति के 'भ्राने-भोपे के समान (निम्न कोटि का), हर्ष इसी नाम के रोग के जैसा और शौक शोषणवत् प्रतीत होता है।

विशेष :—सभी कार्यों में श्रीकृष्ण का अनुग्रह अपेक्षित है।

जो प्रपंच मन तो न हरि, हरिमे तों न प्रपंच।
जेसें वायस दीठ बल, इक द्रग अके न रंच ॥६१७॥

शब्दार्थ :—प्रपंच—पाखंड; वायस—कौवा; दीठबल—दृष्टिबल।

अर्थ :—यदि मन में प्रपंच हो तो हरि नहीं; और यदि हरि में मन हो तो प्रपंच नहीं। जैसे कि कौवे का दृष्टिबल। जब वह दाईं आँख से देखता है तो बाईं से बिलकुल नही देख पाता और बाईं से देखता है तो दाईं से कुछ नहीं देख पाता। क्योंकि आँखें दो, किन्तु दृष्टिबल एक है।

विशेष :—कवि ने बहुत ही सुन्दर ढंग से समझाया है कि पाखंड और भगवद् भक्ति दोनो एक साथ नही निभ सकते।

दुस्तर या कलिकाल मे, धर्म न्याय नहि दाव।
निर्ने ठार्ने नृपाबिक, जो जोरावर भाव ॥६१८॥

शब्दार्थ :—दुस्तर—जिसे न तरा जा सके; दाव—अवसर; निर्ने—निर्णय, जोरावर—अधिक बलशाली।

अर्थ :—इस दुस्तर कलिकाल में धर्म-न्याय का अवसर नही रहा। इस युग में सभी नृपादिक शक्ति-संपन्न की इच्छानुसार ही निर्णय करते हैं।

नहि करिबे को भै कबू, सोज हुतबला जानि।
ह्होर न बल, कल कराड्यि, जिमि प्रहुन निच पानि ॥६१९॥

शब्दार्थ :—भै—हो जाय; हुतबला—जो होने को ही था, ह्होर—बहुरि, फिर; कल—युक्ति, पानि—हाथ।

अर्थ :—न करने का काम कभी हो जाय तो 'होने को ही था'—ऐसा मानकर संतोष करना चाहिए। और फिर बल से काम न लेकर युक्ति से उस

काम को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए जैसे कि भारी पत्थर के नीचे दबे हुए हाथ को बल से न निकालकर युक्ति से निकाला जाता है।

स शिव[1], ल लछमि, गनेश ग, र रवि, म माधो नाम।
पंच बरन पंचाग मय, भजि इक सालिगराम ॥६२०॥

शब्दार्थ :—माधो—विष्णु; पच बरन—पाँचो अक्षर (वर्ण)।

अर्थ :—हे मन, पचाग पूजा के भ्रम में न पडकर तू केवल एक शालि॰ ग्राम को भज। उनके नाम में पाँचो वर्ण पंचागमय हैं। 'स' शिव, 'ल' लक्ष्मी, 'ग' गणेश, 'र' रवि और 'म' माधव का द्योतक है। अतः शालिग्राम नाम लेने से पाँचो का स्मरण एक साथ हो जाता है।

विशेष :—नामैकदेशे नाममात्रस्य ग्रहणम् इति न्यायात् ॥

दे पर सोभ[2] असोभसो[3], देत न, लेत सुजानि।
ज्यों सो तिय सुख लहतुहैं, जो प्रितम सुखदानि ॥६२१॥

शब्दार्थ :—शोभ—शोभा, सम्मान; असोभ—असम्मान।

अर्थ ·—जो दूसरों को सम्मान अथवा असम्मान देता है, वह वास्तव में देता नही, लेता है। जैसे कि वही रमणी सुख पाती है जो अपने प्रियतम को सुख देती है।

विशेष :—यदि हम सम्मान चाहते हैं तो हमें दूसरों का सम्मान करना सीखना चाहिए। यदि हम दूसरो का अपमान करेंगे तो हमारा अपमान होगा। दूसरों को सुखी किये विना सुखी होना संभव नहीं। रमणी अपने पति को आनं॰ दित किये विना स्वय रति-क्रीडा का आनद नहीं भोग सकती।

सबकर प्रभु करता न कछु, दुहु मह कहत बनेंन।
अकल आप क्यों कलि सकें, नमन न मनगतिबेंन ॥६२२॥

शब्दार्थ ·—सबकर—सब कुछ करनेवाले, करता न कछु—कुछ न करने वाले, अकल—जो समझ में न आवे, नमन—प्रणाम।

अर्थ :—हे प्रभो, न तो यह कहते बनता है कि आप इस सृष्टि के कर्ता हैं और न यह कि आप कर्ता नहीं हैं। आप तो अकल स्वरूप हैं, मन और वाणी

१ ससिव (मू०), २ शोभ (मू०), ३. अशोभ (मू०)

की गति से भी परे, फिर आपका रहस्य कौन समझ सकता है ? अतः हम तो आप को नमन करते हैं।

गुन आभूखन[1] नम्रता, नम्रत भूखन गुन।
लौंन मिष्ट जिमि अन्नतें, अन्न मिष्ट जिमि लून ॥६२३॥

शब्दार्थ :—आभूखन-भूखन—आभूषण; लोन—लून—नमक।

अर्थ :—गुण का आभूषण नम्रता है और नम्रता का आभूषण गुण है। जैसे कि नमक अन्न के सहयोग से और अन्न नमक के सहयोग से मीठा रुचिकर प्रतीत होता है।

विशेष :—गुणी को ही नम्रता शोभा देती है, मूर्ख को नहीं। गुण और नम्रता अन्योन्याश्रित है।

सब सनमुख तब जानियें, जबें कृष्ण सनमूख।
पें विमूख त्री होत हें, असुभ, दोख, सब दूख[2] ॥६२४॥

शब्दार्थ :—त्री—त्रय; सन्मुख—अपने पक्ष में; विमूख—विपक्ष में।

अर्थ :—जब कृष्ण सन्मुख हो तब सभी सन्मुख हैं, ऐसा समझिये। केवल तीन वस्तुएँ विमुख होती हैं—अकल्याण, दोष और दुःख।

विशेष :—कवि ने बहुत ही सुन्दर ढंग से बताया है कि श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होते ही अकल्याण, दोष और दुःख दूर हो जाते हैं।

तूं बिलसत संसार जिय, आयु जाय नहि जांन।
सर सलील प्रतिछिन घटें, ज्यों जख[3] परें न जान ॥६२५॥

शब्दार्थ :—सलिल—जल; सर—तालाब; जख—मछली।

अर्थ :—हे जीव, तू सांसारिक विलास में ऐसा मग्न हुआ है कि तुझे इस बात का भान ही नहीं है कि आयु बीती जा रही है। तेरी गति तालाब की उस मछली के जैसी है जिसे इस बात का पता नहीं है कि तालाब का पानी प्रतिक्षण घटता जाता है।

अली अदर्वों हरि भये, बिरह दरद हों चूर।
कपूर न रह बिन मिरच ज्यों, मिरच[4] न चहें कपूर ॥६२६॥

१. आभूषन, २ दुख दूर, ३. जष, ४. मिर्च।

शब्दार्थ :—प्रदर्दी—वेदर्दी; मिर्च—काली मिर्च।

प्रसंग :—एक विरहिणी गोपिका सखी से अपनी विरह-व्यथा कह रही है।

अर्थ :—हे सखी, हरि तो वेदर्दी हो गये हैं और मैं विरह-व्यथा में चूर हूँ। कपूर मिर्च के बिना नहीं रह पाता, पर मिर्च को कपूर की कोई चाह नहीं है।

विशेष :—यहाँ कपूर (पु०) गोपिका के लिए और मिर्च (स्त्री०) कृष्ण के लिए प्रयुक्त है। विचार करने पर यह विपर्यय उचित नहीं प्रतीत होता।

मानें गिर[1] गुरुसम घरनि, पोखे[2] सतति संत।
वैसे जन जिन सङ्ग करि, स्वात्मा लहि भगवंत ॥६२७॥

शब्दार्थ :—गिर—गिरा, घरनि—घरनी, पत्नी; पोखे—पोपे; संतति—संतान; लहि—लखि—देखकर, (२) प्राप्तकर।

अर्थ :—जो पत्नी की आज्ञा का गुरु आज्ञा के समान पालन करते हैं और संतों का पोषण करने के स्थान पर संतति का पोषण करते हैं वैसे पाखंडी जनों (साधुओं) का हे मनुष्य तू साथ मत कर। आत्मा में परमात्मा को देख।

विशेष :—इस दोहे में कवि ने पाखंडी साधुओं से बचने का आदेश दिया है।

किरती जा की किरति पें, अती रती हैं जाहि।[3]
ताकी रति बड़ रतिपती, पितु रति तजें न ताहि ॥६२८॥

शब्दार्थ —किरतीजा—कीर्तिजीकी पुत्री राधिका; किरति—कीर्ति; रति—प्रेम (२) सौभाग्य; रतिपति—काम, प्रद्युम्न, पितु—प्रद्युम्नजी के पिता, कृष्ण।

अर्थ :—कीर्तिजा (राधिका जी) की कीर्ति पर जिसकी रति है उसका अहोभाग्य है। श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी भक्ति बड़ी है। क्योंकि रतिपति के पिता (श्रीकृष्ण) स्वयं राधिका पर अनुरक्त हैं।

विशेष :—बिहारी ने भी "जा तनकी झाईं पड़े स्याम हरित दु ति होय" कहकर 'राधा नागरी' की वंदना अपनी सतसई के प्रारम्भ में की है।

सील फिरें नहिं संगतें, नित्य निकट असि ढाल।
चातक इक मातक लिखौं, दुहुकी न्यारी चाल ॥६२९॥

---

१. गिरि, २. पोर्पे, ३. अति रति रति है जाहि।

शब्दार्थ —शील—चरित्र, असि—तलवार, घातक—मारनेवाला, त्रातक —रक्षक।

अर्थ —संगति में चरित्र में परिवर्तन नहीं होता। देखिये ढाल और तलवार सदा एक साथ रहता है, पर फिर भी एक का प्रभाव दूसरे पर नहीं पड़ता। तलवार घातक और ढाल रक्षक है, दोनों का स्वभाव भिन्न है।

करनी करी सुभोगनी, कहे मिमासी बान।
अजामेल भुगर्यो बिना, क्यो पायों निरबान ॥६३०॥

शब्दार्थ —मिमासी—कर्मवादी, बान—वाणि, भुगर्यो बिना—भोगे बिना, निरवान—निर्वाण, मोक्ष।

अर्थ —कर्मवादियों का कहना है कि हम जो कर्म करते हैं, उनका फल भी हमें ही भोगना पड़ता है। (किन्तु श्री कृष्ण के अनुग्रह के सामने यह बात असत्य सिद्ध होती है) फिर अजामिल को कर्म का फल भोगे बिना मोक्ष कैसे प्राप्त हुआ।

होरा लाखन मूल को, रकसु लियो न जाय।
तातें दया दयाल भल, दीनों दिया बनाय ॥६३१॥

शब्दार्थ —मूल—मूल्य, रंक—गरीब।

अर्थ :—हीरा लाखों के मूल्य का होता है, रंक से वह नहीं लिया जा सकता, इसीलिए उसके वास्ते दयालु परमात्मा ने दया करके उससे भी अच्छा दीपक बना दिया है।

तरसे दुहु मन मिलन कों, गह्यो दोउ घन मान।
सहि क्रोध मिलये दुति दुहु प्रिय लगं सम प्रान ॥६३२॥

शब्दार्थ :—दुहु—दोनों (नायक, नायिका), घन—अत्यधिक, दुति—दूती।

प्रसंग कल्पना—राधा तथा कृष्ण दोनों मान किये हुए हैं, दूती उन दोनों को मिलाती है।

अर्थ :—दोनों के मन मिलन को तरस रहे हैं फिर भी दोनों ने खूब मान कर रखा है। दूती ने क्रोध सहकर दोनों को मिला दिया अत वह दूती उन्हें प्राणों के समान प्यारी लगती है।

चातक स्वातीबूंद बिन, अचें ग्रौर कबु नीर।
तहुँ तूतो मन जिन धरें, ग्रास बिना बलबीर ॥६३३॥

शब्दार्थ —अचें—पीवें।

अर्थ —चातक स्वाति-बूंद को छोड कर अन्य नीर भले पी ले, पर हे मन, तू श्रीकृष्ण को छोडकर अन्य किसी की आशा कभी मत करना।

नारी नेह अधीक पें, स्वारथ समल बिचार।
रूप द्रव्य गुन ग्रादि कछु, नहि तहु जननी प्यार ॥६३४॥

शब्दार्थ —समल—मलसहित मैला।

अर्थ —नारी का प्रेम प्रगाढ अवश्य होता है, पर वह निमल नही होता, स्वार्थ के मल से मैला होता है। इसके विपरीत माँ की ममता निर्मल होती है क्योकि रूप, द्रव्य, गुण आदि के न होने पर भी माँ की ममता बनी रहती है।

जननि जनक ग्ररु सहोदर, ग्रखिल एक ससार।
ता बिनु ग्रबला ग्रादि सब, चहियें जिहि तेयार ॥६३५॥

शब्दार्थ —सहोदर—भाई ग्रबला—स्त्री।

अर्थ —माता पिता और बहिन भाई अखिल ससार में एक ही बार प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त पत्नी तथा अन्य वैभवादि जितन चाहें मिल सकते हैं। अत कभी माता, पिता तथा सहोदर की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए।

इखद लगें सुखसमय ग्रति, त्यों दुख उलट प्रमान।
जानि परें नहि ग्रमलपछ लागें समल महान ॥६३६॥

शब्दार्थ —इखद—स० ईषत किंचित अल्प ग्रमलपछ—स्वच्छ, शुक्ल-पक्ष, समल—काला, कृष्णपक्ष।

अर्थ —सुख का समय अल्प-व्यापी और दु ख का समय इसके विपरीत दीर्घ-व्यापी प्रतीत होता है। जैसे कि शुक्लपक्ष की रात्रि व्यतीत होती हुई प्रतीत ही नहीं होती और कृष्णपक्ष की रात्रि बहुत बडी प्रतीत होती हैं।

बड ग्रसीस बड तपहुतें, करि लेहू ग्रनुमान।
जननी जनक जुग कृष्ण के तारतम्य सुख दान[1] ॥६३७॥

---

[1] कान।

शब्दार्थ —कृष्ण के जुग जननी-जनक—वसुदेव-देवकी और नद-यशोदा ।

अर्थ :—श्री कृष्ण के दोनो माता-पिता (वसुदेव-देवकी और नद-यशोदा) को श्री कृष्ण का सुख मिला । पर वसुदेव-देवकी न तपस्या के बल पर उन्हें पाया था, अत: कम और नद-यशोदा ने उन्हें ब्रह्मा के आशीर्वाद से पाया था, अत अधिक सुख मिला ।

सचराचर मे समुझि यो, कीनो कृष्ण निवास ।
दिखें[1] न पैहें घट रव अरु ज्यो सुमनसुबास ।।६३८।।

अर्थ .—श्रीकृष्ण सचराचर म व्याप्त हैं । दिखते नहीं हैं, पर व्याप्त अवश्य हैं । उसी प्रकार जैसे घटे में ध्वनि और सुमन में सुवास ।

अजाजाल हरि रचि रहै, अलग और उरझाइ ।
फिरि लयहू निज धन्य कृति, उरननाभ[की नाइ ।।६३९।।

शब्दार्थ —अजा—माया, उरननाभ, ऊर्णनाभ—मकडी ।

अर्थ —हरि माया का जाल रचते है । स्वय पृथक् रहते हैं, दूसरो को उसमें उलझाते हैं । फिर अपने इस मायाजाल का सवरण भी स्वय ही कर लेते हैं । हरि की इस कृति को धन्य है । वह बिलकुल मकडी के जाले के समान है ।

विशेष .—मकडी जाला बुनती है । उसमें दूसरे जीवो को फँसाती है, स्वय नहीं फँसती और उस जाले को फिर स्वय ही खा जाती है । कवि की उक्ति बहुत ही सुन्दर एव सार्थक है ।

अबादिक को आहि पें, अबला दोहद हद्द ।
वे रोवें ये तन तजें, पतिप्रयान लखि सद्द ।।६४०।।

शब्दार्थ —अबादिक—माँ इत्यादि, दोहद—प्रेम, उत्कट इच्छा, पति-प्रयाण—मृत्यु, सद्द—तत्काल ।

अर्थ —माँ आदि का प्रेम भी अपने स्थान पर ठीक है, पर अबला के प्रेम की तो हद ही है । माँ इत्यादि तो रोते ही हैं, पर पत्नी तो पति की मृत्यु के साथ ही प्राण त्यागती है ।

वह सज्जन पर विवर लखि, यो राखें मनमाहि ।
ज्यो जननी जारत्व सुत, गुप्य[1] कूप जिमि छाहि ।।६४१।।

---

[1] गुप्प

शब्दार्थ :—पर विवर—पराये छिद्र, दोष; जननी जारत्व—माँ को दुश्चरित्रता, पर पुरुष के साथ सम्बन्ध, गुप्य—(गुप्–गोप्य—गुप्य) गुप्त ।

अर्थ :—वही सज्जन है, जो दूसरो के छिद्रो (कमजोरियो) को देख कर उसी प्रकार मन में रख सके जिस प्रकार पुत्र अपनी माता के जारत्व को और कूप अपनी छाया को अपने आप मे ही छुपा कर रखता है ।

प्रीति जुरिप्रकृति न मिलि, वह दुहु पख दुखपाय ।
रोटी गंडेरी चबी, क्यो डारैं क्यो खाय ॥६४२॥

शब्दार्थ :—प्रकृति—स्वभाव, दुहु पख—दोनो ही पक्ष में; गडेरी—गन्ना का टुकडा, चबी—चबा ली गई ।

अर्थ :—प्रीति हो जाय और प्रकृति न मिले वह दोनो ही तरह से (साथ रहते भी और अलग होते भी) दु ख पाता है । उसकी स्थिति उस व्यक्ति के जैसी हो जाती है जो रोटी और गंडेरी को एक साथ चबा ले । न उससे थूकते बनता है और न खाते ।

विशेष :—रोटी को चबा कर खाया जाता है और गंडेरी को चबा कर, चूस कर थूका जाता है । कवि की उक्ति बडी मौलिक एव सुन्दर है ।

प्रेमप्रिया के सिर बसे[1], वैष्णों जनके बीच ।
ताको कुचबिच राखियें, अजा अलग रहि मीच ॥६४३॥

शब्दार्थ —प्रेम-प्रिया—कृपा; सिर बसे—प्रथम (वर्ण) कृ, वैष्णो के बीच का (वर्ण) ष्ण, (कृ+ष्ण=कृष्ण); कुचबिच—हृदय में; अजा—माया; मीच—मृत्यु ।

अर्थ ·—प्रेम की प्रिया (कृपा) के शीर्षस्थ वर्ण (कृ) और 'वैष्णव' जन के मध्यवर्ती वर्ण (ष्ण) को लेकर हृदय में धारण कीजिए जिससे माया और मृत्यु दूर रहे ।

लोभी कूं जस दाम प्रिय, कामी कूं जस काम ।
जो अस प्रिय घनस्यामहे, जपियें ताको नाम ॥६४४॥

शब्दार्थ :—दाम—रुपए-पैसे; काम—कामना, जो—यदि ।

अर्थ :—लोभी को जैसे दाम प्रिय है, कामी को जैसे काम प्रिय है, यदि ऐसा ही घनश्याम प्रिय है तो उसका नाम जपिये ।

१. शिर बसे ।

विशेष :—अंतिम पंक्ति में 'जो' और 'ताको' किंचित् अस्पष्ट हैं। पाठक स्वयं विचार करें।

कारन से कारज न किल, पुत्र हु सब पितु से न।
मनि अहिसों, कित दीप मिस, उग्र कंस, अथु बेनु ।।६४५।।

शब्दार्थ :—किल—निश्चय; अहि—सर्प; मिस—मषि (?), काजल; उग्र—उग्रसेन, कंस का पिता, बेन—वेनराज, पृथु का पिता।

अर्थ :—सभी कार्य कारण से निश्चित होते हों और सभी पुत्र पिता के जैसे होते हों ऐसा नहीं होता है। मणि-सर्प और दीप-काजल का कार्य-कारण सम्बन्ध असंगत है। इसी प्रकार सदैव पिता जैसा ही पुत्र नहीं होता; उग्रसेन-कंस और वेन-पृथु के दृष्टांत से भी यह स्पष्ट हो जाता है।

लह्यों गंध पद तुलसि हरि, दें सुकालहु त्रास।
अमिबुट्टी बल नकुल ज्यों, करे नागबल नास ।।६४६।।

शब्दार्थ :—लह्यो—प्राप्त की; त्रास—डर, भय; नकुल—नेवला।

अर्थ :—जिसने हरि के चरणों की तुलसी की गंध मात्र प्राप्त की है, वह काल को भी भयभीत कर देता है। वैसे ही जैसे कि अमृत की बूटी के बल से नेवला नाग के बल का नाश कर देता है।

होतहिं हरि पयपान दिय[१], जब मति, गति, बच नाहिं।[२]
सो अब तों क्यों भूलिहैं, तूं सोचत चितमाहिं ।।६४७।।

शब्दार्थ :—पयपान दिय—पय पीने को दिया, बच—वाणी।

अर्थ :—हे जीव, जन्मते ही जब तू मति, गति एवं वाणी विहीन था तब भी ईश्वर ने तेरे पीने के लिए माता के स्तनों में दूध की व्यवस्था कर दी थी। वही परमात्मा अब तुझे कैसे भूल सकता है? तू मन में क्यों सोच-विचार करता है?

दुराचारि अतितहु तरें, कछु समधनु[३] मुरार।
व्हालों मरें न जिमि करी, कर अंगुल कं व्हार ।।६४८।।

शब्दार्थ :—समंध—संबंध, व्हालो—तब तक, करी—हाथी; कं—जल।

---

१. दिन, २. जब लग गति बच नाहिं (मू०), ३. समद्ध।

अर्थ —यदि कोई अत्यन्त दुराचारी हो किन्तु उसका श्रीकृष्ण के साथ किंचित् भी सबंध हो, तो उसका उद्धार हो जाता है। जैसे कि हाथी तब तक नहीं डूबता जब तक वह (उसकी सूंड) पानी के एक अंगुल भी ऊपर हो।

तोहूँ सुखकरहीं लगे, जो प्रीतम दुखदाय।
ज्यो केकीको कद अरु कज केतकि पटपाय ॥६४६॥

शब्दार्थ —केकी—मयूर, कद—बादल, कज—कमल, पटपाय—(पट्पाद) भ्रमर।

अर्थ —अपना प्रेमपात्र यदि दु खदायी हो तो भी सुखकारी ही प्रतीत होता है। जैसे कि मयूर को बादल तथा भ्रमर को कमल और केतकी दु खदायी होते हुए भी सुखदायी ही प्रतीत होते हैं।

विशेष —बादल मयूर की पूँछ भिगो देते हैं, कमल भ्रमर को बदी कर लेता हैं, कैतकी (केवडा) भ्रमर को काँटों से बेंध देती हैं। फिर भी प्रिय को वे सुखदायी ही प्रतीत होते हैं।

प्यारी प्यारी सी लगे, सबें गरीबी वेखि।
रूपवती गुणवत की, साच सवाव बिसेखि ॥६५०॥

शब्दार्थ —सवाद—स्वाद, बिसेखि—विशेष।

अर्थ —गरीबी सभी को प्रेयसी के समान प्यारी लगती है। पर यदि किसी गुणवत पुरुष की गरीबी देखने को मिले तो वह रूपवती प्रेयसी के समान वास्तव में अधिक आनन्ददायी प्रतीत होती है।

प्रस्ताव-प्रकरण

दुहा

डस्यों कस्यों हरि भ्रमितमन, हरि सु धस्यो भ्रमि पान।
फस्यो चिबुककुप थकिप्रिया, ताहि अभय दे दान ॥६५१॥

शब्दार्थ —डस्यो—काटा हुआ, कस्यो—दबाया हुआ, हरि—नाग (२) भ्रमर (३) सिंह (४) पहाड, आदि, चिबुक कुप—ठोढी का गड्ढा।

प्रसग कल्पना —श्रीकृष्ण राधिका से कह रहे हैं :—

अर्थ —हे प्रिये, तेरी नाग-रूपी वेणी और भ्रमर-रूपी भृकुटि से डॅसे जाने पर तथा सिंह-रूपी कटि और पर्वत-रूपी कुचों से कसे जान पर मेरा भ्रमित

मन थक कर तेरे होठो का अमृतपान करने के लिए आगे बढा, किन्तु हार कर वह तेरे चिबुक कूप में गिर पडा। तू उसे निकाल कर अभय दान दे।

विशेष —हरि शब्द अनेकार्थवाची है। यह शब्द ही इस दोहे का सौंदर्य है। इस दोहे की बिहारी के चिबुक गाड सबधी दोहो से तुलना कीजिए।

जातें प्रपत[1] पदवि प्रभु, तासुं सु कब्रु न प्रऊन।
चिंतामनि दानीकुं जिमि, सब कछु दीनो नून ॥६५२॥

शब्दार्थ —प्रापत—प्राप्त, अऊन—उऋण, नून—अल्प।

अर्थ —जिसकी सहायता से प्रभु-पद प्राप्त हो उसकी कृपा से कभी उऋण नहीं हो सकते। वैसे ही जैसे चिन्तामणि का दान देने वाले दानी को हम चाहे जितना बदले मे दें फिर भी उसके दिये हुए की तुलना में वह अल्प ही रहेगा।

विशेष .—जिस तरह चिन्तामणि के दान को चुकाया नही जा सकता उसी तरह भगवद्भक्ति का दान देने वाले गुरु की कृपा से हम कभी उऋण नही हो सकते।

सलज नैंन आधे बचन, कहत कहत सकुचाय।
ललना समुझी लच्छ सों, लिये हिय लाल लगाय ॥६५३॥

शब्दार्थ —लच्छ—लक्ष्य (२) लक्षण।

अर्थ .—सजल नैन, टूटे-फूटे वचन, बोलते हुए लज्जा—लाल की यह अवस्था (लक्षण) देख कर ललना ने लाल को गले से लगा लिया।

विशेष —नायक की किशोरावस्था का बहुत ही सुन्दर वर्णन इस स्वभावोक्ति द्वारा हुआ है।

माननि प्रीति परिच्छ कों, दुति बरने प्रिय दोस।
सुनत लाल भ्रम व्हें गये, मानु रोस[2] के कोस ॥६५४॥

शब्दार्थ —माननि—मानिनी, परिच्छ—परीक्षा करने को, दुति—दूती।

अर्थ —मानिनी नायिका की प्रीति की परीक्षा लेने के लिए दूती ने

---

१. प्रताप, २ रोश।

मायक के दोषों का वर्णन किया। अपने प्रिय के दोष न सुन सकने के कारण, सुनते ही नायिका के दृग लाल हो गये मानो रोष के कोष हो।

> प्रीतिरूप मो कन्यका, तुमे ब्याहि मे वहांन।
> बरबट राखो आप ढिग, देहु छुड़ाय कुबांन ॥६५५॥

शब्दार्थ :—बरबट—जबरदस्ती।

अर्थ :—हे श्रीकृष्ण, मैंने अपनी प्रीतिरूपी कन्या तुम्हें ब्याह दी है। अब आप इसे जबरदस्ती अपने पास रखिये और यदि इसकी (या मेरी) कोई कुबान हो तो छुड़वा दीजिये।

विशेष :—कवि ने जामातृभाव से इस दोहे में कृष्ण का स्मरण किया है। उक्ति अत्यंत अनूठी और मौलिक है।

> जीव अंश हों आप को, सोख्यों करन कुफेल।
> तात लजोंगे जो नहीं, डारों हठि निज गेल ॥६५६॥

शब्दार्थ :—कुफेल—कुकर्म, अंश—पुत्र; तात-पिता।

अर्थ :—हे श्री कृष्ण, मैं (जीव) आपका ही अंश (पुत्र) हूं और कुमार्ग-गामी बन गया हूं। यदि मैं अपना मार्ग हठपूर्वक ग्रहण करता रहूँ और छोड़ूँ नहीं तो हे तात आप ही को लज्जित होना पड़ेगा।

विशेष :—तुलना कीजिए, 'हठ न करो अति कठिन है मो तारिबो गुपाल'
—बिहारी

> हरि हरि तेरो[1] मन बली, बल लिय स्यालनि माप।
> मेरो नांहि बसाय कछु, लिहु हठि आप छुड़ाप ॥६५७॥

शब्दार्थ :—हरि—श्रीकृष्ण (२) सिंह; बली—बलि, भक्ष्य (२) बलवान; स्यालनि माप—गीदड़-रूपिणी माया।

अर्थ :—हे सिंह-रूप हरि, मेरा मन आपका भक्ष्य है, इसको गीदड़-रूपिणी माया ने बलपूर्वक पकड़ रखा है। मेरा तो कुछ बस चलता नहीं है, आप इसे हठ करके छुड़ा लीजिए।

> द्वै इकर्ते तहुं सम न किल, इक असंत इक संत।
> काल तालुसों जिमि भये, म्होरा म्हाट्टरक्त ॥६५८॥

---

१. हारो।

शब्दार्थ —किल—निश्चित, काल—सर्प, म्होरा—जहर दूर करने का म्होरा, म्हाहुरदत—सर्प का विषैला दाँत।

अर्थ —एक ही कारण से उत्पन्न होनेवाले दो कार्यों के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दोनों समान ही होंगे। एक कार्य शुभ और दूसरा अशुभ भी हो सकता है जैसे कि कालतालू से उत्पन्न मोहरे और म्हाहुरदत्त में से एक साधु और दूसरा असाधु है।

सकल मलिन सब जन्म के, हर इक नाम मुरार।
दिखत दीप अमिताब्द कों, ज्यों निहार सहार ॥६५९॥

शब्दार्थ —मलिन—पाप, अमिताब्द—अनेक वर्ष, निहार—अंधकार।

अर्थ—मुरारिका नाम मात्र जन्म-जन्मातरों के सकल पाप-पुंजों को हर लेता है। जैसे कि अनेक वर्षों के अंधकार को दीपक तत्काल नष्ट कर देता है।

कहें मिमासक[1] ईस ना, सुनि मन जिन धरि खाच।
घघू घनें न जानही, तहु ज्यों सुर हें साच ॥६६०॥

शब्दार्थ —मिमासक—निरीश्वरवादी, खाच—सदेह, घूघू—उल्लू, सुर—सूर, सूर्य।

अर्थ —मीमासक कहत हैं कि ईश्वर नहीं है, पर हे मन, उनके वचनों पर तू कभी विश्वास न कर। उल्लुओं का समूह यदि सूय की उपस्थिति को न पहचाने तो भी सूर्य तो निश्चित रूप से विद्यमान है।

विशेष —निरीश्वरवाद का खडन।

घात लात सहि अधम की, भोरि टीप दहि गात।
अरु टकोर दरके न तहु, करस सरस तव पात ॥६६१॥

शब्दार्थ —भारि—भ्रमण, चक्र, कुम्हार का चाक, टीप—ठोक-पीट, दहि—जलकर, दरके—फटना करस—कलश, घडा, सरस—जल से परिपूर्ण।

अर्थ —पहले अधम का आघात (मिट्टी खोदते समय) फिर उसकी लात (मिट्टी को रौंदते समय) फिर चाक की चढाई एव ठोक-पीट फिर अग्निताप से गात-दाह और तदनतर खरीदार के टकोर सहकर भी जो कलश दरकता नहीं वही कलश रसयुक्त, जल से परिपूर्ण बनता है।

---

1 मिमास्सिक।

विशेष —अत्यत मौलिक एव सुन्दर उक्ति है।

जो जाहि को अश हुइ[1], ताहि भजें वें तेह।
बच्छ न च्योखें महिसि ज्यों, महिस न गोपय नेह ॥६६२॥

शब्दार्थ —वैं—निश्चय ही, बच्छ—गाय का बछडा, महिसि—भैंस, गोपय—गाय का दूध, च्योखे—चूसना, पीना।

अर्थ —जो जिसका अश होता है, वह निश्चय उसी को भजता है। बछडा कभी भैंस के स्तन नही चूसता और पाडा कभी गाय का दूध पीने का प्रयत्न नही करता।

विशेष —गाय भक्ति और भैंस माया का प्रतीक है। हरि भक्त 'सब तज हरि भज' के अनुसार भक्ति का और ससारासक्त पुरुष माया का सेवन करते है।

जो न बरछि [तरछी डरें, मरें सु करछी मार।
देखो बड़ भड भिसम से, कौरो किय बस अहार ॥६६३॥

शब्दार्थ —बरछि—बरछी, तरछी—बाँकी, तलवार, करछी—कडछुली (लक्ष्यार्थ) भोजन, बड भड—महान योद्धा, भिसम—भीष्म।

अर्थ —जो बरछी अथवा तरछी से तनिक भी भयभीत न होता हो वह करछी की मार स सहज ही मर जाता है। भीष्म पितामह जैसे महान योद्धा भी आहार के कारण ही कौरवो के वश म हो गये।

विशेष —जब दु शासन भरी सभा में द्रौपदी को खीच कर लाया तब भीष्म पितामह उपस्थित थे। कौरवो का यह अन्याय देखकर भी वे कुछ बोले नहीं, चुप बैठे रह क्योकि वे उनका अन्न खाते थे।

बड प्रताप सतसग लघु, अधमोत्तम व्है जाय।
गोबर कीट प्रसग अलि, जो हरि उर पद पाय ॥६६४॥

शब्दार्थ —हरि-उर-पद—भगवान के हृदय पर प्रतिष्ठित होने का उच्च पद।

अर्थ —सत्सग का बडा प्रताप है। थोडे से सत्सग लाभ से भी अधम उत्तम कोटि का बन जाता है जैसे कि गोबर का कीडा भ्रमर के सत्सग से भ्रमर बन जाता है और फिर कमल म बन्द होकर 'हरि-उर-पद' को प्राप्त कर लेता है।

---

१ हार।

बड़ अनु[1] अनुकपहु अति, तिति न छोट अति होइ ।
ज्यों उद अगुल जल बढ़ें सर कर सम नहिं होइ ॥६६५॥

शब्दार्थ —अनु—अणुमात्र, अल्प, अनुकपा—कृपा, उद—उदधि ।

अर्थ —बडो की अणुमात्र अनुकपा भी बहुत होती है । छोटों की अत्यधिक अनुकपा भी उसकी समता नहीं कर सकती । जैसे कि समुद्र में अगुल मात्र बढ़ी हुई जल राशि की समता तालाब का एक हाथ बढा हुआ पानी नहीं कर सकता ।

बाल लाल इक दीठितें, अचेत लों बवि जाइ ।
तरल होत सुनि नाऊ निज, तू निपटाकी नाइ ॥६६६॥

शब्दार्थ .—बाल—बाला, दीठि—दृष्टि, नजर, अचत—बेहाश तरल—चैतन्य, चचल, निपटा—एक जानवर जिसके सम्बन्ध में कवि प्रसिद्धि है कि किसी से भी दृष्टि मिलते ही वह बेहोश हो जाता है और नाम निपटा' कह कर पुकारने से फिर होश में आता है ।

प्रसग —सखीवचन नायिकाप्रति ।

अर्थ —हे बाला, तू तो नायक स नजर मिलते ही बेहोश हो जाती है । फिर जब कोई तुझे नाम लकर पुकारता है, तब तू होश में आती है । तू तो बिलकुल निपटा की जैसी है ।

जब तब वैसों ही दिखें, तनु दिपसिख[2] नदि नार ।
पें वह वहन अकुठ त्यों[3], तेरों आयु विचार ॥६६७॥

शब्दार्थ —अकुठ—अकुठित, सतत प्रवाहित ।

अर्थ —तन, दीपशिखा और नदी का प्रवाह जब देखो तब वैसा का वैसा ही दिखाई देता है, किन्तु जिस तरह उनका प्रवाह सतत चालू रहता है वैसे ही शरीर का गठन एक-सा दिखाई देता है, पर आयु निरन्तर बढ़ती जाती है ।

विशेष —दीपक के तेल और नदी के जल की भाँति आयु निरन्तर क्षीण होती रहती है ।

ध्यानादिकतें अनघ नव, हरि न साध्य बिनु राग ।
रविबिनु जिमि न जिवावि नें, प्रहर होइ निसि जाग ॥६६८॥

---

१ अणु, २ दिप सिप नदि-नार, ३ वहन अकुठ त्यों (प्र०) ।

शब्दार्थ —ग्रनघ—निष्पाप, भव—कल्याण, मुक्ति राग—स्नेह, राग—प्रेम, जिवादि—जोव, नचत्र ग्रादि ग्रहर—दिन ।

अर्थ —ज्ञान ग्रादि से मनुष्य निष्पाप हो सकता है, मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु विना प्रेम के हरि' को प्राप्त नही कर सकता । जैसे कि सूर्य के बिना नचत्र तथा दीप ग्रादि से प्रकाश तो हो सकता है, पर रात्रि के स्थान पर दिन नही हो सकता ।

पदसों परें प्रनीति कबु, ग्रसत सत सत ग्रसत्य ।
ग्रारकूट कहि पुरट सब, राय रक ज्यों गत्य ।।६६६।।

शब्दार्थ —पदसी—पद के जैसी ग्रारकूट—पीतल पुरट—स्वर्ण ।

अर्थ —पद के ग्रनुसार ही काय की प्रतीति होती है । ग्रसत्य सत्य ग्रौर सत्य ग्रसत्य भासता है । जैसे कि राजा यदि पीतल के ग्राभूषण धारण करे तो भी लोग उसे स्वर्ण समझते हैं ग्रौर रक यदि स्वर्ण धारण करे तो भी उसे लोग पीतल समझते हैं ।

विशेष —कवि ने पद की महिमा का वखान किया है ।

ग्यानी दुरबल होइ ना, बिरही कबहु न पुष्ट ।
साधु कपटी नहि कहूँ, सदय न देखे दुष्ट ।।६७०।।

शब्दार्थ —पुष्ट—मोटा ताजा, सदय—दयावान ।

अर्थ —ग्रात्मज्ञानी मनुष्य कभी दुबल नहीं होता विरही कभी मोटा-ताजा नही होता, साधु कपटी नही होता ग्रौर दयावान दुष्ट नही होता ।

लगत रूप बड गुनहु ते, कर देखत ग्रनुमान ।
करे जखमि गुनि जानि इक, रुप दुहु जान ग्रजान ।।६७१।।

शब्दार्थ —जखमि—घायल, प्रभावित जानि—जानकार, परिचित, समझदार ।

अर्थ —रूप गुण से भी बडा लगता है, विचार कर देख लो । गुण तो जानकार को ही घायल करता है रूप तो परिचित ग्रौर ग्रपरिचित दोनो को घायल करता है ।

कौन न पूजें ताकु फिरि, ग्राह्यन ग्ररु हरि भवत ।
रूपवत सहु गुनि जिमी, तायें सब ग्रासवत ।।६७२।।

शब्दार्थ :—सह—सर्व।

अर्थ :—ब्राह्मण और वह भी हरिभक्त, उसे फिर कौन नहीं पूजेगा? अर्थात् सभी उसका आदर करेंगे। जैसे कि यदि कोई सुन्दर एवं सर्वगुण-सम्पन्न हो तो उसके प्रति सहज ही सब आसक्त होते हैं।

इकरस कृपा कृपाल जग, सहज चित्रता पाइ।
अमिकर अमिकर श्राव सम, भिन श्रोषधि की नाइ ॥६७३॥

शब्दार्थ :—इकरस—एकसी, चित्रता—विचित्रता, विभिन्न स्वरूप, अमिकर—चंद्र।

अर्थ :—कृपालु श्रीकृष्ण की कृपा संसार में सब पदार्थों पर एकसी होती है, पर वे पदार्थ उस कृपारूपी प्रसाद को अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करते हैं। जैसे कि चंद्रमा की अमृतमयी किरणों का स्राव सभी (जड़ी-बूटियों) पर समान रूप से होता है, पर प्रकृति के अनुसार उनका प्रभाव भिन्न होता है।

अतर तारि जार्यों अजर, जिते अजित श्रीनाथ।
का न करों जो चाहु तो, सबकर हरि निज हाथ ॥६७४॥

शब्दार्थ :—अतर—जिसे न तारा जा सके, पत्थर, जार्यों—जलाया, अजर—न जलने वाली। अजित—जिसे न जीता जा सके, महादेव।

अर्थ :—हे श्रीनाथ जी, आपने न तैरने वाले पत्थर को पानी पर तैरा दिया, न जलने वाली लंका को जला दिया और अजित महादेव को जीत लिया। आप चाहें तो क्या नहीं कर सकते? सब कुछ आप ही के हाथ में है।

सब जग पुरुषोत्तमप्रजा, सब पे प्रेम समान।
अधिकों लगें प्रपन्न पें, कल्पद्रुम ज्यों दान ॥६७५॥

शब्दार्थ :—प्रपन—शरणागत, कलपद्रूम—कल्पद्रुम, कल्पवृक्ष।

अर्थ :—यह सारा संसार पुरुषोत्तम की प्रजा है। और सभी पर उसका समान रूप से प्रेम है। शरणागत के प्रति भगवान का अधिक प्रेम है ऐसा कुछ लोग कहते हैं, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। भगवान तो कल्पवृक्ष के समान दानी हैं।

विशेष :—जो कोई कल्पवृक्ष के नीचे जाता है उसकी मनोकामना पूर्ण

हो जाती है। कल्पवृक्ष किसी के भी साथ पक्षपात नही करता। पर इच्छा-पूर्ति के निमित्त उसके नीचे जाना अनिवार्य है। इसी भांति भगवान भी पक्षपात-रहित हैं, किन्तु भक्त को उनके आश्रय में अवश्य ही जाना चाहिए।

करी मसागत अफल सब, विवेक बिनु व्हैं जाय।
ज्यो पठिबो प्रतिपदा कौं, पूर्व हु पाठ नसाय॥६७६॥

शब्दार्थ :—मसागत—मशक्कत, मेहनत, अफल—बेकार।

अर्थ —बिना विवेक के सारी मशक्कत बेकार हो जाती है। जैसे कि प्रतिपदा के दिन पढने से पूर्व पठित पाठ भी भूल जाता है।

विशेष .—तुलना कीजिए —

अष्टमी गुरु हन्त्री च शिष्य हन्त्री चतुर्दशी।
अमावास्याऽयो हन्त्री, प्रतिपद् पाठनाशिनी॥

रे जिय अजहु न ग्यान हरि, ग्लानि न सुनि दुरबान।
अजर अरे मगन लरें, ज्यों पोरीको स्वान॥६७७॥

शब्दार्थ —दूरबान—(बान = आदत) आदत की बुराई, भर्त्सना, मजर—आगन, अरे—अडे, पोरी को स्वान—गली का कुत्ता।

अर्थ .—हे जीव, अभी तक तुझे भगवान का ज्ञान नही हुआ। अपनी भर्त्सना सुनकर भी तुझे ग्लानि नही हुई। अभी भी तू गली के कुत्ते की तरह अपने मकान के आगन में अडा हुआ है।

विशेष —गली का कुत्ता दूसरे को अपनी गली में नहीं आने देता और गली के लोगों की भर्त्सना सह कर भी वह उसी गली में अडा रहता है।

उपाध्याय, कूटन, धुरत, नट जो बहुश्रुत ओर।
इनसों छल रचिये न कबु, ये सब छलि सिरमोर[1]॥६७८॥

शब्दार्थ :—उपाध्याय—धर्माचार्य, कूटन—पाजी, धुरत—धूर्त, नट—खेल दिखानेवाला, बहुश्रुत—अनुभवी।

अर्थ —उपाध्याय, कूटनीतिज्ञ, धूर्त, नट और बहुश्रुत मनुष्यो से कभी छल नहीं करना चाहिए क्योकि ये सब छलिया के शिरोमणि हैं।

---

१ शिरमोर।

पचई सके न प्रनयरस, रसिक भक्त बिनु ग्रान ।
टिकें न जिमि दुज शुद्ध बिनु, सोमवल्लि रसपान ।।६७६।।

शब्दार्थ :—ग्रान—ग्रन्य; दुज—द्विज, ब्राह्मण; सोमवल्ली—सोमवेल ।

अर्थ :—रसिक भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई प्रणय-रस को नही पचा सकता जैसे कि शुद्ध ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई सोमवेलि के रस का पान नहीं कर सकता ।

विशेष :—कवि-प्रसिद्धि है कि सोमवेल के रस को विशुद्ध ब्राह्मण ही पचा सकता है। अन्य कोई पीता है तो वमन कर देता है । दयाराम के गुजराती पद से मिलाइये :—"जे कोई प्रेम ग्रश ग्रवतरे, प्रेम रस तेना उरमा ठरे ।"

कुलिन भयहु कठोरता, छाडत नाहिन कूर ।
कांकरु[1] ज्यो मुग मोठसों, होइ दंत तहु[2] दूर ।।६८०।।

शब्दार्थ :—कागरु—ककर, मोठ—मोठ ।

अर्थ :—ग्रच्छे कुल में होने पर भी क्रूर मनुष्य कठोरता नही छोडता है । जैसे कि ककर मूग-मोठ में मिलकर भी वैसा ही कठोर रहता है । जब वह दाँत तले ग्राता है तो उसकी वास्तविकता प्रकट हो जाती है ग्रौर उसे दूर करना पडता है ।

वेंसों करज निहारि दुख, जेंसों करज नहार ।
पें कछु भल वह टरत द्रुत[3], यह न हार बिस्तार ।।६८१।।

शब्दार्थ :—करज—कर्ज (२) नख, नहार—नाहर, शेर ।

अर्थ :—ऋण के दुःख को वैसा ही समझो जैसा कि शेर के नख का घाव । शेर के नख का घाव तो फिर भी ग्रच्छा है कि प्राण लेकर जल्दी ही टल जाता है, किन्तु यह नहीं टलता, उल्टा विस्तृत ही होता जाता है ।

शशि निश बन हरि नर नरी, मुख रद शशि चिकूर ।
इत्यादिक भा परस्पर, जिन रहि तिय पिय दूर ।।६८२।।

शब्दार्थ :—हरि—सिंह; नरी—नारी; रद—दाँत, चिकूर—केश; भा—शोभा ।

प्रसग :—कोई सखी ग्रपनी सखी से कह रही है ।

---

१. कॉंगरु, २ ग्रतन्हु, ३. धुत ।

अर्थ :—शशि और निशि, बन और केहरि, नर और नारी, मुख और दाँत, शीश और केश इत्यादि की शोभा अन्योन्याश्रित है। इसी तरह पति-पत्नी की शोभा भी साथ रहने में है। हे सखी, अपने प्रियतम से दूर मत रह।

विशेष :—मिलाइये—'सर बिन सरसिज सरसिज बिन सर की सरसिज बिन सूरे। यौवन बिन तन तन बिन यौवन की यौवन पिय दूरे।' —विद्यापति

प्राप्य समय बड वस्तुकों, ग्यान[1] न तिहि बड़ हानि।
कृष्णविष्णु हैं व्रष्णिकुल, सब ज्यों सके[2] न जानि ॥६८३॥

शब्दार्थ :—व्रष्णिकुल—व्रष्णि नामक राजा का कुल; यादव कुल।

अर्थ :—बड़ी वस्तु को प्राप्ति के समय उसकी महत्ता का जिसको ज्ञान नहीं होता उसकी बड़ी हानि होती है। जैसे कि यादव कुल में (बलदेव, उद्धव आदि को छोड़कर) सब यह नहीं जान सके कि कृष्ण ही विष्णु के अवतार हैं। इस अज्ञान के कारण ही वे मोक्ष के भागी न हो सके।

अति वल्लब दुर्लभ सुलभ, कहि तहु पुर न प्रतीति[3]।
लही कबु तदपि अधीर हिय, हे ज्यु अनादी रीति ॥६८४॥

शब्दार्थ :—वल्लभ—प्रिय; लभ—लभ्य, प्राप्त; पुर—पूरी; प्रतीति—विश्वास।

अर्थ :—अत्यंत प्रिय, किन्तु दुर्लभ वस्तु के लिए यदि कोई कहे कि वह प्राप्त होगी तो भी हमें पूरी प्रतीति नहीं होती। यदि वह वस्तु प्राप्त हो भी जाय तो भी हृदय अधीर ही बना रहता है कि वह वस्तु फिर कहीं हाथ से न निकल जाय। अनादि काल से मानव-मन की यही दशा है।

हरि गुर हरिजन अेक त्रय, ज्यों गंगा त्रीधार।
भोगवती, भागीरथी, मंदाकिनी[4] बिचार ॥६८५॥

अर्थ :—हरि, गुरु और भगवद् भक्त त्रिधारा गंगा की भाँति तीन होते हुए भी एक हैं। स्वर्ग में गंगा भोगवती, पृथ्वी पर भागीरथी और पाताल में मंदाकिनी कहलाती है। पर वस्तुतः है वह एक ही।

---

१. ज्ञान २. शके, ३. अति वल्लभ दुर्लभ कहि लभ तहु पुरन प्रतीति, ४. मंदाक्यनी।

विशेष :—प्रत्यंत मौलिक एवं सुन्दर उक्ति है।

हरिजन में हरि जानिलें, हरिजन हरिके माहि।
दीपक मे ज्यो बह्नि हैं, दीप बह्निमे प्राहि ॥६८६॥

शब्दार्थ :—वह्नि—अग्नि।

अर्थ —हरिजन में हरि हैं और हरि में हरिजन हैं जैसे कि दीपक में अग्नि है और अग्नि में दीपक है।

हरिही मे सब जक्त है, जगमे[1] हरि यों मानि।
जलनिधिमे सब बीचि ज्यो, बीचि जलनिधि जानि ॥६८७॥

शब्दार्थ .—जक्त—जगत, संसार; वीचि—लहर।

अर्थ :—हरि में सब ससार है और संसार मे हरि हैं। जैसे कि समुद्र में लहर और लहर में ही समुद्र है।

काठिण्यार्थ प्रकरण

करिभि, उदक, केहरि, रमा, रदन, द्रगन, खट[2] नाम।
ग्ररथ न तूटे खट बरन, करो दूर नहि काम ॥६८८॥

शब्दार्थ :—करिभि—हाथी; उदक—जल; केहरि—सिंह; रमा—लक्ष्मी; रदन—दाँत, खट—पद्, छह।

अर्थ :—करिभि, उदक, केहरि, रमा, रदन, और दृगन—ये छह नाम हैं इनमें से छह वर्ण ऐसे है, जिनका काम नहीं, उन्हें दूर करो किन्तु यह ध्यान रहे कि ग्रर्थ न टूटे।

विशेष .—ऐसा करने पर "करि, दक, हरि, मा, दन, गन"—हरि में दृष्टि रख कर अपने दिन गिन, आयु बिता।

दंत[3] मिलेतें दु.ख टरें, स्वजन मिलत सुख जाय।
प्रान रहे बिखपानतें, हरीभजन दुखदाय ॥६८९॥

शब्दार्थ —दैत—त्रिय, स्वजन—(स्वजन) कुत्ते, विप—जल, हरिभजन—हरि का भजन (२)—स्वर्ग की कामना अथवा कामवासना।

१. जगत, २. षट, ३. दैत्य।

अर्थ :—दैत्य के मिलन से दुःख टलता है, स्वजन के मिलते ही सुख चला जाता है, विषपान से प्राण रहता है और हरिभजन से दुःख होता है।

विशेष :—इस दोहे में कवि ने दैत्य(= प्रिय); स्वजन (= श्वजन), विष (= जल), हरि (= कंचन, काम) शब्दो का प्रयोग करके चमत्कार उत्पन्न किया है। इन शब्दो के अन्य अर्थों को ग्रहण करने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

पापी तो हरिजन खरो, पीपा हरिजन नांहि।
पाप करेतें संत के, दोष करे सब जाहि ॥६६०॥

शब्दार्थ :—पापी—पापी (२) पिलाकर पीनेवाला, पीपा—पहले स्वयं पीकर दूसरे को पिलानेवाला, पाप करेतें—पाप करने से (२) पा पकरेते—पाँव पकडने से।

अर्थ :—जो पहले दूसरा को तृप्त करके फिर स्वयं तृप्त होना चाहता है वही सच्चा भक्त है (पहले अपने पोषण का ध्यान रखकर फिर दूसरो की बात सोचने वाला व्यक्ति हरिजन नहीं है) ऐसे संत के पाँव पकड़ने से, पहले किये हुए दोष नष्ट हो जाते हैं।

कृपन सोइ दातार हे, दाता कृपनसु अंग।
सब तजिकें वे जात हैं, सु ले चलत सब संग ॥६६१॥

शब्दार्थ :—कृपन—कृपण, कजूस, दातार—दानी।

अर्थ :—जो कृपण है वही दातार है; और जो दातार है वही कृपण है। क्योंकि कृपण सब कुछ यही छोड जाता है, अपने साथ कुछ भी नही ले जाता। और दातार दान करके परलोक के लिए सब कुछ अपने साथ ही ले जाता है, यहाँ कुछ नही छोडता।

विशेषार्थ :—१ भ्रकुटी रूपी भ्रमर आशिक और नेत्ररूपी कमल माशूक।
२. नासिका रूपी शुक आशिक और अधररूपी बिंबाफल माशूक।
३. कटिरूपी सिंह आशिक और कुचरूपी पर्वत माशूक।
४. उदररूपी कुमुद आशिक और मुखरूपी चंद्र माशूक।
५ गतिरूपी हाथी आशिक और जंघारूपी कदली माशूक।
राधा के रूप में ये पाँच आशिक-माशूकों के युग्म हैं।

रासीरासी नहि प्रिया, तेरी जुग मे कोय।
मदनरासिपति की सुता, पति तुव छबिचित पोय ॥६६३॥

शब्दार्थ :—रासी रासी—राशि की राशि; राशि की राशि तुला हुई = तुल्य मदन-रासि-पति की सुता—पति-मदन की राशि = सिंह का पति = सूर्य, सूर्य की सुता = यमुना, यमुना का पति = श्रीकृष्ण।

अर्थ :—हे प्रिये, ससार मे तेरी बराबरी की कोई दूसरी नही है। क्योंकि श्री कृष्ण तेरी छवि पर आसक्त है।

वल्लभ सब ससार को, ता रासी की रास।
तारासी अरि अरि अरी, अरिपति के हम दास ॥६६४॥

शब्दार्थ :—वल्लभ—प्रिय, वल्लभ सब संसार को—सब ससार का; प्रिय = सुख; ता रासी को रास—उस (सुख) की राशि को राशि = कुंभ; कुंभ की राशि (मिथुन) की राशि = सिंह, तारासी अरि अरि अरी—उस राशि (सिंह) के अरि मेघ, मेघ के अरि पवन, पवन का अरि सर्प, सर्प का अरि गरुड; अरिपति—गरुडपति, कृष्ण।

अर्थ :—सब संसार का प्रिय 'सुख', उसकी राशि कुंभ; कुंभ की राशि 'मिथुन,' मिथुन की राशि 'सिंह', सिंह का अरि मेघ, मेघ का अरि पवन, पवन का अरि सर्प, सर्प का अरि गरुड, गरुड़ के पति विष्णु (श्रीकृष्ण) उन्हीं का मैं दास हूँ।

विशेष :—कवि ने क्रमशः सुख की राशि की राशियों को बताते हुए गूढ़ार्थ से श्रीकृष्ण का नाम निकलवाया है और कहा है कि मैं श्रीकृष्ण का दास हूँ।

का बस्तू जानें नहीं,[1] का करि सकें न कृष्ण ।
का नहिं बिनके निलयमे, दिहु उत्तर त्री प्रष्ण ॥६६५॥

शब्दार्थ —निलय—घर प्रष्ण—प्रश्न ।

अर्थ —श्रीकृष्ण किस वस्तु को नहीं जानते ? वे क्या नही कर सकते ? उनके घर में क्या नहीं है ? इन तीन प्रश्नो का उत्तर दीजिए ।

विशेष —इन तीन प्रश्नो का उत्तर—श्रीकृष्ण अपनी महिमा को नही जानते, वे अपने भक्त का द्रोह नही कर सकते और उनके घर में दीनता नही है ।

नहि सजोग बिजोग[2] प्रिय तिय सो निति मिलि जात ।
सुखदायक दुखदायककबु, बडी असभव बात ॥६६६॥

शब्दार्थ —सजोग—सयोग, बिजोग—वियोग ।

अर्थ —जिसे न सयोग प्रिय है और न वियोग—वह स्त्री नित्य ही मिल जाती है। वह सुखदायक है, पर कभी दुखदायी भी होती है। यह बडी ही असभव बात है ।

विशेष .—इस बहिर्लापिका का उत्तर है—निद्रा । वह न सयोग में आती है न वियोग में। सुखदायी तो होती ही है, पर कभी-कभी दुखदायी भी होती है। उदाहरणार्थ महाभिनिष्क्रमण के समय यशोधरा की निद्रा ।

मिलन न बिछुरन मीत के, अस नपुसक हैं अेक ।
ता बिन भल बिरला कहें, जड तन कहें अनेक ॥६६७॥

अर्थ —एक ऐसा नपुसक है जो अपने मित्र के मिलन तथा विछोह के समय उपस्थित नही रहता । कुछ लोग मानते हैं कि उसके बिना ही भला है जबकि अनेक लोग कहत हैं कि उसके अभाव में जन जड प्रतीत होता है ।

विशेष —(बाह्यलापिका) उत्तर = मान ।

कहे हरि दूती तूं भली, पें अति भल इक दूत ।
लिय बिन प्यारी ना फिरें, असी ऋति अद्भूत ॥६६८॥

अर्थ —श्रीकृष्ण दूती से कह रहे हैं कि हे दूती, तू भली है, पर तुझसे भी

---

१ जानें न हरि, २ वियोग, ३ नपुसन ।

ज्यादा भला एक दूत है। वह दूत प्रिया को लिये बिना लौटता ही नहीं, वह ऐसा अद्भुत है।

विशेष :—वाह्यलापिका (उत्तर) मन।

> अति तियतें इक नर भयो, अति नरतें इक नारि।
> नारी सेवत हरि मिलें, नर सेवत जमद्वारि[1] ॥६९९॥

शब्दार्थ :—अति तिय....भयो—अनेक स्त्रियों से एक पुरुष बना—अनेक चूड़ियों से चूडा (पु०) बना; अति नर....नार—अनेक (पु०) मनकों से (स्त्री०) माला बनी; नारी—स्त्री (२) माला; नर—पुरुष, मनका।

अर्थ :—अनेक नारियों से मिलकर एक पुरुष (चूडा) बना, अनेक पुरुषों (मनकों) से मिलकर एक नारी (माला) बनी। नारी के सेवन से हरि मिलते हैं और पुरुष (चूडा—स्त्री) के सेवन से यमद्वार।

> बिधि न रची, इक स्त्री अनुप, अद्भुत सब सिरमौर।
> राधा त्रिगुण त्रिया नहीं, उर बसि आदिक और ॥७००॥

शब्दार्थ :—त्रिगुण त्रिया—सावित्री, पार्वती, महालक्ष्मी।

अर्थ :—एक स्त्री है जिसे विधाता ने नहीं रचा, वह अनूप है, अद्भुत है और सब स्त्रियों की सिरमौर है। वह न राधा है और न महालक्ष्मी, सावित्री और पार्वती में से भी कोई नहीं है। वह उर्वशी आदि में से भी नहीं है। बताइये वह कौन है?

उत्तर :—मोहनी।

> जब समंध हरि काव्य सब, अति अद्भुत हु नकांम।
> आरकूट भूखन रुचिर, पें जिमि मिलें न दांम ॥७०१॥

शब्दार्थ :—आरकूट—पीतल।

अर्थ :—हरि सम्बन्ध के अभाव में अद्भुत काव्य भी व्यर्थ है। जैसे कि पीतल के आभूषण अत्यन्त सुन्दर होते हैं, पर उनके दाम नहीं उठते।

> दुर्ग, काव्य, कुसमांड, कुच, उच[2] कठोर त्यों सार।
> तन, मन, बानी, तुलसीदल, भल कोमल यह चार ॥७०२॥

---

१. जमदारि, २. उप।

शब्दार्थ :—दुर्ग—किला; कुसमाडु—कुम्हडा, कुष्माड; उख—ऊख, गन्ना।

अर्थ —दुर्ग, काव्य, कुष्माड, कुच और ऊख ये जितने कठोर हो उतने अच्छे। इसी प्रकार तन, मन, वाणी और तुलसीदल ये चार जितने कोमल हों उतने अच्छे।

बरन थोर अति अर्थ सह, अमल सरस सद होय।
कृपा भारती कृष्ण वह, काव्य न ग्रैसी कोय ॥७०३॥

शब्दार्थ :—वरन—वर्ण, अक्षर, थोर—थोडे, सह—सहित; सद—सद्य, जल्दी; भारती—वाणी।

अर्थ —थोडे वर्णों में अत्यधिक अर्थ व्यक्त करनेवाली दोषरहित सरस तथा तत्काल बननेवाली काव्यरचना ही श्रेष्ठ है और वह कृष्ण की कृपा से उपलब्ध होती है। अन्य कोई काव्यरचना ऐसी नहीं हो सकती।

उत्तम कबिकलिसे बरन, अधम कछुक आकार।
पै समान कहा आकफल, निरस सरस सहकार ॥७०४॥

शब्दार्थ :—सहकार—आम।

अर्थ :—उत्तम कवियो की कृति के से वर्ण और छन्द (आकार) अधम कवि बनाकर रख सकते हैं। किन्तु वे उत्तम कृति की समता कैसे कर सकते हैं? आक का फल सदैव नीरस और आम का फल सदा सरस होता है। आकार मे एक-सा होने के कारण आक-फल आम्र-फल की समता नहीं कर सकता।

और बरनहू सफल सब, जो संजोग घनस्याम।
ज्यो कसारि मुरारि अरु, मधुसूदन सुठिनाम[1] ॥७०५॥

शब्दार्थ :—कसारि—कस-अरि, मुरारि—मुर-अरि; मधुसूदन—मध-सूदन।

नोट :—कस, मुर और मध तीनो राक्षस थे। उनका वध करने के कारण ही भगवान के ये नाम पडे।

अर्थ :—घनश्याम से सम्बन्ध होने पर सभी वर्ण सफल हो जाते हैं, जैसे

---

१. ज्यों क सारी मुरारी अरु मधुसूदन सुठिनाम।

कि कंसारि, मुरारि, मधुसूदन आदि नाम कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण पवित्र हो गये हैं।

श्लोक पुरानो संस्कृत, बांचत सब इतराय।
फुल्य सुफल गिरवान जब, श्रोता लें समुझाय ॥७०६॥

शब्दार्थ :—इतराय—मन में मुदित होकर, अभिमान करके; गिरवान—संस्कृत।

अर्थ :—पुरानी संस्कृत के श्लोक बांचते हुए सब इतराते हैं, किन्तु इस पर इतराना तभी समुचित है जब वे इससे श्रोताओं को समझा भी लें।

विशेष :—संस्कृत भाषा जनसाधारण के लिए बोधगम्य नहीं है।

बुध कहि भाखा बाद जो, सुरबानी इक सांच।
तो हम कहिबे मूर्ख हैं, सांच न लावे श्राच ॥७०७॥

शब्दार्थ :—बुध—पंडित; बाद—मिथ्या, व्यर्थ; भाखा—हिन्दी (ब्रजभाषा जिसे दयाराम ने ग्वालियरी कहा है)।

अर्थ :—यदि पंडित भाषा के महत्त्व को न स्वीकार करें और यह कहें कि भाषा मिथ्या और सुरवाणी संस्कृत ही सत्य है तो हमारे विचार में वे मूर्ख हैं। सांच को आंच नहीं।

वेद बड़े गिरबानतें, नारायन की बानि।
ब्रजभाषा भल ताहितें, ब्रजपति भखि मुख आनि ॥७०८॥

शब्दार्थ : वेद—(वेदवाणी); गिरबान—गीर्वाण, संस्कृत।

अर्थ :—वेदभाषा देववाणी गीर्वाण गिरा संस्कृत से श्रेष्ठ है क्योंकि वह स्वयं नारायण की वाणी है, किन्तु ब्रजभाषा इस देववाणी से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि वेद नारायण की निद्रावस्था में उच्चरित हुए थे जब कि ब्रजभाषा का उच्चारण ब्रजपति ने जाग्रत अवस्था में जान-बूझ कर किया है।

विशेष :—दयाराम ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे। उन्होंने इस दोहे में ब्रजभाषा को संस्कृत और वेदवाणी से भी श्रेष्ठ बताया है। रसिक प्रिया की टीका में समरथ कवि के निम्नलिखित कथन से तुलना कीजिये :

सुरभाषा ते अधिक है, ब्रजभाषा को हेत।
ब्रजभूषण जाको सदा, भूषन सम करि लेत ॥

समर समर मन सरस छव, नटवर नगधर कृष्ण।
जस पयपय हर सिर धरत, अघहर भर सब अर्ण्ण ॥७०९॥

शब्दार्थ :—समर—स्मरण कर; नग—पर्वत; नगधर—गोवर्धनधारी; पदपय—चरणामृत।

अर्थ :—हे मन, तू उन नटवर, गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की सरस छवि का स्मरण कर, जिनके चरणामृत को महादेव अपने शीष पर धारण करते हैं और जो सब पापा का खंडन और सब कामनाओं की पूर्ति करनेवाले हैं।

काव्य चातुर्य एकाक्षर दोहा

नैनै नैनी नैन नै, नैना नान न नून।
नौ नाना नें नानु ना, नानन नुनु नून ॥७१०॥

शब्दार्थ :—नै नै—नई-नई, नैनी—नवयौवना, नैन—न नमनेवाली; नै—नमी, नमत किया; नैना—नेत्र; नान—अन्य पर नही; न नून—न्यून नही है, कमी नही है; नौ नाना नें—मै नाना प्रकार से नमन करती हूँ; नानु ना—ना न कर, नानन—अन्य के प्रति ना; नृ—मनुष्य (२) जल।

अवतरण —श्री राधिकाजी मान किये बैठी है, उनकी सखी उनसे कह रही है।

अर्थ :—हे राधिका, नई-नई नवयौवनाएँ जो कभी झुकती नहीं, वे भी श्रीकृष्ण के सामने झुक गई हैं। पर श्रीकृष्ण उनकी ओर आँख उठाकर देखते ही नहीं। क्योकि उनको दृष्टि तेरे सिवा अन्य किसी पर नही है। वैसे नवयौवनाओं की कमी नही है। मै नाना प्रकार से नमन करती हूँ कि तू 'ना नू' न कर अर्थात् इन्कार न कर। श्री कृष्ण ना कहते हैं, अन्य किसी (नृ०) पर आसक्त नही हैं। जिस (नृ०) पर वे आसक्त हो सकते हैं वह न्यून है अर्थात् केवल एक तू है। (अर्थ नर्मदाशंकर द्वारा संपादित दयाराम कृत काव्य संग्रह के आधार पर साभार।)

द्वयाक्षर दोहा

हरी हरी ही हरी ही, हरि हीरा ही हार[1]।
रहें राह हरि हर रहें, हरें हरें हूं हार ॥७११॥

१. हरि हरि हरि ही हार।

शब्दार्थ :—हरी—सोना (२) काम; ही—हिय, हृदय (२) निश्चयपूर्वक; हरी—हरकर, निकालकर, हरी-हरी—हरिरूपी हीरा; हर—महादेव; हरें हरें—हल्के-हल्के; हूँ—अहं; हार—हार जा।

अर्थ :—हे जीव, हृदय में से स्वर्ण और कामासक्ति को निकालकर निश्चयपूर्वक हरिरूपी हीरे का हार बना कर हृदय पर धारण कर। महादेव जिस प्रकार श्रीहरि के ध्यान में निमग्न रहते हैं, उसी तरह तू सदा रह। शनैः शनैः अहं-भाव से मुक्त हो जा।

प्रति अक्षरार्थ दोहा

श्री शं क र भं श्रा ग गो, भा त श्रे कु कं धी सु।
अ वि वै मा ण द धो म ह्री, सब नायक गोपीशु ॥७१२॥

शब्दार्थ :—श्री—शोभा, शं—सुख; क—ब्रह्मा, र—अचर ब्रह्म; भ—नक्षत्र; श्रा—सती; ग—गंगा, गो—वाणी; भा—कांति; त—तत्त्व, अर्थ; श्रे—कल्याण; कु—पृथ्वी, कं—सुख; धी—बुद्धि, सु—सुन्दर; अ—विष्णु; वि—ज्ञान; वै—निश्चय; मा—लक्ष्मी; ण—सिद्धि; द—दान; धो—स्वर्ग, म—माया; ह्री—लज्जा।

अर्थ :—श्री, सुख, ब्रह्मा, अचर ब्रह्म, नक्षत्र, सती, गंगा, वाणी, कांति, तत्त्व, श्रेय, पृथ्वी, सुख, बुद्धि, सौंदर्य, विष्णु, विज्ञान, लक्ष्मी, सिद्धि, दान, स्वर्ग, माया, लज्जा, इत्यादि सब के स्वामी गोपीश्वर हैं।

प्रति पदाक्षर दोहा

कं कं कं कं कं क कि, खं खं खं खं खाख।
गो गो गागे गाग गो[1], लली लाल लें लाल ॥७१३॥

शब्दार्थ :—कं—सुख (२) कंचन (३) स्वर्ग (४) काम (५) अग्नि, क—ब्रह्मा; कि—तथा, खं—शून्य (चारों बार एक ही अर्थ, शून्यवत्), खाख—राख, गो—वाणी (२) यश; गा—गान; गं—गति, गो—गोलोक, लली—राधिका; लाल—श्रीकृष्ण; लें—लय; लाल—रसमग्न।

अर्थ :—हे जीव, कंचन, स्वर्ग और काम का सुख अग्नि के समान जानो तथा ब्रह्मा का सुख भी किस काम का ? अर्थात् नाशवान है। ये चारों प्रकार के

१ गो गो गा गं गा ग गो।

सुख लाव के समान हैं। तू यशरूपी वाणी का गान कर जिससे गोलोक सबधी गति हो। राधा-कृष्ण से तेरी लौ लगे और तू उनके रग में रँग जाय।

प्रश्नोत्तर दोहा

मन न करें हरि रूपको, नमन करें हरि धाम।
कोक ग्यानि[1] प्रिय काम हैं, कोक रूची व्रख[2] धाम ॥७१४॥

शब्दार्थ —मन न कर—(१) इच्छा न करे (२) मनन करे, को—कौन, नमन—(१) प्रणाम (२) न+मन कर हरि—ईश्वर (२) स्वग (३) इन्द्र, हरिधाम—सत (२) स्वग, कोक—कोई (२) कोक-शास्त्र (३) चकवा व्रख—वृष (वैशाख मास)।

नोट —यह प्रश्नार्थ दोहा है। इसके प्रत्येक चरण में प्रश्न भी है और उन्हीं शब्दो में उत्तर भी निहित है।

अर्थ —किसका मन हरि रूप को देखना नहीं चाहता? जो काम एव स्वर्ग का मनन करता है। सतो को कौन प्रणाम करता है? जो स्वग की कामना नहीं करता वह। क्या किसी ज्ञानी को भी काम प्रिय है? हाँ, कोकशास्त्र के ज्ञानी को काम प्रिय है। क्या किसी की रुचि वृष-ताप में भी है? हाँ, चक्रवाक को वृष-ताप प्रिय है।

शासनोत्तर दोहा

सुत हरि हरअरि, सिखि न का, मन उड दुजपति कान।
करमलाप भव हरन को, ज्याप मेन ससि ग्यान[3] ॥७१५॥

शब्दार्थ —सुत-हरि=कामदव, हर-अरी—काम, सिखि—मयूर, मन—मैन, कामदेव उड—तारे, दुजपति—द्विज, ब्राह्मण, कान—कौन के अर्थ में प्रयुक्त, मैन—कामदेव।

नोट —इस दोहे में तीन प्रश्न देकर फिर क्रमश उनके उत्तर प्रस्तुत किये गये है।

अर्थ —श्रीकृष्ण का पुत्र कौन है? महादेव का शत्रु कौन है? मयूर के क्या नहीं है? उत्तर (मैन) काम। मन, नक्षत्र और द्विज का पति कौन है?

---

१ ज्ञानि, २ व्रष, ३ शशि ज्ञान।

उत्तर; शशि। कर्म, ताप और संसार (भवबंधना) को हरनेवाला कौन है? उत्तर: ज्ञान।

बिष्णु बरनको सकल प्रिय, सदजन कहा अहीत।
हरि न हृदे क्यों ज्वाप ँ, क्यों भयों असुचीत ॥७१६॥

शब्दार्थ :—विष्णु वरन—आदि वर्ण (अ); असु—प्रान; असुची—अशुचि, अपवित्रता; असुचीत—अपवित्रता; ज्वाप—जवाब; दयो—दयाराम।

अर्थ :—विष्णु-रूप वर्ण कौन-सा है? सबको प्रिय क्या है? सज्जन को अहितकर (अप्रिय) क्या है? श्रीहरि हृदय में क्यो नही आते? इन सब का उत्तर, दयाराम कहते हैं 'असुचित्त' में निहित है।

विशेष :—असुचित्त : प्रथम प्रश्न का उत्तर 'अ' है। द्वितीय का 'असु', तृतीय का 'असुचि' और चतुर्थ का 'असुचित्त'। अंतिम शब्द में एक-एक अक्षर बढ़ते हुए सब उत्तर आ गया है।

नोका हरिप्रिय, जन जिवन, कहा मिष्ट, बल साप।
को कबंध सुनि प्रष्णसब, रस दें दयो जवाप ॥७१७॥

शब्दार्थ :—नो—नौ; रस—भाव, प्रेम, जल, अमृत, विष।

अर्थ :—नौ क्या है? हरि को क्या प्रिय है? जन का जीवन क्या है? सबसे मीठा क्या है? सर्प का बल क्या है? इन सब प्रश्नो को एक साथ सुन कर उनका उत्तर दयाराम ने एक "रस" शब्द में दे दिया।

विशेष :—रस नौ होते हैं; हरि को प्रिय प्रेम-रस है; जनजीवन मेघ रस (जल) है; सबसे मीठा अमृतरस है, सर्प का बल विष है।

गतागत बरनन दोहा

सरस जलज कन नकसुमा, वल्लवजा सोसो न।
न सिन नविन भा कालि का, जोहि न वे सो सो न ॥७१८॥

शब्दार्थ :—जलज—जल से उत्पन्न, मोती; मा—रुक्मणी; वल्लवजा—(वल्लभ—गोप) वृषभानुजा; भा—आभा।

अवतरण :—श्रीकृष्ण के साथ रुक्मणी जी और राधिका जी को बैठा देखकर एक अनजान सखी दूसरी सखी से पूछती है कि राधिका जी कौन सी हैं? सखी उत्तर देती है—

: अर्थ :—नाक में सुन्दर मोती का कण धारण करनेवाली माँ स्वामिनी रुक्मणी हैं। वे राधिका नहीं है। तो क्या कल जिनकी नवीन-नवीन आभा दिखाई देती थी यह वे नहीं है ? नही, ये वे नही हैं।

चित्रकाव्य

(कपाट बंध, गोमूत्र गति, अश्व गति और त्रिपदी)

रामनामपें प्रेम तो, भई भली सब जानि।
काम दाम पें प्रेम तो, गई फली जब मानि ॥७१९॥

शब्दार्थ :—दाम—पैसा।

अर्थ :—रामनाम पर प्रेम है तो फिर जो हुआ है उसे ही उत्तम समझो। यदि काम और दाम पर प्रेम है तो सब बना-बनाया काम व्यर्थ गया समझो।

कपाट बंध

गोमूत्र गति

रा	ना	पे	म	भ	भ	स	जा
म	म	प्रे	तो	ई	ली	ब	नि
का	दा	पे	म	ग	फ	ज	मा

त्रिपदी

रा १	म १८	ना ३	म 20	पे ४	प्रे २	म ७	तो २४
भ ५	ई २६	भ ११	ली २८	स १३	ब 30	जा १५	नि ३२
का १७	म २	दा १९	म ४	पे २१	प्रे ६	म २३	तो ८
ग २५	ई 10	फ २७	ली १२	स २९	ब १४	जा ३१	नि १६

अश्वगति (शतरज अनुसार)

चित्रकाव्य

(धनुपबध, कमलबध, हारबध)

राम नाम भ्रम[1] धाम द्रुम, क्षेम प्रेम सिम स्याम ।
सोम धाम तम ग्राम भ्रम, होमकाम भ्रम वाम ॥७२०॥
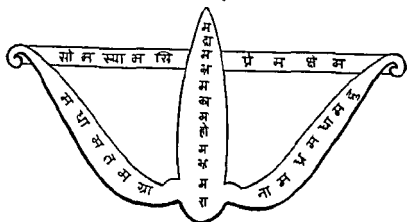
धनुष बध

हस्तलिखित मूलप्रति में दोहा नं० ७१९ तथा ७२० के चित्रकाव्य

हस्तलिखित मूल प्रति के अंतिम पृष्ठ की फोटोस्टेट कॉपी

हार बंध

शब्दार्थ :—द्रुम—वृक्ष, कल्पवृक्ष; सिम—सीम, सीमा; ध्राम—निम्न; होम—जला डाल।

अर्थ :—रामनाम धर्म का धाम है। श्याम क्षेत्र और प्रेम की पराकाष्ठा हैं; कल्प वृक्ष हैं, निम्नकोटि के तमरूपी भ्रम को दूर करने में वे सोम-धाम हैं; अतः हे मनुष्य तू काम और दाम के भ्रम को होम दे।

चित्रकाव्य

(छत्र अथवा मेरुबध)

सवैया—मत्तगयद छद

लाभ सवाद (।) सबै जससेवत, श्रीवर पूरन सोल कला ।
दाम न काम प्रयास कछू रसना जस गात सुसिद्ध फला ।।
धन्य सुभाग् कहैंत वयो जु सिरोमनि मानत नवलला ।
लाभ सदा सरदार धनो, सु सुनी, धर दार[2] सदा समला ।।७२१।।
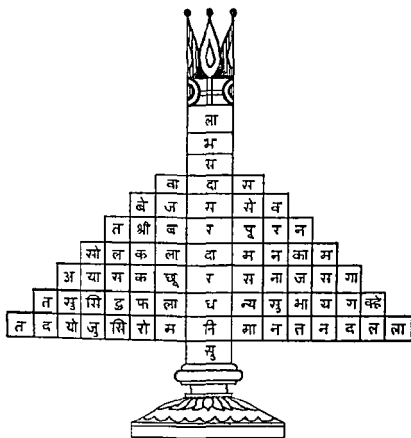
छत्र अथवा मेरुबध

शब्दार्थ —सवाद—स्वाद, आनन्द, प्रयास—श्रम, दार—द्वार।

अर्थ :—लाभ और आनन्द के लिए सभी सोलह कलापूर्ण श्रीवर कृष्ण के यश का सेवन करते हैं। न उसमें दाम की आवश्यकता है, न श्रम होता है। जो रसना यशगान करती है वह सिद्धि एवं फल प्राप्त करती है। दयाराम कहते हैं कि जो नन्दलाल को शिरोमणि मानते हैं उनके सौभाग्य को धन्य है। इसलिए हे भले भक्त, सुन, ऐसे सरदार धनी के आश्रम में रहने में लाभ ही लाभ है, अत उनकी भक्ति (को घर-द्वार पर रख कर उस) का सेवन कर।

कवि-परिचय

अति शुभ गुर्जर देश मधि, दछन प्रयाग रुचीर।
महा सरित श्री नर्मदा, अति सुठि[3] उत्तर तीर ॥७२२॥

अर्थ —अति शुभ गुर्जर देश के मध्य सुन्दर दक्षिण प्रयाग है, वहाँ अति पवित्र नर्मदा नदी है जिसका उत्तर तट अत्यंत पवित्र है।

निकट निपट व्हा चडिपुरि, विप्रनको सुठि[1] धाम।
जिहाँ राजतहे सदा श्री, शेषसाई[2] भगवान ॥७२३॥

अर्थ —वहाँ अत्यत निकट चडीपुर है जो विप्रो का पवित्र स्थान है और वही श्री शेषशायी भगवान (शोभा पात) हैं।

सो पुरिमध्य निवास कवि, दयाराम हरिदास।
जाति विप्र साठोदरा, नागर न्याति प्रकास ॥७२४॥

अर्थ :—उसी गाँव के बीच भगवद् भक्त कवि दयाराम का निवास है। उसकी जाति साठोदरा नागर ब्राह्मण है।

धर्म सु वैष्नो बल्लभी श्री गुरुदेव प्रताप।
किये सातसौं दोहरा, कृष्ण समध अलाप ॥७२५॥

अर्थ —उसका शुभ धर्म वैष्णव धर्म और सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय है। उसने गुरु-प्रताप से सात सौ दोहे रचे हैं। ये सभी दोहे कृष्ण के गुणगान से सबंधित हैं।

---

१ शुचि, २ शेष शायी।

सक अष्टादश द्रुहतरा, शुभ्र पच्छ नभमास।
मिति श्री राधाअष्टमी, बार गुरु शुभ रास ॥७२६॥

शब्दार्थ :—अष्टादस दुहतरा—अठारह सौ बहत्तर; शुभ्र पच्छ—शुक्लपच; नभ मास—भाद्रपद मास में।

अर्थ :—संवत् १८७२ के भाद्रपद के शुक्लपच की राधा अष्टमी गुरुवार को शुभ राशि (में यह ग्रंथ संपूर्ण हुआ)।

तादिन संपूरन भयो, सतसैया शुभ ग्रंथ।
पढें सुनें सीखें सुमति, लभ्य कृष्णपद पंथ ॥७२७॥

अर्थ :—(उपर्युक्त तिथि को) यह शुभ ग्रथ 'सतसैया' सपूर्ण हुआ। इसे जो पढे, सुने या सीखेगा उसे सुमति तथा कृष्ण-पद-पंथ की प्राप्ति होगी।

पुरुषोत्तम गोपीश श्री. कृष्ण मनोहर रूप।
तद प्रीत्यर्थ सुग्रंथ यह, नहिं रिझवत को भूप ॥७२८॥

अर्थ :—मनोहर रूप वाले पुरुषोत्तम, गोपीश, श्री कृष्ण की प्रीति के लिए मैंने इस ग्रंथ की रचना की है, किसी राजा को रिझाने के लिए नही।

विशेष :—इस दोहे से *अनुमान लगाया जा सकता है कि दयाराम संभवतः* राजा को रिझाने के लिए लिखी गई बिहारी सतसई से परिचित थे।

ज्ञान भक्ति सुविवेक युत, प्रेमादिक प्रस्ताव।
पूर्व ग्रथ सम्मत ललित, नागरता हरि भाव ॥७२९॥

शब्दार्थ :—ललित—सौन्दर्य, नागरता—चातुर्य्य; हरिभाव—भक्ति।

अर्थ :—इस ग्रंथ की रचना ज्ञान, भक्ति, सुविवेक, प्रेम, प्रस्ताव, सौन्दर्य, चातुर्य्य, भगवद् भक्ति तथा शास्त्रसम्मत है।

पिगल पद्धति देखिके, रचना रची[१] अदोष।
तदपि होय कछु समझियो, हरि गुन जिन धरि रोष[२] ॥७३०॥

अर्थ :—पिंगल पद्धति को ध्यान मे रख कर, मैंने यह दोष-रहित रचना की है। फिर भी यदि कोई दोष दिखाई दे तो क्रोध न करके हरि का गुणगान समझकर संतोष कीजिए।

---

१. रचित, २. हरिगुन जिन तजि रोष।

दयासतसिया ग्रंथ यह, विरचित पर उपकार।
सब सज्जन दूषन तजी, ग्रहन कीजियों सार ॥७३१॥

अर्थ —मैंने यह सतसैया-ग्रंथ परोपकार का ध्यान रख कर रचा है इसलिए सब सज्जनों से प्रार्थना है कि वे इसकी त्रुटियों को तजकर सार को ही ग्रहण करें।

यथा मती यह ग्रंथकों कीनों अर्थ प्रकास।
वेष्णों वल्लभदासनें करुना बल अविनास ॥१॥

कवि अनुकंपा रामकन, टिका दास रनछोड।
कथि सुनि, पठि यह ग्रंथ तिहिं मति यति गिरिधार ओर ॥२॥
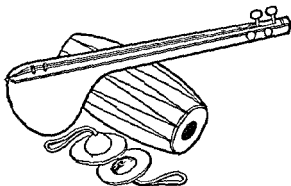
॥ समाप्त ॥

परिशिष्ट

दयाराम सतसई

दोहो की अकारादि क्रम-सूची

धन्य कार्य

मुझे यह देखकर बडा सतोष है कि मध्यकालीन गुजराती साहित्य के सर्वोच्च ज्योतिर्धर भक्तकवि दयाराम की ब्रजभाषा की विपुल रचनाओ मे से उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना सतसई का सपादन गुजरात यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर डॉ० अम्बाशकर जी नागर जैसे हिन्दी साहित्य के गण्य कोटि के विद्वान ने किया।

गुजराती रचनाएँ प्राय. प्रबन्धात्मक मिलती हैं, पर दयाराम की वैसी रचनाएं इतनी मधुर नही हैं, गुजराती रचनाओ में उनकी सर्वोच्च कोटि की रचनाएँ तो उनकी गरबियाँ हैं, जो समग्र भारतीय साहित्य मे अपनी विशिष्टता रखती हैं, किंतु "सतसैया" के पठन से कोई और ही मधुरिमा अनुभव में आती है, हिन्दी साहित्य के रीतिकाल की ब्रजभाषा की यह रचना हिन्दी साहित्य का भूषण रूप बन रही है। यह बात गुजरात के लिए कितनी गौरवदायिनी है, आनन्द की बात तो यह है कि कृति गुजरात को जितना गौरव देती है उससे ज्यादा हिन्दी जगत् को दे रही है।

डॉ० नागर जी का इस कृति की ओर आकर्पण भी कितना सार्थक है यह इस कृति के पठन से ही मालूम होगा, उन्होंने दयाराम के हस्ताक्षरो की पाण्डुलिपि के पाठ को आधार मानकर दयाराम की वर्तनी को भी यथास्थित रखने का प्रयत्न किया। मैं समझता हूँ इस सपादन-पद्धति का प्राथम्य डॉ० नागर जी से हो रहा है, यह अनुसधान करने वाले विद्वानो को दृष्टांत रूप होगा। भाषा के क्रमिक अभ्यास के लिए यही पद्धति आदरास्पद है यह सुज्ञात बात है। डॉ० नागर जी का, सतसैया की स्वतन्त्र टीका लिखने का प्रयत्न, इस काव्य के सपादन से भी अधिक समादरणीय बन रहा है, सतसैया के स्वारस्य को समझने के लिए यह प्रयत्न बडा उपकारक है। अधिक क्या लिखूँ ? डॉ० नागर जी को जितना धन्यवाद दूँ उतना कम है।

केशवराम का० शास्त्री
डायरेक्टर,
गुजराती रिसर्च इन्सटीट्यूट

अहमदाबाद
२६-३-६७